

फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?

अभिनव सिन्हा



फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?

ये दस्तावेज राहुल फाउण्डेशन द्वारा प्रकाशित किया गया है व प्रगतिशील साहित्य के वितरक जनचेतना द्वारा कम से कम दामों में जनता तक पहुँचाया जा रहा है। अगर आप पीडीएफ की बजाय प्रिण्ट कॉपी से पढ़ना चाहते हैं तो जनचेतना से सम्पर्क कर सकते हैं या फिर अमेजन से खरीद सकते हैं।

अमेजन लिंक : <https://www.amazon.in/dp/9380303173>

जनचेतना सम्पर्क : D-68, Niralanagar, Lucknow-226020

0522-4108495; 09721481546

janchetna.books@gmail.com

Website - <http://janchetnabooks.org>

इस पीडीएफ फाइल के अंत में जनचेतना द्वारा वितरित किये जा रहे प्रगतिशील, मानवतावादी व क्रान्तिकारी साहित्य की सूची भी दी गयी है।

हर दिन प्रगतिशील, मानवतावादी साहित्य पाने के लिए

- सुबह-सुबह प्रगतिशील कविताएं, कहानियां, उपन्यास, गीत-संगीत
- देश के महान क्रांतिकारियों भगतसिंह, राहुल, गणेश शंकर विद्यार्थी आदि का साहित्य पीडीएफ में
- देश-दुनिया की हर महत्वपूर्ण घटना पर मजदूर वर्गीय दृष्टिकोण से लेख
- हर रविवार किसी महत्वपूर्ण पुस्तक की पीडीएफ



मजदूर बिगुल व्हाटसएप्प चैनल से जुड़ने
के लिए इस लिंक का इस्तेमाल करें

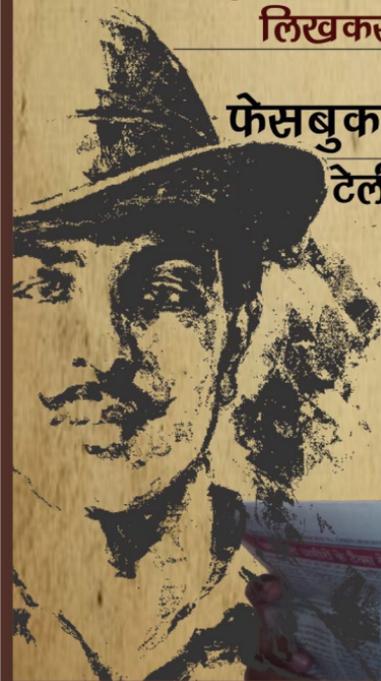
www.mazdoorbigul.net/whatsapp

जुड़ने में समस्या आने पर अपना नाम और जिला
लिखकर इस नम्बर पर भेज दें - 9892808704

वैकल्पिक नम्बर : 9619039793

फेसबुक पेज : fb.com/unitingworkingclass

टेलीग्राम चैनल : www.t.me/mazdoorbigul



बिगुल पुस्तिका-16

फ़्रासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?

अभिनव



राहुल फ़ाउण्डेशन
लखनऊ

ISBN 978-93-80303-17-8

मूल्य : रु. 100.00

पहला संस्करण : जनवरी 2010

तीसरा संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण : जनवरी 2020

प्रकाशक : राहुल फ़ाउण्डेशन

69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज,
लखनऊ-226 006

आवरण : रामबाबू

टाइपसेटिंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन

मुद्रक : विकास कम्प्यूटर्स ऐण्ड प्रिण्टर्स, ई-33, सेक्टर ए 5/6,
ट्रॉनिका सिटी, गाज़ियाबाद द्वारा मुद्रित

मुख्य वितरक : जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ 226020

फ़ोन : 0522-4108495, ईमेल : janchetna.books@gmail.com

वेबसाइट : janchetnabooks.org

Fasivaad Kya Hai Aur isse Kaise laren? by *Abhinav*

अनुक्रम

प्रकाशकीय	5
दूसरे संशोधित संस्करण की भूमिका	7
फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?	11
पश्चलेख	79
उन समझदारों के लिए सबक जो हमेशा हाशिये पर पड़े रहना चाहते हैं	139

प्रकाशकीय

भारत के संसदीय चुनावों में धुर दक्षिणपन्थी शक्तियों की हार और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की राजनीतिक शाखा भारतीय जनता पार्टी के भीतर मची उठा-पटक से बहुत से लोगों को यह भ्रम हो सकता है कि भारत में फ़्रासीवाद के उभार का खतरा अब कम हो चला है। लेकिन यह खुशफ़हमी खतरनाक होगी।

सच तो यह है कि फ़्रासीवाद के दो पूर्वाधारों में से पहला आज एक बार फिर अधिक उन्नत, अधिक सर्वग्रासी तथा अधिक संश्लिष्ट रूप में उपस्थित है। आवर्ती चक्रीय क्रम में आने वाला विश्व पूँजीवाद का संकट आज लगातार मौजूद रहने वाले ढाँचागत संकट में तब्दील हो चुका है। भूमण्डलीकरण के नये साम्राज्यवादी दौर में पूँजी अतिलाभ निचोड़ने की प्रक्रिया में मेहनतकश आबादी को कंगाली और बेरोज़गारी का शिकार बना रही है और इस प्रक्रिया में पुनः अपने पहले से ही मौजूद संकट को और अधिक गहरा बनाती जा रही है। ऐसी स्थिति में, परिस्थितियाँ अलग-अलग रूपों में पश्चिमी यूरोप से लेकर पूर्वी यूरोप के देशों तथा रूस और एशिया-अफ़्रीका-लातिनी अमेरिका के बहुतेरे देशों में फ़्रासीवादी ताक़तों को खाद-पानी दे रही हैं और बड़े पूँजीपति वर्ग पर भी यह दबाव डाल रही हैं कि वे फ़्रासीवाद का इस्तेमाल करने के बारे में सोचें या फिर मुख्यधारा की पूँजीवादी पार्टियों को सीमित पैमाने पर फ़्रासीवादी तौर-तरीके अपनाने के लिए तैयार करें।

फ़्रासीवाद के उद्भव और विस्तार का दूसरा कारक तत्व – सर्वहारा वर्ग का क्रान्तिकारी आन्दोलन – हालाँकि आज लगभग अनुपस्थित और बिखराव का शिकार है, लेकिन भूमण्डलीकरण की नीतियाँ मेहनतकश वर्गों के विस्फोटों-उभारों की ज़मीन लगातार तैयार कर रही हैं, और यहाँ-वहाँ ऐसे विस्फोट शुरु भी हो चुके हैं। पूँजीपति वर्ग इसके प्रति लगातार सचेत है और ज़ंजीर से बँधे शिकारी कुत्ते की तरह वह फ़्रासीवाद को मज़दूर वर्ग और व्यापक जनता के खिलाफ़ तैनात रखना चाहता है। इसीलिए, फ़्रासीवाद के विरुद्ध लड़ाई में निश्चिन्तता का शिकार हो जाना

और इसके विरुद्ध वैचारिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक प्रत्याक्रमण में ढिलाई बरतना आत्मघाती होगा।

प्रस्तुत पुस्तिका फ़्रासीवाद के उभार के इतिहास के सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक कारणों के विश्लेषण के साथ ही जर्मनी और इटली में फ़्रासीवाद के उभार और कार्यप्रणाली की चर्चा करती है तथा उनकी विशिष्टताओं के बारे में बताती है। यह भारत में फ़्रासीवादी शक्तियों की जन्मकुण्डली का ब्योरा देते हुए यहाँ फ़्रासीवाद की विशिष्टताओं के बारे में बताती है तथा इससे लड़ने की रणनीति और क्रान्तिकारी शक्तियों के कार्यभारों की भी चर्चा करती है।

यह निबन्ध मज़दूर अखबार 'नयी समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल' में जून 2009 से दिसम्बर 2009 के बीच छह किशतों में प्रकाशित हुआ था। हमें विश्वास है कि यह पुस्तिका भारत में फ़्रासीवाद की चुनौती को समझने और उससे लड़ने की तैयारी में काफ़ी मददगार साबित होगी।

— राहुल फ़ाउण्डेशन

1.1.2010

दूसरे संशोधित संस्करण की भूमिका

यह पुस्तिका मूलतः 2009 में संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन की लगातार दूसरी चुनावी जीत के बाद एक लेख श्रृंखला के रूप में 'नयी समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल' में छह किशतों में प्रकाशित हुई थी। उस समय संशोधनवादियों और उदारपन्थी बुर्जुआ पार्टियों समेत बुद्धिजीवियों तक में यह उल्लासपूर्ण कोलाहल मच गया था कि संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन की लगातार दूसरी जीत फ़ासीवादी भाजपा और संघ परिवार और इस तरह फ़ासीवाद की निर्णायक हार है। हमने उस समय इस बात पर बल दिया था कि भाजपा की चुनावी हार को फ़ासीवाद की निर्णायक हार मानना एक प्राणान्तक भूल है। यह भूल यही प्रदर्शित कर रही है कि क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट दायरों और साथ ही संशोधनवादी वामपन्थी दायरों में फ़ासीवाद की समूची परिघटना और विशेष तौर पर इसकी भारतीय क्रिस्म के बारे में समझदारी की गम्भीर कमी है। मई 2014 में नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में भाजपा की ज़बरदस्त जीत के बाद यह बात स्पष्ट हो गयी है कि फ़ासीवाद उत्तरवर्ती पूँजीवादी समाज के सड़ते-गलते ढाँचे की स्थायी परिघटना है।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के दौर में आने वाले पूँजीवादी संकट और 1970 के दशक के बाद आने वाले पूँजीवादी संकटों के चरित्र में भी बुनियादी परिवर्तन आये हैं। अब पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मन्दी और तेज़ी के बारी-बारी से आने वाले क्रमों की साक्षी नहीं बनती। अब मन्दी विश्व पूँजीवादी व्यवस्था की एक स्थायी चारित्रिक आभिलाक्षणिकता बन चुकी है। पूँजीवादी मन्दी के उपोत्पाद के रूप में पैदा होने वाले एक प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन के रूप में फ़ासीवादी आन्दोलन भी आज उत्तरवर्ती पूँजीवादी समाज की एक स्थायी परिघटना बन चुकी है। मन्दी और फ़ासीवाद, दोनों के ही प्रकट होने में जो आकस्मिकता का तत्व था वह आज समाप्त होने की ओर बढ़ रहा है। बजाय इन परिवर्तनों को समझने के, तमाम वामपन्थी बुद्धिजीवी या तो 'डिनायल मोड' में चले

गये हैं और मौजूदा फ़्रासीवादी उभार को देखने से ही इंकार कर रहे हैं, या फिर वे इसे कोई और नाम देने पर आमादा हैं। पहले क्रिस्म के लोगों का यह दावा है कि भारत में जर्मनी या इटली जैसा “क्लासिकीय” फ़्रासीवादी उभार सम्भव ही नहीं है क्योंकि भारत में जाति व्यवस्था की परिघटना इसके रास्ते में एक गम्भीर बाधा है; कुछ लोगों का यह भी कहना है कि भारत एक बहुराष्ट्रीय, बहुभाषी, बहुजातीय देश है और इसलिए यहाँ जर्मन या इतालवी क्रिस्म का फ़्रासीवादी उभार सम्भव नहीं है। पहली क्रिस्म के ये लोग न तो यह समझते हैं कि जर्मनी और इटली में फ़्रासीवादी उभार की आभिलाक्षणिकताओं में कई गुणात्मक अन्तर थे और न ही वे यह समझते हैं कि इन दोनों देशों में भी क्षेत्रीय, भाषाई, जातीय वैविध्य की कमी नहीं थी, हालाँकि वह भारत जितना नहीं था। ऐसे लोग यह भी नहीं समझ पाते हैं कि यह उम्मीद करना व्यर्थ है कि जर्मनी और इटली में घटित हुई फ़्रासीवादी परिघटना दुहरायी जायेगी। ऐसे लोग सादृश्य निरूपण करते हुए कहते हैं कि यहाँ यातना शिविर नहीं हैं, यहूदियों के समान मुसलमानों का उस प्रकार का जातीय सफ़ाया नहीं किया जा रहा है, वगैरह। इसलिए नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में भाजपा का उभार फ़्रासीवादी उभार नहीं कहा जा सकता और यह नहीं कहा जा सकता कि भारत में फ़्रासीवाद आ गया है। यह एक अनैतिहासिक दृष्टिकोण है जो यह नहीं समझता कि प्रगतिशील ताक़तों के ही समान प्रतिक्रियावादी ताक़तों भी इतिहास से सबक़ लेती हैं; क्रान्तिकारी विचारधारा व राजनीति के ही समान फ़्रासीवादी विचारधारा और राजनीति भी ‘रिडेम्प्टिव एक्टिविटी’ करती है। इतिहास अपने आपको दुहराता नहीं है।

दूसरे क्रिस्म के नववामपन्थी बुद्धिजीवी मौजूदा फ़्रासीवादी उभार को फ़्रासीवादी बोलने से घबराते हैं और कोई नयी कौड़ी ढूँढ़कर लाने के प्रयास में इसे ‘नवउदारवादी पूँजी की तानाशाही’ करार दे रहे हैं। यदि ऐसा है तो मनमोहन सिंह की सरकार के शासन को क्या कहा जायेगा? क्या वह नवउदारवादी पूँजी की तानाशाही नहीं था? अगर था तो फिर मनमोहन सिंह की सरकार के दौर से अब के दौर में फ़र्क़ क्या है? जाहिर है, इस प्रकार से नववामपन्थी सूत्रीकरण थोड़ा आगे बढ़ते ही असमाधेय अन्तरविरोधों के गड्ढे में जा गिरते हैं।

इन भ्रामक अवधारणों और सूत्रीकरणों के मद्देनज़र यह और भी ज़रूरी हो गया है कि आज के फ़्रासीवादी उभार को उसी ऐतिहासिकता और विशिष्टता में समझा जाये और सूत्रबद्ध किया जाये। इक्कीसवीं सदी के उत्तरवर्ती पूँजीवाद के दौर में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की कार्यपद्धति और चरित्र में आये महत्वपूर्ण परिवर्तनों को समझते हुए आज के दौर के फ़्रासीवादी आन्दोलनों के चरित्र की मार्क्सवादी-

लेनिनवादी पड़ताल करने की ज़रूरत आज पहले से कहीं ज़्यादा है।

ऐसे में, फ़ासीवादी उभार के प्रतिरोध और सर्वहारा क्रान्ति की रणनीतियों पर भी पुनर्विचार करने की आवश्यकता है। हम बीसवीं सदी के अनुभवों के आधार पर ही फ़ासीवाद-विरोधी मज़दूर आन्दोलन की रणनीतियाँ नहीं बना सकते। हमें नये का अनुसन्धान करना होगा और साथ ही निरन्तरता के तत्त्वों की भी सटीक पहचान करनी होगी।

इन्हीं चिन्ताओं को ध्यान में रखकर हमने जुलाई 2015 में इस पुस्तिका का एक पश्चलेख लिखा है और अब हम इस पुस्तिका को उस पश्चलेख के साथ प्रकाशित कर रहे हैं। साथ ही भारत में फ़ासीवादी उभार पर चली एक बहस हम परिशिष्ट में दे रहे हैं, जिसमें कि फ़ासीवादी उभार की एक उदार बुर्जुआ और निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवादी वाम व्याख्या की हमने एक आलोचना पेश की है। यह पश्चलेख व साथ ही परिशिष्ट में पेश लेख कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के समक्ष चर्चा व बहस के लिए एक प्रस्ताव है। लेकिन यह अपने आप में फ़ासीवाद के समूचे इतिहास, सिद्धान्त और व्यवहार और प्रतिरोध की रणनीति व आम रणकौशल पर अन्तिम शब्द पेश करने का दावा नहीं है। यह नुक्तों में पेश किये गये कुछ प्रेक्षण, आलोचनात्मक टिप्पणियाँ और कुछ प्रस्ताव हैं। हम उम्मीद करते हैं कि यह क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन व कम्युनिस्ट आन्दोलन में मौजूदा फ़ासीवादी उभार और उसके प्रतिरोध की रणनीतियों पर विचार-विमर्श, प्रयोग और अमल का एक प्रस्थान बिन्दु बनेगा।

– अभिनव

15 अप्रैल, 2016

फ़्रासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?

वर्ष 2009 के आम चुनावों में संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन की विजय के साथ ही बुद्धिजीवियों, सामाजिक जनवादियों और यहाँ तक कि क्रान्तिकारियों का एक हिस्सा इस बात को लेकर बेहद खुश है कि भारतीय जनता पार्टी के रूप में साम्प्रदायिक फ़्रासीवाद की पराजय हुई है और फ़्रासीवादी खतरा टल गया है। चुनावों के ठीक पहले कई सर्वेक्षण इस बात की ओर इशारा कर रहे थे कि चुनावी नतीजे चौंकाने वाले हो सकते हैं और आडवाणी के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन को भी विजय हासिल हो सकती है, या कम-से-कम उसे संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन के बराबर या उन्नीस-बीस के फ़र्क से थोड़ी ज़्यादा या थोड़ी कम सीटें मिल सकती हैं। चुनाव के नतीजों ने इस बात को ग़लत साबित किया और कांग्रेस के नेतृत्व में संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन को विजय प्राप्त हुई। चुनावी नतीजों के हिसाब से चला जाये तो भाजपा को भारी नुक़सान उठाना पड़ा है और पराजय के बाद भाजपा में टूट-फूट, बिखराव और आन्तरिक कलह का एक दौर शुरू हो गया है। भाजपा के शीर्ष विचारकों में से एक सुधीन्द्र कुलकर्णी ने हार का ठीकरा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की रणनीति पर फ़ोड़ते हुए काफ़ी हंगामा खड़ा कर दिया। जसवन्त सिंह ने कहा है कि चुनाव में पराजय के कारणों पर भाजपा में खुली बहस होनी चाहिए। भाजपा नेताओं का एक बड़ा हिस्सा भाजपा अध्यक्ष राजनाथ सिंह को काफ़ी खरी-खोटी सुना रहा है और राजनाथ सिंह की स्थिति काफ़ी दयनीय हो गयी है।

इस सारे घटनाक्रम को देखकर निश्चित तौर पर सन्तोष और खुशी का अनुभव होता है। लेकिन क्या इन चुनावी नतीजों और उसके बाद भाजपा में मची उठा-पटक को देखकर यह कहना उचित है कि फ़्रासीवाद भारत में उतार पर है? क्या यह नतीजा निकालना सही है कि भाजपा की पराजय भारत में फ़्रासीवाद की पराजय है? इस

प्रश्न का जवाब देने के लिए हमें यह समझना होगा कि फ्रासीवाद आखिर है क्या? इसका इतिहास क्या है? यह कैसे पैदा हुआ? विभिन्न देशों में इसने क्या-क्या रूप ग्रहण किये? इन प्रश्नों के जवाब देने के बाद ही हम यह तय करने की स्थिति में होंगे कि भारत में फ्रासीवाद की “नियति” क्या है।

इससे पहले कि हम फ्रासीवाद के इतिहास और उसके अर्थ पर जायें, कुछ और मुद्दों पर एक शुरुआती चर्चा करना ज़रूरी है। इस चर्चा के बाद हम फ्रासीवाद के विभिन्न पहलुओं को समझने के लिए एक बेहतर स्थिति में होंगे। यह चर्चा पूँजीवाद की प्रकृति, उसके स्वाभाविक संकट और उसकी सम्भावित परिणतियों पर है।

पूँजीवाद की स्वाभाविक परिणतियाँ

पूँजीवादी व्यवस्था किस प्रकार अपनी स्वाभाविक गति से संकट की ओर जाती है?

हम एक पूँजीवादी व्यवस्था और समाज में जी रहे हैं। इसकी चारित्रिक विशेषताएँ क्या हैं? यह निजी मालिकाने पर आधारित एक व्यवस्था है जिसके केन्द्र में निजी मालिक का मुनाफ़ा है। निजी मालिकों का पूरा वर्ग आपस में प्रतिस्पर्द्धा करता है और इस प्रतिस्पर्द्धा का मैदान होता है पूँजीवादी बाज़ार। पूँजीवादी उत्पादन में समाज के विभिन्न वर्गों की आवश्यकताओं का कोई विस्तृत मूल्यांकन और अनुमान नहीं लगाया जाता है। बाज़ार में माँग के परिमाण के एक मोटा-मोटी मूल्यांकन के आधार पर पूँजीपति यह तय करता है कि उसे क्या पैदा करना है और कितना पैदा करना है। लेकिन यह मूल्यांकन पूरा पूँजीपति वर्ग मिलकर नहीं करता है बल्कि अलग-अलग निजी पूँजीपति करते हैं और इसके आधार पर वे प्रतिस्पर्द्धा करने बाज़ार में उतरते हैं। इसलिए पूरे समाज में होने वाला उत्पादन योजनाबद्ध तरीके से नहीं होता है बल्कि अराजक तरीके से होता है। बाज़ार द्वारा बतायी जाने वाली माँग और आपूर्ति की स्थितियों के अनुसार हर पूँजीपति उत्पादन-सम्बन्धी निर्णय लेता है। बाज़ार में कई सेक्टर मौजूद होते हैं। इन सभी सेक्टरों को मोटे तौर पर दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है – उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन और उत्पादन के साधनों का उत्पादन। उपभोग की वस्तुओं में आदमी की रोज़मर्रा के जीवन की आवश्यकताओं की विभिन्न वस्तुएँ होती हैं, मिसाल के तौर पर, खाने, पहनने के सामान, फ़्रिज-टीवी-वाहनों आदि जैसी उपभोक्ता सामग्रियाँ, मनोरंजन के सामान, आदि। हालाँकि, उपभोक्ता सामग्रियों को भी दो हिस्सों (टिकाऊ उपभोक्ता सामग्रियाँ और गैर-टिकाऊ उपभोक्ता सामग्रियाँ)

में बाँटा जाता है, लेकिन अभी इस विभाजन के विश्लेषण में जाने की हमें कोई आवश्यकता नहीं है। एक-एक उपभोक्ता सामग्री के उत्पादन में कई-कई पूँजीपति लगे होते हैं और अपने माल को बेचने के लिए प्रतिस्पर्द्धा करते हैं। इसके लिए वे अखबारों, टीवी, रेडियो, बिजली के खम्भों, होर्डिंगों, बस स्टॉपों और रेलवे स्टेशनों पर मौजूद प्रचार पट्टियों पर प्रचार करते हैं और अपने माल को सबसे अच्छा बताते हैं।

यही हाल उत्पादन के साधनों के उत्पादन के सेक्टर में भी होता है, लेकिन थोड़ा भिन्न रूप में। इस सेक्टर में मशीनों, उपकरणों और औजारों और साथ ही कई प्रकार के माध्यमिक कच्चे माल का उत्पादन किया जाता है। यहाँ पर उत्पादित सामग्री का उपभोक्ता आम आदमी नहीं होता, बल्कि पूँजीपति वर्ग होता है जो अपने उत्पादन के लिए उत्पादन के साधनों को पूँजीपति वर्ग के उस हिस्से से खरीदता है जो उत्पादन के साधनों का उत्पादन करता है। आजकल यह विभाजन बहुत क्षीण हो गया है क्योंकि एक ही पूँजीपति ने उपभोक्ता सामग्रियों के उत्पादन में भी निवेश कर रखा है और उत्पादन के साधनों के उत्पादन में भी। लेकिन इससे विश्लेषण में कोई फ़र्क नहीं पड़ता है। उत्पादन के दोनों सेक्टरों में उत्पादन और श्रम की स्थितियों का विश्लेषण किया जा सकता है। लेकिन अभी हमारा उद्देश्य यह नहीं है। उत्पादन के साधन के उत्पादन के क्षेत्र में भी एक-एक मशीन या उपकरण के उत्पादन में कई-कई पूँजीपति लगे होते हैं और उपभोक्ता सामग्री का उत्पादन करने वाले पूँजीपति वर्ग को अपना उत्पाद बेचने के लिए लुभाने में लगे होते हैं।

विभिन्न वस्तुओं या उत्पादन के साधनों (मशीन, उपकरण आदि) के उत्पादन में अलग-अलग समय पर अलग-अलग स्थितियाँ होती हैं। कभी किसी वस्तु का उत्पादन अधिक लाभदायी होता है तो कभी किसी और वस्तु का। मिसाल के तौर पर, अभी कुछ वर्ष पहले तक विश्व बाज़ार में सूरजमुखी और मेन्था की ज़बरदस्त माँग के कारण भारत में तमाम धनी किसानों और कुलकों ने इनकी खेती शुरू की। कृषि के क्षेत्र में सक्रिय पूँजीपतियों ने बाज़ार में माँग और आपूर्ति की स्थितियों को देखते हुए सूरजमुखी और मेन्था की खेती में पैसा लगाना शुरू किया। लेकिन इन स्थितियों का मूल्यांकन सभी कृषक पूँजीपतियों ने मिलकर संगठित रूप से नहीं किया, बल्कि अलग-अलग किया। जो भी सूरजमुखी और मेन्था की खेती में आवश्यक भारी पूँजी निवेश और कुशल श्रम की आवश्यकता को पूरा करने में सक्षम था, उसने इसमें पूँजी लगायी। नतीजा यह हुआ कि इन दोनों ही मालों का अति-उत्पादन हुआ और उनके उत्पाद को खरीदने के लिए बाज़ार में पर्याप्त खरीदार नहीं रहे। बाज़ार में माँग और आपूर्ति की स्थितियाँ बदल गयीं। अब सूरजमुखी और मेन्था का बाज़ार उतना

गर्म नहीं रहा। इसके अलावा, पूँजीवादी व्यवस्था का नैसर्गिक तर्क ही ऐसा है कि उत्पादक शक्तियाँ पूँजीवादी उत्पादन पद्धति की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाती हैं। यह अन्तरविरोध अपने आपको उत्पादन के अभूतपूर्व समाजीकरण और निजी विनियोजन के अन्तरविरोध के रूप में प्रकट करता है। बहरहाल, अपने उदाहरण पर वापस लौटते हुए हम देख सकते हैं कि इस प्रक्रिया में तमाम धनी किसान तबाह हो गये, जिन्होंने भारी पैमाने पर निवेश के लिए बड़े-बड़े ऋण लिये थे। भारत में किसानों द्वारा आत्महत्या का एक बड़ा कारण यह भी रहा है। उनके तबाह होने के साथ खेती में लगी मजदूर आबादी भी बड़े पैमाने पर बेरोज़गार हुई और छोटे किसान सर्वहाराओं की क्रतार में शामिल हुए। अब बाज़ार में दूसरे माल ज़्यादा फ़ायदेमन्द बन गये हैं, जो शायद पहले उतने फ़ायदेमन्द नहीं थे। पहले उनमें पर्याप्त पूँजी लगी हुई थी और उनका उत्पादन माँग से ज़्यादा हो रहा था। इसी कारण उनमें से पूँजी निकलकर उन फ़सलों के उत्पादन में लगी जिनकी माँग अधिक थी, लेकिन पूँजी निवेश कम था। इसी तरह से पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में पूँजी अधिक मुनाफ़े वाली वस्तुओं के उत्पादन के क्षेत्र की ओर स्वाभाविक गति करती रहती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये क्षेत्र बदलते रहते हैं और पूँजी अराजक तरीक़े से कभी इस तो कभी उस क्षेत्र की ओर भागती रहती है। यह प्रक्रिया पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में एक सन्तुलनकारी प्रक्रिया होती है जिसे काग़ज़ पर देखा जाये तो बहुत सामान्य लगती है, लेकिन वास्तव में घटित होते हुए देखा जाये तो समझ में आता है कि यह कितनी तबाही लाने वाली प्रक्रिया होती है। इस प्रक्रिया में लाखों-लाख मजदूर तबाह होते रहते हैं, अपनी नौकरियों से हाथ धोते रहते हैं और नर्क जैसे जीवन की ओर धकेले जाते रहते हैं। यही पूँजीवादी व्यवस्था की अराजकता का मूल है। निजी मालिकाने पर आधारित एक व्यवस्था जिसमें समाज की आवश्यकताओं के अनुसार उत्पादन नहीं किया जाता, बल्कि हर पूँजीपति अपने मुनाफ़े की ख़ातिर बाज़ार में एक-दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा के लिए उतरता है। इस पूरी प्रक्रिया में पूँजीपतियों का एक हिस्सा तबाह होकर मध्य वर्ग, निम्न मध्य वर्ग और सर्वहारा वर्ग की क्रतार में शामिल होता रहता है और लाखों-करोड़ों की संख्या में मजदूर अपना काम खोते हैं तथा बेरोज़गारों की क्रतार में शामिल होते रहते हैं। अपनी अराजक गति से पूँजीवाद मजदूरों को बरबाद करता रहता है और उन्हें बेरोज़गारों की फ़ौज में धकेलता रहता है। यह एक मानव-केन्द्रित नहीं बल्कि मुनाफ़ा-केन्द्रित व्यवस्था होती है।

पूँजीवाद में विभिन्न सेक्टरों में मन्दी की स्थिति तो आती-जाती रहती ही है। लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था में निश्चित अन्तरालों पर आम संकट की स्थिति पैदा

होती रहती है, जब अधिकांश सेक्टरों में अति-उत्पादन हो जाता है और मन्दी पैदा होती है। यह कैसे होता है इसे समझ लेना भी यहाँ उपयोगी होगा।

प्रतिस्पर्द्धा में टिके रहने के लिए हर पूँजीपति अपने उत्पादन की लागत को घटाता है। लागत का अर्थ है उत्पादन में लगने वाली कुल पूँजी। इस पूँजी के दो हिस्से होते हैं – पहला, स्थिर पूँजी जो मशीनों, इमारत, बिजली, पानी व कच्चे माल पर लगती है और दूसरा, परिवर्तनशील पूँजी जो पूँजीपति मजदूरी के रूप में मजदूरों को देता है। स्थिर पूँजी को स्थिर पूँजी इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान परिवर्तित नहीं होती है। उसका मूल्य सीधे-सीधे, बिना बढ़े हुए उत्पादित माल में स्थानान्तरित हो जाता है। इसमें से कुछ का मूल्य एक बार में भी माल में स्थानान्तरित हो जाता है, जैसे कच्चा माल, बिजली, आदि, और कुछ का मूल्य एक लम्बी प्रक्रिया में माल में स्थानान्तरित होता है, जैसे मशीनें और उपकरण आदि। इनका मूल्य तब तक माल में स्थानान्तरित होता रहता है जब तक कि वे घिसकर बेकार न हो जायें और उनकी उम्र पूरी न हो जाये। एक बार के उत्पादन में उसके कुल मूल्य का एक हिस्सा उत्पाद में जाता है। इसे घिसाई मूल्य (डेप्रिसियेशन वैल्यू) कहा जाता है। लेकिन यह मूल्य भी उत्पादन के दौरान बढ़ता-घटता नहीं है। यह ज्यों का त्यों उत्पाद में चला जाता है। इसीलिए मशीनों और कच्चे माल पर लगने वाली पूँजी को स्थिर पूँजी कहा जाता है। मजदूरी के रूप में लगने वाली पूँजी को परिवर्तनशील पूँजी कहा जाता है, क्योंकि मजदूर का श्रम ही वह चीज है जो वस्तुओं के एक अनुपयोगी समूह को मशीनों, उपकरणों आदि के इस्तेमाल से एक उपयोगी माल का रूप देता है। श्रम ही उत्पादन का वह कारक है जो किसी उत्पाद में उपयोग मूल्य पैदा करता है, यानी, उसे उपयोगी बनाता है। कोई कारखाना या मशीन अपने से कच्चे मालों को एक उपयोगी माल का रूप नहीं दे सकते। जब तक कच्चे मालों पर मानसिक और शारीरिक मानवीय श्रम नहीं लगता, वे मूल्यहीन बेकार वस्तुएँ होती हैं। जैसे ही उस पर मजदूर की मेहनत लगती है वे आकार ग्रहण करने लगते हैं और मिलकर एक उपयोगी वस्तु बन जाते हैं। जब कोई वस्तु उपयोगी होगी तभी उसे बाज़ार में कोई खरीदेगा। मजदूर की मेहनत ही वस्तु में उपयोग मूल्य और मूल्य पैदा करती है। एक पूँजीवादी समाज में मजदूर की श्रम-शक्ति भी एक माल होती है और वह भी बाज़ार में बिकती है। इसका मूल्य भी किसी भी अन्य माल के मूल्य के समान ही उसमें लगे प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष श्रम से तय होता है और उसका बाज़ार मूल्य बाज़ार में मौजूद माँग और आपूर्ति से निर्धारित होता है। उत्पादन की प्रक्रिया में श्रम-शक्ति ही वह कारक होती है जिसका मूल्य संवर्धित होकर, यानी बढ़कर माल में स्थानान्तरित

होता है। इसीलिए पूँजीपति द्वारा श्रम-शक्ति को खरीदने के लिए लगायी गयी पूँजी को परिवर्तनशील पूँजी कहते हैं क्योंकि उत्पादन से पहले और उत्पादन के बाद इसका परिमाण बढ़ चुका होता है। यह बढ़ी हुई मात्रा अर्थशास्त्र की भाषा में अतिरिक्त मूल्य कहलाती है। यही अतिरिक्त मूल्य एक पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े का मूल होता है। यह मूल्य मज़दूर के श्रम द्वारा पैदा होता है, लेकिन इसे पूँजीपति द्वारा हड़प लिया जाता है।

चूँकि अतिरिक्त मूल्य ही पूँजीपति के मुनाफ़े का स्रोत होता है, इसलिए वह उसे हर क्रीमत पर बढ़ाने का प्रयास करता है। इसे पूँजीपति वर्ग दो तरह से बढ़ाता है। एक, मज़दूर के काम के घण्टे को बढ़ाकर और उसकी मेहनत की सघनता को बढ़ाकर; और दूसरा, और अधिक उन्नत मशीनें लगाकर। पहले तरीके को समझना आसान है। अगर मज़दूर उसी मज़दूरी पर या थोड़ी-सी बढ़ी मज़दूरी पर अधिक देर तक काम करेगा तो अधिक अतिरिक्त मूल्य पैदा करेगा। यह एकदम सीधा मामला है। दूसरा तरीका थोड़ा जटिल है। आइए इसे भी समझ लें। अगर उन्नत मशीनें लगेंगी तो मज़दूर का श्रम अधिक उत्पादक हो जायेगा और वह अधिक दर से अतिरिक्त मूल्य पैदा करेगा। इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है। मान लीजिए कि एक सिलाई कारखाना है जहाँ मज़दूर पैर से चलने वाली सिलाई मशीन पर काम करते हैं। अभी एक मज़दूर 12 घण्टे में 10 कमीजें तैयार करता है। कारखाने का मालिक पैर से चलने वाली सिलाई मशीन को हटाकर बिजली से चलने वाली सिलाई मशीनें लगवा देता है। अब वही मज़दूर 12 घण्टे में 18 कमीजें बना लेता है। यानी मज़दूर के उत्पादन करने की गति को बढ़ा दिया गया। अब उत्पादन सीधे 1.8 गुना बढ़ गया। इससे पूँजीपति अपने माल की क्रीमत को घटाने में सफल होता है। लेकिन जब उन उद्योगों में मशीनीकरण के ज़रिए श्रम की उत्पादकता बढ़ती है जो कि मुख्य रूप से मज़दूरों के उपभोग की वस्तुएँ पैदा करते हैं, तो उन उपभोग की वस्तुओं का मूल्य भी कम हो जाता है। नतीजतन, श्रम शक्ति का मूल्य भी कम हो जाता है, क्योंकि वह उन वस्तुओं के मूल्य से ही निर्धारित होता है जो कि श्रम शक्ति के पुनरुत्पादन में लगती हैं। इस प्रकार वास्तविक मज़दूरी कम होती है, हालाँकि रुपये में अभिव्यक्त सांकेतिक मज़दूरी घटे यह ज़रूरी नहीं है; कई बार तो वह बढ़ भी सकती है, लेकिन उसके द्वारा खरीदी जा सकने वाली सामग्री का मूल्य पहले से कम हो जाता है। इस प्रकार वास्तविक मज़दूरी घट जाती है और पूँजीपति का मुनाफ़ा बढ़ जाता है। इसे सापेक्षिक अतिरिक्त मूल्य कहते हैं। इसके लिए पूँजीपति को एक बार थोड़ा निवेश करना पड़ता है, लेकिन बदले में लम्बे समय तक वह बढ़ी हुई उत्पादकता पर काम

करवा सकता है। इसके बदले में पूँजीपति मज़दूर को या तो कुछ नहीं देता या फिर उनकी मज़दूरी को नाममात्र के लिए बढ़ा देता है। मज़दूर यह समझ भी नहीं पाता कि उसका शोषण बढ़ गया है और वह स्वयं कुछ पाये बिना पूँजीपति के मुनाफ़े को कहीं तेज़ गति से बढ़ा रहा है।

स्पष्ट है कि पूँजीपति कुल उत्पादित मूल्य में लागत के अनुपात को घटाने के लिए अतिरिक्त मूल्य को विभिन्न तरीकों से बढ़ाता है। यह काम वह तभी कर सकता है जब वह उत्पादन को बड़े से बड़े पैमाने पर करे। उत्पादन जितने बड़े पैमाने पर होता है, लागत का अनुपात कुल निवेश में उतना कम होता जाता है। अतिरिक्त मूल्य को बढ़ाने के लिए पूँजीपति जिन तरीकों का उपयोग करता है, उससे उत्पादन स्वतः ही बड़े पैमाने पर होता जाता है। यानी, पूँजीपति लगातार इस होड़ में रहता है कि उत्पादन को अधिकतम सम्भव बड़े पैमाने पर किया जाये ताकि अतिरिक्त मूल्य को बढ़ाया जा सके और कुल पूँजी निवेश में लागत के अनुपात को घटाया जा सके। लेकिन उत्पादन को बढ़ाकर अपने मुनाफ़े को अधिकतम सम्भव बढ़ाने की अन्धी हवस में वह यह भूल जाता है कि उत्पादन व उपभोग दोनों के ही मालों को ख़रीदने के लिए बाज़ार में उतने पूँजीपति व अन्य वर्गों के उपभोक्ता भी होने चाहिए; पूँजीपति तभी निवेश करता है और उत्पादन के साधनों को ख़रीदता है जब निवेश के लिए लाभप्रद अवसर हों और व्यापक आबादी अपनी ख़रीद को तभी बढ़ा सकती है, जब उसके बीच पर्याप्त प्रभावी माँग हो। लेकिन पूँजीवादी समाज में कोई एक पूँजीपति उत्पादन नहीं कर रहा होता बल्कि कई पूँजीपति आपस में मुनाफ़े के लिए प्रतिस्पर्द्धा करते हुए अपना-अपना उत्पादन कर रहे होते हैं। इसलिए ऐसा किसी एक पूँजीपति के साथ नहीं बल्कि समूचे पूँजीपति वर्ग के साथ होता है। आपसी प्रतिस्पर्द्धा और एक-दूसरे को लील जाने की हवस में हर पूँजीपति हर वस्तु के उत्पादन के क्षेत्र में उत्पादन को लाभदायक होने की हदों से आगे बढ़ाता जाता है और उस पूरे सेक्टर में ही अति-उत्पादन हो जाता है। यही प्रक्रिया सभी क्षेत्रों में घटित होती रहती है। निश्चित अन्तरालों पर ऐसा होता है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अधिकांश क्षेत्र अति-उत्पादन का शिकार हो जाते हैं और पूरी अर्थव्यवस्था मन्दी का शिकार हो जाती है। यह अतिउत्पादन दरअसल मुनाफ़े की गिरती दर की एक अभिव्यक्ति होता है। मुनाफ़े की दर ठीक उन्हीं कारणों से गिरती जाती है, जिनसे पूँजीपति अतिरिक्त मूल्य की दर को बढ़ाता है और अन्य पूँजीपतियों से प्रतिस्पर्द्धा में माल की कीमत को कम करता है: यानी, मशीनीकरण और श्रम की उत्पादकता में बढ़ोत्तरी। इसके लिए वह मशीनों पर निवेश सापेक्षिक रूप से बढ़ाता है और श्रम शक्ति ख़रीदने पर निवेश को

सापेक्षिक रूप से घटाता है। लेकिन हम देख चुके हैं कि नया मूल्य केवल श्रम शक्ति के उत्पादन में लगने से ही पैदा होता है और इसीलिए अतिरिक्त मूल्य का स्रोत केवल जीवित श्रम होता है। लेकिन यदि पूँजी के संघटन में श्रम शक्ति सापेक्षिक रूप से घटती जायेगी और मृत श्रम यानी कि मशीनों सापेक्षिक रूप से बढ़ती जायेगी तो कुल अतिरिक्त मूल्य अवश्य बढ़ सकता है, लेकिन कुल पूँजी निवेश अन्ततः उससे तेज गति से बढ़ेगा और एक निर्णायक प्रवृत्ति के तौर पर लम्बी दूरी में मुनाफ़े की दर गिरती जायेगी। यही पूँजीवादी व्यवस्था के संकट का मूल है। इसकी अभिव्यक्ति एक ओर अति-उत्पादन है, तो दूसरी ओर व्यापक मेहनतकश अवाम का अल्पउपभोग, जिस पर हम अभी बात करेंगे। यह अल्पउपभोग अपने आप में पूँजीपति वर्ग के संकट का कारण नहीं है, बल्कि उसका लक्षण है। पूँजीपति वर्ग मज़दूरों के उपभोग हेतु उत्पादन नहीं करता है, बल्कि मुनाफ़े के लिए उत्पादन करता है। पूँजीपति वर्ग के लिए चिन्ता की बात मूलतः तब होती है जबकि पूँजीपति वर्ग द्वारा किया जाने वाले उत्पादक उपभोग, यानी कि उत्पादन के साधनों की ख़रीद में कमी आती है, यानी जब निवेश कम होता जाता है, जो कि मुनाफ़े की दर के गिरते जाने के कारण ही होता है। लेकिन व्यापक मेहनतकश जनता का अल्पउपभोग, जो कि समाज में मुनाफ़े की गिरती दर के संकट के दौर में बेरोज़गारी के बढ़ने और मज़दूरों की वास्तविक मज़दूरी में कमी आने का नतीजा होता है, एक वास्तविक परिघटना होता है और समाज में राजनीतिक व सामाजिक असन्तोष को बढ़ावा देता है और आर्थिक संकट को राजनीतिक व सामाजिक संकट में तब्दील करने में एक अहम भूमिका निभाता है। पूँजीपति मज़दूर को लगातार लूटकर ही अपने मुनाफ़े को बढ़ाता है। जब वह उत्पादन बढ़ाने के लिए उन्नत मशीनों को लगाता है तो मज़दूरों के एक हिस्से को वह निकाल बाहर करता है, क्योंकि अब कम मज़दूर ही उन्नत मशीनों पर उत्पादन को पहले के स्तर से आगे बढ़ा सकते हैं। इस प्रक्रिया में समाज में बेरोज़गारों की फ़ौज बढ़ती जाती है और बहुसंख्यक आबादी अपनी ख़रीदने की क्षमता से वंचित होती जाती है। इस तरह एक तरफ़ तो उत्पादन बढ़ता जाता है, बाज़ार सामानों से पटता जाता है और दूसरी तरफ़ उन्हें ख़रीदने वालों की संख्या लगातार घटती जाती है। इसके पीछे जो मूल कारण होता है वह है पूँजीवादी व्यवस्था में मुनाफ़े की गिरती दर, जो कि सामाजिक उत्पादक शक्तियों के सतत विकास से उत्पादन के लगातार अधिक से अधिक सामाजिक होते जाने और उसके पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था की सीमाओं के अतिक्रमण कर जाने के रूप में प्रकट होता है। सामाजिक उत्पादन और निजी स्वामित्व के बीच का अन्तरविरोध अपने आपको अति-उत्पादन के संकट के रूप में अभिव्यक्त करता है।

यही है पूँजीवाद का संकट जो उसे निश्चित अन्तरालों पर, पहले से भी भयावह रूप में आकर सताता रहता है और उसे लगातार उसकी क्रब्र की ओर धकेलता रहता है। यह एक ऐसा संकट है जिससे पूँजीवादी व्यवस्था लाख चाहने पर भी निजात नहीं पा सकती है, क्योंकि एक योजनाबद्ध मानव-केन्द्रित व्यवस्था में ही इससे निजात मिल सकती है, जो उत्पादन के साधनों और समाज के पूरे ढाँचे पर मजदूरों के साझे मालिकाने के ज़रिये ही सम्भव है। पूँजीवाद अगर ऐसा हो जायेगा तो वह पूँजीवाद रह ही नहीं जायेगा। इस व्यवस्था को चलाने वाला पूँजीपति वर्ग कभी भी अपने निजी मुनाफ़े को छोड़ नहीं सकता। इसलिए पूँजीवादी व्यवस्था को सिर्फ़ तबाह किया जा सकता है, इसे सुधारा नहीं जा सकता क्योंकि यह परस्पर प्रतिस्पर्द्धा, निजी मालिकाने और निजी मुनाफ़े पर टिकी हुई व्यवस्था है।

साम्राज्यवाद के दौर में पूँजीवाद

पूँजीवाद के इसी संकट ने मानवता को दो विश्वयुद्धों की ओर धकेला। 1870 के दशक के बाद से यूरोपीय देशों में पूँजीवाद भयंकर रूप से इस अति-उत्पादन के संकट का शिकार हो गया था। ब्रिटेन, फ़्रांस, हॉलैण्ड, पुर्तगाल, स्पेन जैसे कुछ देशों के पास 18वीं शताब्दी के समय से ही स्थापित उपनिवेश थे जिनके कारण वे मालों के अति-उत्पादन को अपने देश के बाहर अपने उपनिवेशों में भी बेच पा रहे थे। साथ ही, मालों के अतिरिक्त अब लागत को और घटाने के मक़सद से सस्ते श्रम को निचोड़ने के लिए पूँजी को भी इन उपनिवेशों में निर्यात कर रहे थे, यानी वहीं पर कारखाने लगाकर गुलाम देशों के सस्ते श्रम को निचोड़ रहे थे। जल्दी ही, यह सम्भावना भी निश्शेष हो गयी और 1910 का दशक आते-आते विश्व पूँजीवाद फिर से अति-उत्पादन और मन्दी के संकट का शिकार हो गया। साथ ही, कई ऐसे यूरोपीय पूँजीवादी देशों की शक्ति का उदय हुआ जिनके पास उपनिवेश नहीं थे। ऐसे देशों में अगुआ था जर्मनी। इन देशों में पूँजीवाद के संकट के पैदा होने और इनकी आर्थिक और सैन्य ताक़त बढ़ने के साथ विश्व पैमाने पर गरीब देशों की पूँजीवादी लूट के फिर से बँटवारे का सवाल पैदा हो गया। इसी सवाल को हल करने के लिए पूँजीवादी देशों के शासक वर्ग ने पूरी दुनिया को पहले साम्राज्यवादी महायुद्ध में धकेल दिया। इसमें जर्मनी और उसके मित्र देशों को पराजय का सामना करना पड़ा। लेकिन इस युद्ध ने रूस की महान क्रान्ति के लिए भी उपजाऊ ज़मीन तैयार की। दरअसल, यही ज़मीन जर्मनी में भी तैयार हुई थी, लेकिन वहाँ के सामाजिक जनवाद की ऐतिहासिक

गद्दारी और काउत्स्की के नेतृत्व में पूरी सामाजिक जनवादी पार्टी के साम्राज्यवादी पूँजीवाद की गोद में बैठ जाने के कारण वहाँ क्रान्ति नहीं हो सकी, हालाँकि जर्मनी का मज़दूर आन्दोलन रूस के मज़दूर आन्दोलन से अधिक शक्तिशाली और पुराना था। विश्वयुद्ध में जर्मनी और ऑस्ट्रिया-हंगरी की पराजय के बाद के दौर में रूस में समाजवाद के तहत वहाँ के मज़दूर वर्ग ने अभूतपूर्व तरक्की करके पूरी दुनिया के सामने एक अद्वितीय मॉडल खड़ा कर दिया। दूसरी ओर, पहले विश्वयुद्ध में हथियार बेचकर और ऋण देकर संयुक्त राज्य अमेरिका ने ज़बरदस्त मुनाफ़ा कमाया। लेकिन एक दशक बीतते-बीतते संयुक्त राज्य अमेरिका में ही पूँजीवाद के अब तक के सबसे बड़े संकट का उदय हुआ जिसे महान मन्दी के नाम से जाना जाता है। 1929 से लेकर 1931 तक चली इस मन्दी ने रूस को छोड़कर दुनिया के सभी देशों को गम्भीर रूप से प्रभावित किया। विशेष रूप से, अमेरिका और यूरोपीय देशों को। इस मन्दी के बाद ही जर्मनी और इटली में फ़ासीवाद ने मज़बूती से पैर जमा लिये। महामन्दी ने जर्मनी और इटली में फ़ासीवाद को कैसे पैदा और मज़बूत किया, अन्य देशों में फ़ासीवाद पाँव क्यों नहीं जमा पाया, इन सवालों पर हम आगे विचार करेंगे। पहले, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद संकट के इतिहास पर कुछ शब्द और।

द्वितीय विश्वयुद्ध में सबसे कम नुक़सान संयुक्त राज्य अमेरिका को हुआ और सबसे अधिक नुक़सान सोवियत रूस को। पूरा यूरोप भी खण्डहर में तब्दील हो चुका था। अमेरिका ने यूरोप और जापान के पुनर्निर्माण के ज़रिये निवेश की सम्भावनाओं का उपयोग किया और अपनी मन्दी को कम-से-कम तीस वर्षों के लिए टाल दिया। 1950 से लेकर 1970 तक अमेरिकी पूँजीवाद ने ख़ूब मुनाफ़ा पीटा। 1960 के दशक को तो अमेरिका में 'स्वर्ण युग' के नाम से जाना जाता है। अति-उत्पादन के संकट को दूर करने के लिए पूँजीवाद के दायरे के भीतर एक ही विकल्प होता है – उत्पादक शक्तियों का बड़े पैमाने पर विनाश ताकि उनके पुनर्निर्माण के लिए बड़े पैमाने पर सम्भावनाएँ पैदा की जा सकें। यह विनाश समय-समय पर साम्राज्यवादी युद्धों के ज़रिये किया जाता है। 1970 का दशक आते-आते विश्व पूँजीवाद एक बार फिर संकट का शिकार हुआ। इसके बाद वह उबरा ही था कि 1980 के दशक के मध्य में फिर से मन्दी ने उसे ग्रस लिया। इसके बाद भूमण्डलीकरण की नीतियों की शुरुआत के साथ विश्व साम्राज्यवाद ने एक नये चरण में प्रवेश किया। भूमण्डलीकरण के दौर में पूँजीवाद ने मन्दी को दूर करने के लिए एक नयी रणनीति का उपयोग किया। वित्तीय पूँजी के प्रभुत्व के इस दौर में पूँजी की प्रचुरता और मन्दी के दोमुँहे संकट को दूर करने के लिए 19 बैंकों के ज़रिये उपभोक्ताओं को ऋण देने की शुरुआत की गयी।

मध्य वर्ग तक के लोगों को माल खरीदने के लिए ऋण देने की प्रथा को विश्वभर में बड़े पैमाने पर शुरू किया गया। यानी पहले लोगों को खरीदने की ताकत से वंचित करके बाज़ार को मालों से पाट दिया गया और फिर जब खरीदार नहीं बचे तो खुद ही मूद पर लोगों को पैसा देकर वह माल खरीदवाया गया, ताकि मन्दी को कुछ समय के लिए टाला जा सके। लेकिन जल्दी ही मध्य वर्ग को ऋण देकर माल खरीदवाने की सम्भावनाएँ समाप्त हो गयीं। इसके बाद, तमाम ऐसे लोगों को भी ऋण देने की शुरुआत की गयी जो उसका मूद चुकाने की क्षमता भी नहीं रखते थे, ताकि अस्थायी रूप से मन्दी का संकट दूर हो सके। जल्दी ही यह सम्भावना भी खत्म हो गयी और अब 2006 में शुरू हुई मन्दी के रूप में पूँजीवाद के सामने महामन्दी के बाद का सबसे बड़ा संकट खड़ा है, जिससे निपटने के लिए विश्व भर के पूँजीवादी महाप्रभु द्रविड़ प्राणायाम करने में लगे हुए हैं।

संक्षेप में, पूँजीवाद अपने स्वभाव से ही समय-समय पर संकट को जन्म देता रहता है। संकट से निपटने के लिए युद्ध पैदा किये जाते हैं। लेकिन यह एक अस्थायी समाधान होता है और बेताल फिर से आकर पुरानी डाल पर ही लटक जाता है। साम्राज्यवाद के दौर में विश्व पूँजीवाद ने अपनी कार्यप्रणाली को बदला लेकिन सवा सौ साल बीतते-बीतते उसकी हवा निकल गयी और वह फिर से उसी असमाधेय संकट के सामने खड़ा है।

पूँजीवादी संकट की सम्भावित प्रतिक्रियाएँ

संकट के दौर में बेरोज़गारी तेज़ी से बढ़ती है। संकट के दौर में अति-उत्पादन होने और उत्पादित सामग्री के बाज़ारों में बेकार पड़े रहने के कारण पूँजीपति का मुनाफ़ा वापस नहीं आ पाता है और माल के रूप में बाज़ार में अटका रह जाता है। नतीजतन, पूँजीपति अधिक उत्पादन नहीं करना चाहता है और उत्पादन में कटौती करता है। इसके कारण वह उत्पादन में निवेश को घटाता है, कारखाने बन्द करता है, मज़दूरों को निकालता है। 2006 में शुरू हुई मन्दी के कारण अकेले अमेरिका में करीब 85 लाख लोग जून 2009 तक बेरोज़गार हो चुके हैं। भारत में मन्दी की शुरुआत के बाद करीब 1 करोड़ लोग अपनी नौकरियों से हाथ धो चुके हैं। बेरोज़गारों की संख्या में पूरे विश्व में करोड़ों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई है। इसके कारण न सिर्फ़ तीसरी दुनिया के ग़रीब पिछड़े पूँजीवादी देशों में बल्कि यूरोप के देशों में भी दंगे हो रहे हैं। यूनान, फ़्रांस, इंग्लैण्ड, आइसलैण्ड, आदि देशों में पिछले दिनों हुए दंगे और आन्दोलन इसी

मन्दी का असर है। पूरे विश्व के पूँजीवादी देशों के शासक वर्ग ने इस मन्दी के कारण पैदा हुए जन-असन्तोष का जो जवाब दिया है, उसमें कुछ भी नया नहीं है। यह जवाब है कल्याणकारी राज्य का कीन्सियाई नुस्खा। यह “कल्याणकारी” राज्य क्या करता है, इसे भी समझना जरूरी है।

मन्दी के कारण जो वर्ग सबसे पहले तबाह होते हैं, वे हैं मजदूर वर्ग, गरीब और निम्न मध्यम किसान, खेतिहर मजदूर वर्ग, शहरी निम्न मध्य वर्ग और आम मध्य वर्ग। यह कुल जनता का करीब 90 प्रतिशत होते हैं। इसके अतिरिक्त, छोटे व्यापारियों और दलालों का भी एक वर्ग इसमें तबाह होता है। इसके कारण पूरे समाज में ही 90 प्रतिशत बहुसंख्यक आबादी के लिए एक भयंकर आर्थिक और सामाजिक असुरक्षा का माहौल पैदा होता है। इसके कारण भारी पैमाने पर व्यापक और सघन जन-असन्तोष पैदा होता है जो पूरी व्यवस्था के लिए ही एक खतरा साबित हो सकता है। इस खतरे से निपटने के लिए 1930 के दशक में पूँजीवाद के एक कुशल हकीम जॉन मेनॉर्ड कीन्स ने बताया कि अराजकतापूर्ण पूँजीवादी व्यवस्था को थोड़ा-थोड़ा व्यवस्थित करने की आवश्यकता होती है। अगर निजी प्रतिस्पर्धा वाले पूँजीवाद और इजारेदारियों को मुक्त बाजार में खुल्ला छोड़ दिया जायेगा तो पूँजी की अराजक गति आत्मघाती रूप से ऐसे हालात पैदा कर देगी जो पूँजीवाद को ही निगल जायेंगे। इसलिए थोड़ा संयम बरतने की जरूरत है। इस व्यवस्थापन के काम को पूँजीवादी राज्य को अंजाम देना होगा। इसे कुछ ऐसी नीतियों में निवेश करना होगा जो लोगों को थोड़ा सामाजिक-आर्थिक सुरक्षा का आभास कराये। मिसाल के तौर पर, सार्वजनिक क्षेत्र (पब्लिक सेक्टर) को खड़ा करके उसमें रोजगार देना होगा; बीमा योजनाएँ लागू करनी होंगी; कुछ अवसंरचनागत क्षेत्र जैसे परिवहन, संचार, आदि को सरकार को अपने हाथ में रखना होगा; निजी क्षेत्र पर कुछ लगाम रखनी होगी; लोगों को आवास उपलब्ध कराने आदि की कुछ योजनाएँ शुरू करनी होंगी; मजदूरों की मजदूरी को थोड़ा बढ़ाना होगा, आदि। यानी कुछ सुधार के क्रम जो कुछ समय के लिए लोगों के असन्तोष पर ठण्डे पानी का छिड़काव कर सकें। ऐसे काम करने वाले राज्य को ही “कल्याणकारी” राज्य कहा जाता है। कहने की जरूरत नहीं है कि यह कल्याणकारी राज्य पूँजीवाद के दूरगामी कल्याण के लिए और जनता के मन में फ़ौरी कल्याण का एक झूठा अहसास पैदा करने के लिए खड़ा किया जाता है।

लेकिन इस कल्याणकारी राज्य के साथ दिक्कत यह होती है कि इसके अपने खर्चे बहुत होते हैं। तमाम कल्याणकारी नीतियों को लागू करने के लिए सरकार को पूँजीपतियों के मुनाफ़े पर थोड़ी लगाम कसनी पड़ती है और मजदूरों को थोड़ी

रियायतें और छूट देनी पड़ती है। जिन देशों में पूँजीवाद का आगमन सामन्तवाद विरोधी क्रान्तियों के जरिये हुआ और जहाँ पूँजीवादी विकास की गहरे तक पैठी हुई एक लम्बी प्रक्रिया चली, वहाँ पूँजीपति वर्ग आर्थिक रूप से इस हालत में था कि कल्याणकारी राज्य के “खर्चे उठा सके” और राजनीतिक रूप से भी इतना चेतना-सम्पन्न था कि कल्याणकारी राज्य को कुछ समय तक चलने दे तथा कुछ इन्तज़ार के बाद, दोबारा “छुट्टा साँड़ ब्राण्ड” पूँजीवाद की शुरुआत करे। जिन देशों में पूँजीवाद किसी क्रान्तिकारी बदलाव के जरिये नहीं, बल्कि एक क्रमिक प्रक्रिया में आया वहाँ कल्याणकारी राज्य के कुछ और ही नतीजे सामने आये। इन देशों में जर्मनी और इटली अग्रणी थे। जर्मनी का पूँजीवाद में संक्रमण किसी पूँजीवादी क्रान्ति के जरिये नहीं हुआ। वहाँ पर क्रान्तिकारी भूमि सुधार नहीं लागू हुए, बल्कि सामन्ती भूस्वामियों को ही पूँजीवादी भूस्वामी में तब्दील हो जाने का मौक़ा दिया गया। औद्योगिक पूँजीपति वर्ग राज्य द्वारा दी गयी सहायता के बूते खड़ा हुआ, न कि एक लम्बे पूँजीवादी विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया से, जैसाकि इंग्लैण्ड और फ़्रांस में हुआ था। कल्याणकारी राज्य के नतीजों पर यहाँ के पूँजीपति वर्ग, कुलकों और धनी किसानों की प्रतिक्रिया इंग्लैण्ड, अमेरिका, और फ़्रांस के पूँजीपति वर्ग से बिल्कुल भिन्न रही। इन शासक वर्गों की अलग क्रिस्म की प्रतिक्रिया ने जर्मनी और इटली में फ़्रासीवाद के उदय की ज़मीन तैयार की। इसके अतिरिक्त, एक और कारक ने फ़्रासीवाद के उभार में बहुत बड़ी भूमिका निभायी। यह कारक था जर्मनी और इटली के सामाजिक जनवादी आन्दोलन की ग़दारी और मज़दूर वर्ग के आन्दोलन का पूँजीवाद की चौहदियों के भीतर ही घूमते रह जाना। जर्मनी की सामाजिक जनवादी पार्टी के नेतृत्व में जर्मनी में एक बहुत शक्तिशाली मज़दूर आन्दोलन था जिसने 1919 से लेकर 1931 तक राज्य से मज़दूरों के लिए बहुत से अधिकार हासिल किये। जर्मनी में मज़दूरों की मज़दूरी किसी भी यूरोपीय देश से अधिक थी। कुल राष्ट्रीय उत्पाद में मज़दूर वर्ग का हिस्सा यूरोप के किसी भी देश के मज़दूर वर्ग के हिस्से से अधिक था। लेकिन इससे आगे सामाजिक जनवाद और कोई बात नहीं करता था। वह इसी यथास्थिति को बरकरार रखना चाहता था और इसलिए मज़दूर वर्ग के आन्दोलन को सुधारवादी संसदवाद और अर्थवाद की अन्धी चक्करदार गलियों में घुमाता रहा। लेकिन दूसरी तरफ़ जर्मनी का पूँजीपति वर्ग मज़दूर वर्ग को मिली इन रियायतों और सुविधाओं को बर्दाश्त करने की ताक़त खोता जा रहा था, क्योंकि इसके कारण पूँजी संचय की उसकी रफ़्तार बेहद कम हो गयी थी, यहाँ तक कि ठहर गयी थी। इसके कारण विश्वस्तर पर प्रतिस्पर्द्धा में उसका टिक पाना बेहद मुश्किल हो गया था। 1928 आते-आते जर्मनी संयुक्त

राज्य अमेरिका के बाद सबसे अधिक औद्योगिक उत्पादन वाला देश बन चुका था और उत्पादकता की रफ्तार भी अमेरिका के बाद सबसे अधिक थी। इसके साथ ही विश्वस्तर पर जर्मनी की साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा भी अधिक से अधिक तीखी होती जा रही थी। लेकिन घरेलू पैमाने पर मज़दूर वर्ग के शक्तिशाली सुधारवादी आन्दोलन के कारण उसके मुनाफ़े की दर लगातार कम होती जा रही थी, जिसे इतिहासकारों ने लाभ संकुचन (“प्रॉफ़िट स्कवीज़”) का नाम दिया है। ठीक इसी समय, विश्वव्यापी महामन्दी का प्रभाव जर्मनी की अर्थव्यवस्था पर पड़ा। लाभ संकुचन की मार से बिलबिलाये हुए जर्मन पूँजीपति वर्ग के लिए यह बहुत त्रासद था! इसके कारण सबसे पहले छोटा पूँजीपति वर्ग तबाह होना शुरू हुआ। बड़े पूँजीपति वर्ग को भी भारी हानि उठानी पड़ी। बड़े पैमाने पर बेरोज़गारी बढ़ी। शहरी वेतनभोगी निम्न मध्य वर्ग में भी बेकारी द्रुत गति से बढ़ने लगी। जिनके पास काम था, उनके सिर पर भी हर समय छँटनी की तलवार लटक रही थी। इस पूरे असुरक्षा के माहौल ने निम्न पूँजीपति वर्ग, सरकारी वेतनभोगी मध्य वर्ग, दुकानदारों और शहरी बेरोज़गारों के एक हिस्से के भीतर प्रतिक्रिया की ज़मीन तैयार की। यही वह ज़मीन थी जिसे भुनाकर राष्ट्रीय समाजवादी जर्मन मज़दूर पार्टी (हिटलर की नात्सी पार्टी) ने एक प्रतिक्रियावादी जन-आन्दोलन खड़ा किया जिसकी अग्रिम क्रतारों में निम्न पूँजीपति वर्ग, वेतनभोगी मध्य वर्ग, शहरी पढ़ा-लिखा मध्य वर्ग, लम्पट सर्वहारा और यहाँ तक कि सर्वहारा वर्ग का भी एक हिस्सा खड़ा था।

असुरक्षा का यह माहौल पैदा होने पर एक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी का काम था पूरी पूँजीवादी व्यवस्था को बेनक्राब करके जनता को यह बताना कि पूँजीवाद जनता को अन्ततः यही दे सकता है – गरीबी, बेरोज़गारी, असुरक्षा, भुखमरी! इसका इलाज सुधारवाद के ज़रिये चन्द पैबन्द लगाकर, अर्थवाद के ज़रिये कुछ भत्ते बढ़वाकर और संसदबाज़ी से नहीं हो सकता। साथ ही, पार्टी को ज़रूरत थी कि वह फ़्रासीवादियों के सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रचार का अपने क्रान्तिकारी प्रचार द्वारा मुँहतोड़ जवाब दे। फ़्रासीवादी सांस्कृतिक व राजनीतिक प्रचार मूलतः आर्थिक या भौतिक प्रश्नों को गोल कर जाता है। यह वॉल्टर बेंजामिन के शब्दों में राजनीति का सौन्दर्यीकरण होता है। यह प्रचार टटपुँजिया जनसमुदायों के सामाजिक मनोविज्ञान में मौजूद प्रतिक्रियावादी तत्त्वों पर खेलता है और उन्हें बढ़ाता है। यह समझना आवश्यक है कि फ़्रासीवादी उभार टटपुँजिया व मज़दूर वर्ग के एक हिस्से का ‘ब्रेन वॉश’ करके नहीं होता। विशेष तौर पर टटपुँजिया आबादी में प्रतिक्रियावादी विचार या उनकी ज़मीन पहले से मौजूद होती है। इन प्रतिक्रियावादी विचारों के मूल में एक तरफ़

पूँजीवादी समाज में पैदा हुई सामाजिक-आर्थिक असुरक्षा होती है, जिसका हम जिक्र कर चुके हैं, तो वहीं दूसरी ओर पूँजीवादी पितृसत्तात्मक मूल्य, पूँजीवादी नैतिकता और आचार भी होते हैं। इनका मुक्राबला केवल आर्थिक प्रचार के जरिये नहीं किया जा सकता है। इनका मुक्राबला करने के लिए फ़्रासीवादियों के समूचे सांस्कृतिक व राजनीतिक प्रचार के मूल पर नुकते-दर-नुकते हमला करना और उसकी असलियत को जनता के सामने स्पष्ट करना बेहद ज़रूरी होता है। जनता के बीच इन विचारों को परास्त करते हुए यह स्पष्ट करना होता है कि पूँजीवादी समाज द्वारा पैदा की गयी अराजकता और सामाजिक-आर्थिक असुरक्षा का एक ही इलाज है – मज़दूर वर्ग की पार्टी के नेतृत्व में, मज़दूर वर्ग की विचारधारा की रोशनी में, मज़दूर वर्ग की क्रान्ति। इन कार्यभारों को हाथ में लेने की बजाय सामाजिक जनवादियों ने पूरे मज़दूर वर्ग को गुमराह किये रखा और अन्त तक, हिटलर के सत्ता में आने तक, वह सिर्फ़ नात्सी-विरोधी संसदीय गठबन्धन बनाने में लगे रहे। नतीजा यह हुआ कि हिटलर पूँजीवाद द्वारा पैदा की गयी असुरक्षा के माहौल में जन्मे प्रतिक्रियावाद की लहर पर सवार होकर सत्ता में आया और उसके बाद मज़दूरों, कम्युनिस्टों, ट्रेड यूनियनवादियों और यहूदियों के कत्लेआम का जो ताण्डव उसने रचा वह आज भी दिल दहला देता है। सामाजिक जनवादियों की मज़दूर वर्ग के साथ ग़द्दारी के कारण ही जर्मनी में फ़्रासीवाद विजयी हो पाया। जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी मज़दूर वर्ग को संगठित कर पाने और क्रान्ति में आगे बढ़ा पाने में असफल रही। नतीजा था फ़्रासीवादी उभार, जो अप्रतिरोध्य न होकर भी अप्रतिरोध्य बन गया।



अब तक हमने उन आर्थिक प्रक्रियाओं के बारे में पढ़ा जिनके नतीजे के तौर पर वे स्थितियाँ पैदा होती हैं जो फ़्रासीवाद को भी जन्म दे सकती हैं। हालाँकि कोई ज़रूरी नहीं है कि ये आर्थिक परिस्थितियाँ अनिवार्य रूप से फ़्रासीवाद को जन्म दें। फ़्रासीवाद के उभार को रोका जा सकता है या नहीं, यह काफ़ी कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि संकटपूर्ण परिस्थिति का विचारधारात्मक, राजनीतिक, सांस्कृतिक व आर्थिक तौर पर कोई क्रान्तिकारी विकल्प मौजूद है या नहीं। यदि क्रान्तिकारी विकल्प मौजूद नहीं होगा तो जनता को प्रतिक्रिया के रास्ते पर ले जाना फ़्रासीवादी ताकतों के लिए आसान हो जायेगा। इस परिप्रेक्ष्य में भगतसिंह का वह कथन बरबस ही याद आता है जिसमें उन्होंने कहा था, “जब गतिरोध की स्थिति लोगों को अपने शिकंजे में जकड़ लेती है तो इंसानियत की रूह में क्रान्तिकारी स्पिरिट पैदा करने की ज़रूरत होती है,

वरना प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ जनता को ग़लत रास्ते पर ले जाने में सफल हो जाती हैं।”

इस सामान्य रूपरेखा के बाद जर्मनी और इटली में फ़्रासीवाद के उदय की स्थितियों और प्रक्रियाओं पर निगाह डालना उपयोगी होगा। जर्मनी फ़्रासीवाद के उदय, विकास और सशक्तीकरण का सबसे प्रातिनिधिक उदाहरण है। हालाँकि जर्मनी के मुक्राबले इटली में फ़्रासीवाद पहले सत्ता में आया, लेकिन जर्मनी ही वह देश था जहाँ फ़्रासीवादी उभार ने सबसे गहराई तक जड़ें जमायी और जहाँ यह उभार ज़बरदस्त था। इसलिए हम अपना विश्लेषण जर्मनी से ही शुरू करते हैं।

जर्मनी में फ़्रासीवाद

फ़्रासीवादियों के बारे में अक्सर एक मिथक लोगों के दिमाग में होता है कि वे असांस्कृतिक, सनकी, झक्की होते हैं। जर्मनी का उदाहरण दिखलाता है कि फ़्रासीवादियों की क्रतार में कोई पागलों या सनकियों की भरमार नहीं थी। बल्कि वहाँ बेहद पढ़े-लिखे लोगों की तादाद मौजूद थी जो समानता, जनवाद और आज़ादी के उसूलों के बेहद सचेतन विरोधी थे। जर्मनी में फ़्रासीवादियों को तमाम सामाजिक तबकों से समर्थन प्राप्त था। इनमें नौकरशाह वर्ग, कुलीन वर्ग और पढ़े-लिखे अकादमिकों (विश्वविद्यालय, कॉलेज, स्कूल के टीचर, लेखक, पत्रकार, वकील आदि) की अच्छी-खासी संख्या शामिल थी। 1934 में क़रीब एक लाख लोगों को हिटलर की हत्यारी सेना ‘आइन्साज़ग्रुप्पेन’ ने या तो गिरफ़्तार कर लिया था, या यातना शिविरों में भेज दिया था या फिर मार डाला था। आपको जानकर ताज़्जुब होगा कि आइन्साज़ग्रुप्पेन के अधिकारियों का एक-तिहाई हिस्सा विश्वविद्यालयों से डिग्री प्राप्त किये हुए लोगों का था।

जर्मनी में फ़्रासीवाद को बड़े उद्योगपतियों से ज़बरदस्त समर्थन प्राप्त था। पूँजीपति वर्ग के जिस हिस्से ने हिटलर की राष्ट्रीय समाजवादी मज़दूर पार्टी (नात्सी पार्टी) को सबसे पहले समर्थन दिया था, वह था घरेलू भारी उद्योगों का मालिक पूँजीपति वर्ग। बाद में पूँजीपति वर्ग के दूसरे सबसे बड़े हिस्से निर्यातक पूँजीपति वर्ग ने भी हिटलर को अपना समर्थन दे दिया। और इसके बाद उद्योग जगत के बचे-खुचे हिस्से ने भी नात्सी पार्टी को समर्थन दे दिया। इसके कारण साफ़ था। हिटलर की नीतियों का सबसे ज़्यादा फ़ायदा बड़े पूँजीपति वर्ग को होना था। वैश्विक संकट के दौर में मज़दूर आन्दोलन की शक्ति को खण्डित करके अपनी सबसे प्रतिक्रियावादी, सबसे नमन और सबसे क्रूर तानाशाही को लागू करने के लिए जर्मनी के बड़े पूँजीपति वर्ग को

जिस राजनीतिक समूह की ज़रूरत थी, वह था नात्सी पार्टी (जो पूँजीवाद से पैदा हुई आर्थिक-सामाजिक असुरक्षा के कारण निम्न पूँजीपति वर्गों, मध्य वर्गों और मज़दूर वर्ग के एक हिस्से में पनपने वाली प्रतिक्रिया का इस्तेमाल करके एक ग़ैर-जनवादी, तानाशाह सत्ता स्थापित कर सके। ज़ाहिर है, इस प्रतिक्रिया का निशाना किसी न किसी को बनाना था और जर्मनी में नात्सी पार्टी ने जिन्हें प्रतिक्रिया का निशाना बनाया, वे थे नस्लीय अल्पसंख्यक, विशेष रूप से यहूदी, मज़दूर व ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता (जिन्हें नात्सी पार्टी ने आर्थिक असुरक्षा और ठहराव का जिम्मेदार ठहराया) और कम्युनिस्ट। नात्सी पार्टी का फ़्रासीवादी शासन अन्तिम विश्लेषण में निश्चित रूप से बड़े वित्तीय और औद्योगिक पूँजीपति वर्ग की तानाशाही का नग्नतम और क्रूरतम रूप था। इसे एक छोटे-से उदाहरण से समझा जा सकता है। जर्मन उद्योगपतियों ने नात्सी शासन के दौरान अपने कारखानों में गुलामों से जमकर श्रम करवाया, जो कहने की आवश्यकता नहीं कि फ़्रासीवादी राज्य उन्हें मुफ्त में मुहैया कराता था। ये गुलाम श्रम करने वाले लोग थे हिटलर द्वारा यातना शिविरों में भेजे गये यहूदी, मज़दूर, ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता और कम्युनिस्ट। आम गुलाम मज़दूर की औसत आयु मात्रा तीन महीने थी। तीन महीने इस क़िफ़्फ़ का श्रम करने के बाद उनकी मौत हो जाये करती थी। इस गुलाम श्रम का इस्तेमाल करने वाली कम्पनियों में आज के जर्मनी की तमाम प्रतिष्ठित कम्पनियाँ शामिल थीं, जैसे फोक्सवैगन और क्रुपा ये सिर्फ़ दो उदाहरण हैं। इस धिनौने कृत्य में जर्मनी के तमाम बड़े पूँजीपति शामिल थे। इन अमानवीय कृत्यों के विरुद्ध लड़ने वाले लोग अधिकांश मामलों में कम्युनिस्ट थे। कम्युनिस्टों को ही सबसे बर्बर दमन का भी सामना करना पड़ा।

इतिहास गवाह है कि संकट के दौरों में, जब संसाधनों की “कमी” (क्योंकि यह वास्तविक कमी नहीं होती, बल्कि मुनाफ़ा-आधारित व्यवस्था द्वारा पैदा की गयी कृत्रिम कमी होती है) होती है, तभी धार्मिक और जातीय अन्तरविरोध तथा टकरावों के पैदा होने और बढ़ने की सम्भावना सबसे ज़्यादा होती है। अगर जनता के सामने वर्ग अन्तरविरोध साफ़ नहीं होते और उनमें वर्ग चेतना की कमी होती है तो उनके भीतर किसी विशेष धर्म या सम्प्रदाय के लोगों के प्रति अतार्किक प्रतिक्रियावादी गुस्सा भरा जा सकता है और उन्हें इस भ्रम का शिकार बनाया जा सकता है कि उनकी दिक्कतों और तकलीफ़ों का कारण उस विशेष सम्प्रदाय, जाति या धर्म के लोग हैं। आज जिस तरह वैश्विक संकट के दौर में दुनिया भर में बेरोज़गारी तेज़ी से बढ़ी है उसी प्रकार 1930 के दशक की मन्दी के समय भी दुनिया भर में बेरोज़गारी तेज़ी से बढ़ी थी। उस समय भी शहरी ग़रीबों की संख्या में भारी बढ़ोत्तरी हुई थी। जिन देशों

में औद्योगिक विकास का एक लम्बा और गहरा इतिहास था वहाँ पूँजीवादी विकास के कारण आम मेहनतकश जनता के उजड़ने की प्रक्रिया एक क्रमिक प्रक्रिया थी, जो धीरे-धीरे और कई किशतों में पूरी हुई। लेकिन जर्मनी में औद्योगिक विकास 1860-70 के पहले बेहद कम था जो राष्ट्रीय एकीकरण के बाद द्रुत गति से हुआ और उसने गाँवों में गरीब किसानों को और शहरों में आम मेहनतकश आबादी को इतनी तेज गति से उजाड़ा कि पूरे समाज में एक भयंकर असुरक्षा और अनिश्चितता का माहौल पैदा हुआ। जर्मनी में भी शहरी बेरोजगारी और शहरी तथा ग्रामीण गरीबी में तेजी से वृद्धि हुई थी। अतिवादी नस्लवाद, सम्प्रदायवाद, या जातीयतावाद अक्सर आर्थिक और सामाजिक तौर पर उजड़े हुए लोगों के जीवन को एक “अर्थ” प्रदान करने का काम करते हैं। यही कारण है कि ऐसे समाजों में जहाँ पूँजीवादी विकास क्रान्तिकारी प्रक्रिया के ज़रिये नहीं हुआ, जहाँ पूँजीवादी विकास की प्रक्रिया इतिहास के एक लम्बे दौर में फैली हुई प्रक्रिया के रूप में नहीं मौजूद थी, बल्कि एक असमान, अधूरी, और अजीब तरीके से द्रुत अराजक प्रक्रिया के रूप में घटित हुई, वहाँ के समाज में फ्रासीवाद के सामाजिक आधार पैदा हुए।

जर्मनी में औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया बहुत देर से शुरू हुई। इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति की शुरुआत 1780 के दशक में हो गयी थी। फ्रांस में 1860 आते-आते औद्योगिक क्रान्ति का एक दौर पूरा हो चुका था। दूसरी तरफ़, इस समय तक जर्मनी एक एकीकृत देश के रूप में सामने तक नहीं आ पाया था। जर्मन एकीकरण के बाद एक जर्मन राष्ट्र राज्य अस्तित्व में आया। बिस्मार्क के नेतृत्व में पूँजीवादी विकास की शुरुआत हुई। जर्मनी में राष्ट्रीय पैमाने पर पूँजीवाद का विकास ही तब शुरू हुआ जब विश्व पैमाने पर पूँजीवाद साम्राज्यवाद, यानी कि एकाधिकारी पूँजीवाद, के दौर में प्रवेश कर चुका था। एकाधिकारी पूँजीवाद प्रकृति और चरित्र से ही जनवाद-विरोधी होता है। जर्मनी में पूँजीवादी विकास बैंकों की पूँजी की मदद से शुरू हुआ और उसका चरित्र शुरू से ही एकाधिकारी पूँजीवाद का था। नतीजतन, जर्मनी में पूँजीवाद का विकास 1880 के दशक से ही इतनी तेज गति से हुआ कि 1914 आते-आते वह यूरोप का सबसे अधिक आर्थिक वृद्धि दर वाला देश बन गया जिसका औद्योगिक उत्पादन अमेरिका के बाद सबसे अधिक था। लेकिन किसी जनवादी क्रान्ति के रास्ते पूँजीवाद के न आने के कारण समाज में जनवाद की ज़मीन हमेशा से ही कमज़ोर थी। जर्मनी के एक आर्थिक महाशक्ति के तौर पर उदय के बाद विश्व पैमाने पर साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा का तीव्र होना लाज़िमी था। उस समय ब्रिटेन दुनिया की सबसे बड़ी साम्राज्यवादी शक्ति था और उसका औपनिवेशिक साम्राज्य सबसे बड़ा

था। जर्मनी विश्व पैमाने पर लूट का नये सिरे से बँटवारा करना चाहता था। जर्मनी की यह साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा विश्व को पहले विश्वयुद्ध की तरफ ले गयी। पहला विश्वयुद्ध 1914 से 1919 तक चला जिसमें मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी समेत धुरी राष्ट्रों को हरा दिया। वर्साय में युद्ध के समाप्त होने के बाद सन्धि हुई जिसे **वर्साय सन्धि** के नाम से जाना जाता है। इस सन्धि में जर्मनी पर भारी शर्तें थोपी गयीं। उससे भारी युद्ध हर्जाना वसूला गया। उसके सभी अधिकार-क्षेत्र उससे छीन लिये गये। उसके कुछ हिस्से अलग-अलग देशों को दे दिये गये। युद्ध की समाप्ति के बाद जर्मनी की पूरी अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। इसके कारण जर्मन पूँजीवाद के समक्ष अस्तित्व का संकट पैदा हो चुका था। पुरानी विकास दर को हासिल करने के लिए जर्मन पूँजीवाद को मजदूरों के शोषण की ऐसी दर हासिल करनी पड़ती जो मजदूर आबादी को बगावत पर आमादा कर देती। लेकिन इसी समय जर्मन पूँजीपति वर्ग के सामने रूस का उदाहरण भी था, जहाँ साम्राज्यवादी युद्ध ने सर्वहारा क्रान्ति को जन्म दिया। जर्मन पूँजीपति वर्ग को वही ग़लती करने से जर्मनी के सामाजिक जनवादियों ने बचा लिया। जर्मन बड़े पूँजीपति वर्ग के प्रतिनिधि **ह्यूगो स्टिनेस** और जर्मनी के सामाजिक जनवादी पार्टी के नेता **कार्ल लीजन**, जो ट्रेड यूनियनों और मजदूरों के प्रतिनिधि के तौर पर गये थे, के बीच एक समझौता हुआ। इस समझौते के तहत जर्मन पूँजीपति वर्ग जर्मन मजदूर वर्ग को तमाम रियायतें और सुविधाएँ देने के लिए तैयार हो गया। ये वे रियायतें व सुविधाएँ थीं जिन्हें जर्मन पूँजीपति वर्ग युद्ध से पहले के तेजी के हालात में देने के लिए कभी तैयार नहीं होता। लेकिन अब अगर वह मजदूर वर्ग से टकराव मोल लेता तो किसी क्रान्तिकारी प्रहार को झेलने की ताकत युद्ध के बाद उसमें बची नहीं थी। लेनिन ने 1919 में जर्मनी में वीमर गणराज्य के अस्तित्व में आने के बाद और जर्मन पूँजी और श्रम के बीच सामाजिक जनवादियों के मार्गदर्शन में समझौता होने के बाद ही कहा था कि जर्मन बड़े पूँजीपति वर्ग ने रूसी क्रान्ति के उदाहरण से सबक लिया और मजदूर वर्ग से सीधे तौर पर उलझने की बजाय समझौता करना उपयुक्त समझा। 1919 के जून में **जर्मन लीग ऑफ़ इण्डस्ट्रीज़** के अध्यक्ष मण्डल के सदस्य **अब्राहम फ़्राउडन** का यह कथन इस बात को अच्छी तरह दिखलाता है – “सज्जनो, रूस में घटनाओं ने ग़लत मोड़ ले लिया, और शुरुआत से ही उद्योग ने क्रान्ति को ख़ारिज किया। अगर हम – और यह काफ़ी आसान होता – भी असहयोग की अवस्थिति अपनाते, तो मुझे पूरा यकीन है कि आज हमारे यहाँ भी वही स्थितियाँ होतीं जोकि रूस में हैं।” एक जर्मन उद्योगपति का यह कथन जर्मन संशोधनवादियों की मजदूर वर्ग से ग़दारी को साफ़

तौर पर दिखलाता है।

श्रम और पूँजी के बीच हुए समझौते ने जर्मनी में एक अन्तरविरोध को तीखा होने से कुछ समय तक के लिए टाल दिया। लेकिन इससे वह अन्तरविरोध खत्म नहीं हुआ और न ही हो सकता था। युद्ध के बाद जर्मन पूँजी को श्रम की ओर तेज़ रफ़्तार से शोषण करने की ज़रूरत थी। लेकिन जर्मन पूँजीवाद को बचाने के लिए मज़दूर वर्ग को कई रियायतें देना पूँजीपति वर्ग की मजबूरी थी। इसके कारण जनवाद के सबसे धुर शत्रु वर्गों को अपने कई विशेषाधिकारों का परित्याग करना पड़ा। इन वर्गों में जर्मनी का **युंकर वर्ग** (धनी किसान वर्ग, जो पहले सामन्ती ज़मींदार हुआ करता था और जिसे क्रमिक भूमि सुधारों के रास्ते पूँजीवादी भूस्वामी वर्ग में तब्दील कर दिया गया) और जर्मनी का बड़ा पूँजीपति वर्ग प्रमुख थे जिसमें घरेलू भारी उद्योग के मालिक पूँजीपति और निर्यातक पूँजीपति शामिल थे। इन वर्गों का मज़दूर वर्ग के साथ अन्तरविरोध समय-समय पर सिर उठाता रहता था, लेकिन संगठित मज़दूर आन्दोलन के कारण हिटलर के आने से पहले के समय तक ये वर्ग मज़दूरों का नग्न दमन और शोषण शुरू नहीं कर पाये। 1924 तक इन प्रतिक्रियावादी वर्गों की तरफ़ से तख़्तापलट की कुछ कोशिशें भी हुईं जिनका लक्ष्य मज़दूर वर्ग पर बुर्जुआ वर्ग की हिंस्र तानाशाही लागू करना था। लेकिन इनके बावजूद जर्मनी का प्रतिक्रियावादी बड़ा पूँजीपति वर्ग सफल नहीं हो पाया। 1924 से 1929 तक का दौर जर्मन पूँजीवाद में तुलनात्मक स्थिरता का दौर था जिसमें श्रम और पूँजी के बीच का समझौता कम-से-कम ऊपरी तौर पर सुगम रूप से चला और मज़दूर वर्ग ने अपनी सहूलियतों और रियायतों को कायम रखा। लेकिन 1929 में महामन्दी आयी और उसने जर्मन पूँजीपति वर्ग को भारी धक्का दिया। इस धक्के के कारण जर्मन पूँजीपति वर्ग के लिए मुनाफ़े की दर को सम्मानजनक स्तर पर बनाये रख पाना असम्भव हो गया और यहीं से उस राजनीतिक संकट की शुरुआत हुई, जिसने अन्ततः हिटलर के नेतृत्व में नात्सी पार्टी को 1933 में सत्ता में पहुँचा दिया।

1927 तक जर्मनी ने अपना औद्योगिक उत्पादन उसी स्तर पर पहुँचा दिया था जिस स्तर पर वह प्रथम विश्वयुद्ध से पहले था। जर्मनी यूरोप की सबसे बड़ी और दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी औद्योगिक महाशक्ति बन चुका था। लेकिन अन्दर से जर्मन पूँजीवाद मज़दूर आन्दोलन के साथ समझौते के दबाव के कारण अभी भी उतना ही अस्थिर था। जर्मन पूँजीपति वर्ग की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाएँ फिर से जोर मारने लगी थीं और जर्मन पूँजीपति वर्ग के कई प्रतिनिधियों की ओर से फिर से युद्धोन्मादी और अन्धराष्ट्रवादी नारे सुनायी देने लगे थे। विश्वस्तर पर साम्राज्यवादी

प्रतिस्पर्द्धा में फिर से अपने वर्चस्व को स्थापित करने के लिए अब जर्मन पूँजीपति वर्ग को खुले हाथ की ज़रूरत थी, जिसके कारण मज़दूर वर्ग से समझौते को खारिज कर देने का दबाव बढ़ता जा रहा था। यही कारण था कि जर्मन नेशनल पीपुल्स पार्टी और सेण्टर पार्टी के नेतृत्व में अन्धराष्ट्रवादी नेताओं की विजय हुई। 1928 में नात्सी पार्टी को चुनावों में काफ़ी सफलता प्राप्त हुई। 1929 में महामन्दी की शुरुआत के बाद जर्मन पूँजीपति वर्ग के लिए मज़दूरों को दी गयी सभी रियायतों को रद्द करना अस्तित्व का प्रश्न बन गया। अब वे इन रियायतों का खर्च नहीं उठा सकते थे। महामन्दी के कारण देश में बेरोज़गारी और गरीबी तेज़ी से बढ़ी लेकिन मज़दूर आबादी की मोलभाव करने की क्षमता इससे कम नहीं हुई क्योंकि उनका प्रतिरोध संगठित था। नतीजतन, महामन्दी का पूरा दबाव पूँजीपति वर्ग पर पड़ने लगा और उसके मुनाफ़े की दर में तेज़ी से कमी आयी। मज़दूर वर्ग के खिलाफ़ कोई आक्रामक रवैया न अपना पाने के कारण आर्थिक संकट के दबाव को निम्न मध्य वर्ग और मध्य वर्गों की ओर निर्देशित कर दिया गया। संकट के कारण जो वर्ग सबसे तेज़ी से तबाह होकर सड़कों पर आ रहा था वह था छोटे उद्योगपतियों और व्यापारियों का वर्ग। कारण यह था कि वह श्रम के शोषण की दर को बढ़ा पाने में पूरी तरह अक्षम था।

बड़े पूँजीपति वर्ग को इस समय किसी ऐसी राजनीतिक शक्ति की आवश्यकता थी जो तबाह हो रहे निम्न मध्य वर्ग, आम शहरी मेहनतकश आबादी के एक हिस्से, मध्य वर्गों की प्रतिक्रिया के निशाने पर संगठित मज़दूर आन्दोलन को ला सके और उन्हें इस बात पर सहमत कर सके कि सारी दिक्कत की जड़ कम्युनिस्ट, ट्रेड यूनियन और संगठित मज़दूर आबादी है। इस काम को नात्सी पार्टी से बेहतर कोई अंजाम नहीं दे सकता था।

इस संकट के दौर में यदि कोई क्रान्तिकारी नेतृत्व मज़दूर आन्दोलन को मौजूदा व्यवस्था से बाहर ले जाने की ओर आगे बढ़ा पाता तो तस्वीर कुछ और होती, लेकिन सामाजिक जनवादियों की जकड़बन्दी में मज़दूर आन्दोलन बस मिली हुई रियायतों और सहूलियतों से चिपके रहना चाहता था, उससे आगे नहीं जाना चाहता था। या यूँ कहें कि सामाजिक जनवादी नेतृत्व ने उसे पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर मिले सुधारों से आगे बढ़ने के बजाय उन्हें बचाये रखने को प्रेरित किया। लेकिन इन सुधारों को क्रायम रखने के लिए जर्मन पूँजीपति वर्ग अब तैयार नहीं था क्योंकि अब यह उसकी मज़बूरी नहीं रह गयी थी और यह उसके लिए अब सम्भव भी नहीं रह गया था। वह हमले के लिए तैयार था। लेकिन मज़दूर वर्ग वहीं का वहीं खड़ा रह गया। नतीजा यह हुआ कि आर्थिक संकट बढ़ने के साथ संगठित मज़दूर वर्ग से बाहर की मेहनतकश आबादी,

यानी निम्न मध्य वर्गीय आबादी और मध्य वर्गीय आबादी के समक्ष बेरोज़गारी, असुरक्षा और अनिश्चितता का संकट बढ़ता गया जिसने उस प्रतिक्रिया को जन्म दिया जिसका इस्तेमाल नात्सियों ने किया। इसी प्रतिक्रिया को उन्होंने एक नस्लवादी शक्ति भी दे दी क्योंकि इसके बिना उतने बड़े पैमाने पर प्रतिक्रियावादी गोलबन्दी सम्भव नहीं थी। नतीजतन, इस तमाम अनिश्चितता और असुरक्षा के लिए यहूदियों को ज़िम्मेदार ठहराया गया। वैसे भी नात्सियों द्वारा कम्युनिज़्म और बोलशेविज़्म को एक यहूदी षड्यन्त्र एक रूप में पेश किया गया था।

दूसरी ओर, सामाजिक जनवादियों ने कृषि क्षेत्र में युंकरों और धनी किसानों के प्रभुत्व को तोड़ने वाले भूमि सुधारों के लिए भी सत्ता पर दबाव नहीं डाला। गौरतलब है कि सामाजिक जनवादियों के पास यह दबाव डालने के लिए पर्याप्त ताकत थी। इसकी मिसाल तब देखने को मिली थी जब 1926 में राजकुमारों को राज्य से मिलने वाले खर्च को खत्म करने के लिए उन्होंने सफल आन्दोलन चलाया था। इसी जनवादीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए वे रैडिकल भूमि सुधारों के ज़रिये शासक वर्गों के सबसे प्रतिक्रियावादी हिस्से ईस्ट एल्बे के युंकरों के प्रभुत्व को तोड़कर शासक वर्ग की ताकत को कमजोर कर सकते थे। ऐसा इसलिए भी आसान था क्योंकि युंकरों और बड़े पूँजीपति वर्ग और बैंकों के बीच पहले से ही अन्तरविरोध मौजूद था। लेकिन सामाजिक जनवादियों ने ऐसा नहीं किया और बस मज़दूर आन्दोलन को मिली रियायतों से चिपके रहने के हिमायती बने रहे। मिली हुई सहूलियतों को क्रायम रखने के लिए सामाजिक जनवादी बड़े पूँजीपति वर्ग की शर्तों पर उस समझौते को क्रायम रखना चाहते थे। जबकि पूँजीपति वर्ग इन सहूलियतों को खत्म कर अपना हमला करने की तैयारी कर चुका था। 1926 में जर्मन लीग ऑफ़ इण्डस्ट्रीज़ में दिया गया पॉल सिल्वरबर्ग का एक वक्तव्य गौरतलब है। उन्होंने कहा, “सामाजिक जनवाद को वास्तविकता में लौट आना चाहिए और रैडिकल सिद्धान्तवाद का त्याग कर सड़क और बल की नीति को छोड़ देना चाहिए, जो हमेशा नुक़सान दे रही है। उसे ज़िम्मेदार तरीक़े से मालिकों के साथ उनके निर्देशन में सहयोग करना चाहिए।” अब ज़रा इस कथन की तुलना बुद्धदेव भट्टाचार्य के उस कथन से कीजिए जो उन्होंने कुछ समय पहले ट्रेड यूनियन करने वालों की एक बैठक में दिया था। इसमें बुद्धदेव भट्टाचार्य ने कहा कि कम्युनिस्टों को बदले हालात को समझना चाहिए और मालिकों से सहयोग करना चाहिए। वर्ग संघर्ष का दौर अब बीत चुका है। आज श्रम को पूँजी के साथ विकास के लिए उसकी शर्तों पर सहयोग करना चाहिए!

1929 में जर्मन पूँजीपति वर्ग ने पहला बड़ा हमला करते हुए रेड फ़्रण्ट यूनियन

पर प्रतिबन्ध लगा दिया। दूसरी ओर नात्सियों के गुण्डों और हत्यारों के दस्ते छुट्टे घूम रहे थे। सामाजिक जनवादी चुप रहे। इसके बाद 1932 तक ऐसे हमले जारी रहे और सामाजिक जनवादी हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे। कारण यह था कि इसका जवाब क्रान्तिकारी रास्ते से ही दिया जा सकता था और उस रास्ते पर सर्वहारा वर्ग के गद्दार संशोधनवादी चल नहीं सकते थे। अपनी इस चुप्पी से सामाजिक जनवादी उस संगठित मज़दूर आन्दोलन में भी अपना आधार खोते गये जो उनका गढ़ था। मज़दूर आबादी का भी एक हिस्सा नात्सियों के शिविर की ओर जाने लगा। नतीजा यह हुआ कि 1932 में **वॉन पेपन** नामक दक्षिणपन्थी नेता के नेतृत्व में तख्तापलट हुआ और वह गठबन्धन सरकार गिर गयी जिसका प्रमुख हिस्सा सामाजिक जनवादी थे। कुछ ही समय में वीमर गणराज्य के बुर्जुआ जनवादी संविधान की ही खामियों का फ़ायदा उठाकर एक इनेबलिंग एक्ट लाया गया और संसदीय जनतन्त्र को तानाशाही में तब्दील कर दिया गया। संसद में सामाजिक जनवादियों और बुर्जुआ उदारवादियों के खिलाफ़ मुख्य तौर पर दो पार्टियाँ साथ आ गयीं – **नेशनल जर्मन पीपुल्स पार्टी** और **नात्सी पार्टी**। चुनावों के पहले सामाजिक जनवादियों और उदारवादियों के खिलाफ़ ज़बरदस्त प्रचार अभियान चलाया गया। उन्हें देशद्रोही और संकट का जिम्मेदार बताया गया। 1932 के चुनावों में इन दोनों पार्टियों को मिलाकर 42 प्रतिशत वोट मिले जिसमें से 33 प्रतिशत नात्सी पार्टी के थे। 1933 में फिर से चुनाव हुए जिसमें नात्सी पार्टी को अकेले 44 प्रतिशत वोट मिले। इसके साथ ही हिटलर सत्ता में आया और जर्मनी में फ़ासीवाद को विजय हासिल हुई।

जर्मनी में फ़ासीवाद की विजय के इस संक्षिप्त इतिहास पर निगाह डालने के बाद हम कुछ नतीजों को बिन्दुवार समझ सकते हैं।

जर्मनी में फ़ासीवाद की ज़मीन किस रूप में मौजूद थी? जर्मनी में पूँजीवादी विकास देर से शुरू हुआ। लेकिन शुरू होने के बाद यह बेहद द्रुत गति से हुआ और बिना किसी बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के हुआ। नतीजतन, दो परिघटनाएँ सामने आयीं। एक, तमाम क्षेत्रों और तमाम रूपों में पिछड़ापन क़ायम रहा और आधुनिकीकरण तथा जनता की चेतना के जनवादीकरण के बिना ही अद्वितीय रफ़्तार से पूँजीवादी विकास हुआ। इंग्लैण्ड और फ़्रांस जैसे देशों में पूँजीवाद क्रान्तिकारी प्रक्रिया से आया और उसके बाद उसका एक लम्बा और गहराई से पैठा विकास हुआ जिसने सामन्ती और ग़ौर-जनवादी रुझानों को समाज के पोर-पोर से समाप्त कर दिया। दूसरी परिघटना यह थी कि इस तीव्र पूँजीवादी विकास ने जिस रफ़्तार से गाँवों और शहरों में मेहनतकश जनता को उसकी जगह-ज़मीन से उजाड़ा, उसने भयंकर असुरक्षा और अनिश्चितता

को जन्म दिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस असुरक्षा और अनिश्चितता को पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ एक क्रान्तिकारी ताकत में तब्दील किया जा सकता था। लेकिन सामाजिक जनवादी आन्दोलन की सर्वहारा वर्ग के साथ गह्वारी और जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी की असफलता के कारण ऐसा नहीं हो सका। नात्सीवाद द्रुत गति से हुए उस पूँजीवादी विकास का प्रतिक्रियावादी जवाब था जिसने करोड़ों लोगों को आर्थिक-सामाजिक और भौगोलिक रूप से विस्थापित कर दिया था।

जर्मनी में भूमि सुधार क्रान्तिकारी तरीके से नहीं हुए, जिसमें जोतने वाले को ही ज़मीन का मालिक बना दिया गया हो। वहाँ प्रशियाई रास्ते से भूमि सुधार हुए जिसमें सामन्ती भूस्वामियों को ही पूँजीवादी कुलकों और फ़ार्मरों में तब्दील हो जाने दिया गया। यह वर्ग भयंकर प्रतिक्रियावादी वर्ग था। इसके अलावा अधूरे भूमि सुधारों से धनी काश्तकारों का एक वर्ग पैदा हुआ। ये वर्ग पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ गहराई से जुड़े थे और अन्दर से धुर जनवाद-विरोधी थे। पूँजीवादी व्यवस्था के संकट के कारण पैदा हुई प्रतिक्रिया का एक अहम हिस्सा यही वर्ग थे। ये वर्ग नात्सी पार्टी के सामाजिक आधार बने। युंकरों के विशेषाधिकारों के बचे रहने के कारण सामाजिक जनवादियों का आम किसान आबादी में कोई आधार नहीं बन पाया। यह किसान आबादी फ़्रासीवादी उभार के दौर में या तो निष्क्रिय पड़ी रही या फ़्रासीवादियों की समर्थक बनी। उसे भी अपनी अनिश्चितता का इलाज एक फ़्रासीवादी सत्ता में नज़र आ रहा था। ज़ाहिर है, बाद में यह एक भ्रम साबित हुआ, लेकिन तब तक काफ़ी देर हो चुकी थी।

1919 के बाद वीमर गणराज्य की शुरुआत के साथ जो राज्य अस्तित्व में आया, वह एक कल्याणकारी राज्य था। कल्याणकारी नीतियाँ जर्मन पूँजीपति वर्ग की मजबूरी थीं, क्योंकि युद्ध के बाद मज़दूर आन्दोलन के साथ वह सीधा टकराव नहीं मोल ले सकता था और रूस का उदाहरण उसके सामने था। यह समझ बनाने में सामाजिक जनवादियों ने पूँजीपति वर्ग की काफ़ी मदद की। मज़दूर वर्ग को तमाम रियायतें दी गयीं। लेकिन पूँजीवादी विकास की अपनी एक गति होती है। मुनाफ़े की दर को बढ़ाते जाना साम्राज्यवादी दुनिया में जर्मन पूँजीपति वर्ग के लिए अस्तित्व की शर्त थी। मज़दूर वर्ग को दी गयी छूटें उसके लिए जल्दी ही बोझ बन गयीं। कल्याणकारी नीतियाँ मुनाफ़े की दर पर एक ब्रेक के समान थीं। वित्तीय, औद्योगिक पूँजीपति वर्ग और कुलकों-युंकरों को जल्दी ही एक तानाशाह सत्ता की ज़रूरत महसूस होने लगी जो मज़दूर वर्ग पर उनकी नग्न और क्रूर तानाशाही को लागू कर सके।

सामाजिक जनवाद ने मज़दूर आन्दोलन को सुधारवाद की गलियों में ही घुमाते

रहने का काम किया। उसने पूँजीवाद का कोई विकल्प नहीं दिया और साथ ही पूँजीवाद के भी पैरों में बेड़ी बन गया। उसका कुल लक्ष्य था पूँजीवादी जनवाद के भीतर रहते हुए वेतन-भत्ता बढ़ावते रहना और जो मिल गया है उससे चिपके रहना। लेकिन अगर पूँजीवादी व्यवस्था मुनाफ़ा पैदा ही न कर पाये तो क्या होगा? इस सवाल का उनके पास कोई जवाब नहीं था। वे यथास्थिति को सदा बनाये रखने का दिवास्वप्न पाले हुए थे। जबकि पूँजीवाद की नैसर्गिक गति कभी ऐसा नहीं होने देती। पूँजीपति वर्ग को मुनाफ़े की दर बढ़ानी ही थी। उसका टिकाऊ स्रोत एक ही था – मज़दूरों के शोषण को बढ़ाना। संगठित मज़दूर आन्दोलन के बूते पर सामाजिक जनवादी ऐसा करने नहीं दे रहे थे। अब पूँजीपति वर्ग जनवादी दायरे में रहकर मुनाफ़े की दर को बढ़ाने का काम नहीं कर सकता था। बड़े पूँजीपति वर्ग को एक सर्वसत्तावादी राज्य की आवश्यकता थी जो उसे वीमर गणराज्य नहीं दे सकता था, जो श्रम और पूँजी के समझौते पर टिका था। यह काम नात्सी पार्टी ही कर सकती थी।

पूँजीवादी राजसत्ता का काम होता है पूँजीवादी उत्पादन के सुचारू रूप से चलते रहने की गारण्टी करना और पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों की हिफ़ाज़त करना। राजसत्ता के ज़रिये पूँजीपति वर्ग अपने वर्ग हितों को संगठित करता है और व्यक्तिगत पूँजीवादी हितों से ऊपर उठता है। बीच-बीच में आपसी अन्तरविरोध अधिक बढ़ते हैं, अराजकता फैलती है और राजसत्ता अपने हस्तक्षेप से चीज़ों को फिर से सही स्थान पर पहुँचाती है। साथ ही पूँजीवादी राजसत्ता मेहनतकश जनता को एक वर्ग के रूप में संगठित नहीं होने देती और उन्हें किसी राष्ट्र, समुदाय या धर्म के सदस्य के रूप में, यानी एक नागरिक के तौर पर अस्तित्वमान रखने का प्रयास करती है। वीमर गणराज्य के दौरान जर्मनी में पूँजीवादी राजसत्ता बुर्जुआ वर्गों के हितों को संगठित कर पाने में असफल रही। कल्याणकारी नीतियों ने पूँजीपति वर्ग की राजनीतिक और आर्थिक एकता को तोड़ दिया। संकट के दौरों में पूँजीवादी हितों और जनता के हितों के बीच तारतम्य बैठा पाना कठिन हो जाता है। वहीं जनता की राजसत्ता से उम्मीदें बढ़ जाती हैं। जबकि राजसत्ता उन्हें पूरा कर पाने में और अधिक असमर्थ हो चुकी होती है। ऐसे में बुर्जुआ वर्ग के कुछ हिस्से राजसत्ता से अपने पक्ष में तानाशाहीपूर्ण रवैया अपनाने की उम्मीद रखते हैं। ऐसा न होने पर बड़ा पूँजीपति वर्ग अधिक से अधिक प्रतिक्रियावादी और अनुदार होता जाता है। वीमर गणराज्य में यही हुआ। श्रम और पूँजी के बीच का सामाजिक जनवादी समझौता राजसत्ता को बड़े पूँजीपति वर्ग की ज़रूरतों के मुताबिक़ खुलकर काम नहीं करने दे रहा था जिससे पूँजीवादी संकट गहराता जा रहा था। इस संकट के कारण जनता का एक खासा बड़ा हिस्सा उजड़ता

जा रहा था और उसमें भी असन्तोष पैदा हो रहा था। बड़े पूँजीपति वर्ग ने नात्सी पार्टी के जरिये इसी असन्तोष का लाभ उठाया और उसे प्रतिक्रिया की लहर में तब्दील कर दिया। नात्सी पार्टी ने इसके लिए यहूदी-विरोध, नस्लीय श्रेष्ठता, कम्युनिज़्म-विरोध, जनवाद-विरोध जैसे सिद्धान्तों का सहारा लिया।

सामाजिक जनवादियों के जुझारू अर्थवाद और ट्रेड यूनियनवाद के कारण मज़दूरी बढ़ती रही, लेकिन पूँजीवादी संकट के कारण मुनाफ़े की दर ठहरावग्रस्त रही। इसके कारण एक लाभ संकुचन की स्थिति पैदा हो गयी। इसके कारण सबसे पहले तबाह हुआ छोटे उद्यमियों का वर्ग आगे चलकर फ़्रासीवाद का सबसे तगड़ा समर्थक बना। यह बात दीगर है कि फ़्रासीवाद ने उसे बाद में कुछ भी नहीं दिया और वह पूरी तरह इज़ारेदार पूँजीवाद की सेवा में लगा रहा। बड़ा पूँजीपति वर्ग तबाह होकर सड़क पर तो नहीं आया लेकिन अगर वह नात्सी उभार का समर्थन नहीं करता तो सड़क पर आ जाता क्योंकि उसे अपने मुनाफ़े में भारी कमी का सामना करना पड़ रहा था। संगठित मज़दूर आन्दोलन के कारण पूँजीपति वर्ग पर जो दबाव पड़ रहा था उसका अन्दाज़ा इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि 1928 में कुल राष्ट्रीय उत्पाद का 67 प्रतिशत हिस्सा मज़दूरों को मज़दूरी के रूप में दिया जा रहा था। संकट के दौर में बढ़ी बेरोज़गारी के बावजूद पूँजीपति वर्ग की मोलभाव करने की ताक़त में कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई क्योंकि एक मज़बूत और जुझारू मज़दूर आन्दोलन मौजूद था। कुलकों और युंकरों ने अपने विशेषाधिकारों को क्रायम रखने और संकट के दौर से निपटने के लिए नात्सियों का समर्थन किया। लेकिन यह मज़बूत मज़दूर आन्दोलन सामाजिक जनवाद के नेतृत्व में पूँजीवादी सुधारवाद की अन्धी गली में ही भटकता रह गया। पूँजीपति वर्ग को आक्रामक होने की पहल तोहफ़े के रूप में दे दी गयी और फ़्रासीवाद का प्रतिरोध्य उभार अप्रतिरोध्य बन गया।

इटली में फ़्रासीवाद

इटली में फ़्रासीवाद की हमारी चर्चा के इतना विस्तृत होने की कोई आवश्यकता नहीं है। हम यहाँ उन कारकों की चर्चा करेंगे जिनके मामले में इटली में फ़्रासीवादी उभार जर्मनी से अलग था।

इटली में फ़्रासीवादी आन्दोलन की शुरुआत 1919 में हुई। युद्ध की समाप्ति के बाद इटली के मिलान शहर में बेनिटो मुसोलिनी ने फ़्रासीवादी आन्दोलन की शुरुआत करते हुए एक सभा बुलायी। इस सभा में कुल जमा करीब 100 लोग इकट्ठा हुए। इसमें

से अधिकांश युद्ध में भाग लेने वाले नौजवान सिपाही थे। पहले विश्वयुद्ध में मित्र राष्ट्रों की तरफ से युद्ध में हिस्सा लेने के बावजूद इटली को उसका उचित पुरस्कार नहीं मिला जबकि युद्ध में उसे काफ़ी क्षति उठानी पड़ी थी। इससे पूरे देश में एक प्रतिक्रिया का माहौल था, खासकर सैनिकों के बीच। दूसरी तरफ, देश की आर्थिक स्थिति बुरी तरह से डावाँडोल थी। सरकार एकदम अप्रभावी और कमज़ोर थी और कोई भी क़दम नहीं उठा पा रही थी। एक ऐसे समय में मुसोलिनी ने फ़्रांसीवादी आन्दोलन की शुरुआत की। मुसोलिनी ने इस सभा में खुले तौर पर ऐलान किया कि फ़्रांसीवाद मार्क्सवाद, उदारवाद, शान्तिवाद और स्वतन्त्रता का खुला दुश्मन है। यह राजसत्ता के हर शक्ति से ऊपर होने, उग्र राष्ट्रवाद, नस्ली श्रेष्ठता, युद्ध, नायकवाद, पवित्रता और अनुशासन में यक़ीन करता है। आर्थिक और सामाजिक तौर पर बिखरे हुए और असुरक्षा और अनिश्चितता का सामना कर रहे राष्ट्र को ऐसे जुमले आकृष्ट करते हैं, खासतौर पर तब, जबकि कोई क्रान्तिकारी सम्भावना उनकी दृष्टि में न हो। फ़्रांसीवाद के आर्थिक और सामाजिक आधारों के बारे में हम आगे चर्चा करेंगे। पहले उसके वैचारिक आधारों की बात कर लें। मुसोलिनी पहले **इतालवी समाजवादी पार्टी** में शामिल था। 1903 से 1914 तक वह समाजवादी पार्टी का एक महत्त्वपूर्ण नेता था। इसके बाद वह **जॉर्ज सोरेल** नामक एक संघाधिपत्यवादी चिन्तक के प्रभाव में आया, जो कहता था कि संसदीय जनतन्त्र नहीं होना चाहिए और श्रम संघों द्वारा सरकार चलायी जानी चाहिए। मुसोलिनी पर दूसरा गहरा प्रभाव **फ्रेडरिख नीत्शे** नामक जर्मन दार्शनिक का था, जो मानता था कि इतिहास में अतिमानव और नायकों की केन्द्रीय भूमिका होती है, जिनमें सत्ता प्राप्त करने की इच्छाशक्ति होती है। इन सारे विचारों का मेल करके ही इटली में **जेण्टाइल** नामक फ़्रांसीवादी चिन्तक की सहायता से मुसोलिनी ने पूरे फ़्रांसीवादी सिद्धान्त की रचना की। यह सिद्धान्त मज़दूर-विरोधी, पूँजी के पक्ष में खुली तानाशाही, अधिनायकवाद, जनवाद-विरोध, कम्युनिज़्म-विरोध और साम्राज्यवादी विस्तार की खुले तौर पर वकालत करता था।

लेकिन यह सिद्धान्त कोई जेण्टाइल और मुसोलिनी के दिमाग़ की उपज नहीं था। यदि जेण्टाइल व मुसोलिनी न होते तो कोई और होता क्योंकि समाज में इस प्रकार एक के प्रतिक्रियावादी विचार और आन्दोलन की ज़मीन मौजूद थी। इस ज़मीन को समझकर ही इटली में फ़्रांसीवादी उभार को समझा जा सकता है।

जर्मनी के समान इटली में भी पूँजीवादी विकास बहुत देर से शुरू हुआ। इटली का एकीकरण 1861 से 1870 के बीच हुआ। जैसाकि हम पिछले उपशीर्षक में ही बता चुके हैं, इस समय तक ब्रिटेन, फ़्रांस और हॉलैण्ड जैसे देश पूँजीवादी विकास की एक

लम्बी यात्र तय कर चुके थे और औद्योगिक क्रान्ति को भी अंजाम दे चुके थे। इन देशों में रैडिकल भूमि-सुधार लागू किये गये थे। पूँजीवादी विकास एक लम्बी प्रक्रिया में हुआ था, जिसके कारण इससे पैदा होने वाले सामाजिक तनाव को व्यवस्था जनवादी दायरे के भीतर रहते हुए ही झेल सकती थी। इटली में 1890 के दशक में औद्योगीकरण की शुरुआत हुई और जर्मनी के ही समान इसकी रफ़्तार काफ़ी तेज़ रही। जर्मनी से अलग इटली में यह विकास क्षेत्रीय तौर पर बहुत असमानतापूर्ण रहा। उत्तरी इटली में मिलान, तूरिन और रोम से बनने वाले त्रिभुजाकार इलाक़े में उद्योगों का ज़बरदस्त विकास हुआ और एक मज़दूर आन्दोलन भी पैदा हुआ। पहले इसका नेतृत्व इतालवी समाजवादी पार्टी कर रही थी और बाद में इसके नेतृत्व में इतालवी कम्युनिस्ट पार्टी का भी प्रवेश हुआ। उत्तरी इटली के क्षेत्रों में भूमि-सुधार भी एक हद तक लागू हुए और कृषि का वाणिज्यीकरण हुआ जिससे कृषि में पूँजीवादी विकास हुआ। नतीजतन, औद्योगिक और कृषि क्षेत्र, दोनों में ही एक मज़दूर आन्दोलन पैदा हुआ। दूसरी ओर दक्षिणी इटली था जहाँ सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों का वर्चस्व कायम था। यहाँ कोई भूमि सुधार लागू नहीं हुए थे और विशाल जागीरें थीं जिन पर बड़े भूस्वामियों का क़ब्ज़ा था। इसके अतिरिक्त, छोटे किसानों और खेतियर मज़दूरों की एक विशाल आबादी थी जो पूरी तरह इन बड़े भूस्वामियों के नियन्त्रण में थी। ये भूस्वामी अपने सशस्त्र गिरोहों द्वारा इस नियन्त्रण को कायम रखते थे। इन्हीं गिरोहों को इटली में माफ़िया कहा जाता था जो बाद में स्वायत्त शक्ति बन गये और पैसे के लिए लूटने, मारने और चोट पहुँचाने का काम करने लगे। फ़्रासीवादियों ने इन माफ़िया गिरोहों का ख़ूब लाभ उठाया। दक्षिणी इटली में औद्योगिक विकास न के बराबर था। इस फ़र्क़ के बावजूद, या यँ कहें कि इसी फ़र्क़ के कारण फ़्रासीवादियों को दो अलग-अलग प्रकार के प्रतिक्रियावादी वर्गों का समर्थन प्राप्त हुआ। यह कैसे हुआ इस पर हम बाद में आते हैं, पहले उस प्रक्रिया पर निगाह डालें जिसके ज़रिये मुसोलिनी सत्ता में आया।

1896 में इटली को अपना साम्राज्य इरिट्रिया से इथियोपिया तक फैलाने के प्रयास में अडोवा नामक जगह पर एक शर्मनाक पराजय का सामना करना पड़ा। इसके कारण देश में चार वर्ष तक एक भयंकर अस्थिरता का माहौल पैदा हो गया। लेकिन 1900 से 1914 तक के दौर में उदारवादी पूँजीवादी प्रधानमन्त्री गियोवानी गियोलिटी के नेतृत्व में थोड़ी स्थिरता वापस लौटी और इटली में औद्योगिक विकास ने और गति पकड़ी। 1913 में सर्वमताधिकार के आधार पर इटली में पहले आम चुनाव आयोजित किये गये। लेकिन यह जनवादी संसदीय व्यवस्था अभी अपने पाँव जमा ही पायी

थी कि 1915 में इटली ने मित्र राष्ट्रों की तरफ से प्रथम विश्वयुद्ध में प्रवेश किया। इसके बाद इटली में जो अस्थिरता पैदा हुई, उसने संसदीय व्यवस्था को जमने ही नहीं दिया। अक्टूबर 1917 में कापोरेट्टो नामक जगह पर इटली बुरी तरह हारते-हारते बचा। युद्ध के बाद इटली को कुछ ख़ास हासिल नहीं हुआ। इन सभी कारकों की वजह से पूरा देश विभाजित था। इसका प्रमुख कारण इटली का आर्थिक रूप से छिन्न-भिन्न हो जाना भी था। 1919 में जो चुनाव हुए, उसमें किसी को पूर्ण बहुमत नहीं मिला। समाजवादियों और उदारवादियों को सबसे अधिक वोट 38 मिले थे, लेकिन वे साथ में सरकार बनाने को तैयार नहीं थे। समाजवादियों ने 1919 में बोलशेविक क्रान्ति के प्रभाव में वक्रत से पहले ही सशस्त्र संघर्ष शुरू कर दिया। 1919-20 में इटली की पो घाटी में यह संघर्ष काफ़ी आगे तक गया। समाजवादियों ने कई शहरों पर एक तरह से क़ब्ज़ा कर लिया था। ऐसा लग रहा था कि इटली एक गृहयुद्ध की कगार पर खड़ा है। लेकिन समाजवादियों ने इस उभार को संभाल पाने के लिए न अपनी तैयारी की थी और न ही जनता की। नतीजतन, यह उभार कुचल दिया गया। इसे कुचलने में जहाँ एक भूमिका बुर्जुआ राजसत्ता ने निभायी, वहीं फ़्रासीवादी सशस्त्र गिरोहों ने भी एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। 1919 के चुनावों में फ़्रासीवादियों को कोई विशेष सफलता नहीं मिली थी। लेकिन 1919-20 के मज़दूर उभार ने सम्पत्तिधारी वर्गों के दिल में एक ख़ौफ़ पैदा कर दिया था। रूस में जो कुछ हुआ था, वह उनके सामने था। ऐसे मौक़े पर उन्हें किसी ऐसी ताक़त की ज़रूरत थी जो मज़दूर उभार को कुचलने के लिए एक वैकल्पिक गोलबन्दी कर सके। यह वायदा मुसोलिनी ने उनसे किया। मुसोलिनी ने उद्योगपतियों से वायदा किया कि अगर वे उसे समर्थन देते हैं तो वह औद्योगिक अनुशासन को फिर से स्थापित करेगा। इसके बाद से ही मुसोलिनी को उद्योगपतियों से भारी आर्थिक मदद मिलनी शुरू हुई जिसके बूते पर फ़्रासीवादियों ने ज़बरदस्त प्रचार किया और जनता के दिमाग़ में ज़हर घोला। शहरों में फ़्रासीवादियों के सशस्त्र दस्तों ने मज़दूर कार्यकर्ताओं, ट्रेडयूनिनिस्टों, कम्युनिस्टों, हड़तालियों आदि पर हमले और उनकी हत्याएँ करनी शुरू की। फ़्रासीवाद पूँजी, और विशेषकर बड़ी पूँजी की सेवा में अपने हरबे-हथियारों के साथ हाज़िर था।

दक्षिणी इटली में बड़े भूस्वामी अपने तर्ई स्वयं फ़्रासीवादी तरीक़ों से किसानों और खेतिहर मज़दूरों के संघर्ष का दमन कर रहे थे। फ़्रासीवाद की यह क्रिस्म जल्दी ही मुसोलिनी के फ़्रासीवाद में समाहित हो गयी और बड़ा भूस्वामी वर्ग मुसोलिनी का एक बड़ा समर्थक बनकर उभरा। 1920 के अन्त में एक अन्य प्रतिद्वन्द्वी फ़्रासीवादी संगठन जिसका नेता **गेब्रियेल द'अनुंसियो** था, मुसोलिनी की फ़्रासीवादी धारा में शामिल

हो गया। 1921 तक इतालवी समाजवादी पार्टी द्वारा बिना किसी तैयारी के किया गया सशस्त्र विद्रोह कुचला जा चुका था। शहरों में क्रायम हुआ मज़दूर नियन्त्रण योजना और हथियारबन्द तैयारी के अभाव में कुचला जा चुका था। फ़्रासीवादी आन्दोलन की बढ़त स्पष्ट रूप से हासिल हो चुकी थी। अक्टूबर 1922 में मुसोलिनी ने नेपल्स में फ़्रासीवादी पार्टी की कांग्रेस में निर्णय लिया कि फ़्रासीवादी रोम पर हमला करेंगे। फ़्रासीवादी सशस्त्र गिरोहों ने रोम पर चढ़ाई शुरू कर दी। राजा **विक्टर इमानुएल तृतीय** ने घुटने टेक दिये और मुसोलिनी को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया। इसके साथ 1922 में मुसोलिनी इटली का प्रधानमंत्री बना। उसने एक गठबन्धन सरकार गठित की जिसमें इतालवी संशोधनवादी शामिल थे, जिस पर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए! उनका मानना था कि मुसोलिनी को वे उदारवादी धारा का अंग बना लेंगे। इतिहास ने उनकी इस इच्छा को मूर्खतापूर्ण साबित किया।

1924 के चुनावों में फ़्रासीवादी पार्टी को 65 प्रतिशत वोट प्राप्त हुए। हालाँकि, सामाजिक जनवादी नेता **मात्तिओत्ती** ने संसद में प्रमाण सहित साबित किया कि चुनाव में फ़्रासीवादियों ने घपले और बल के आधार पर दो-तिहाई के करीब वोट हासिल किये हैं, लेकिन फ़्रासीवादियों ने संसद में शोर मचाकर उसे आगे बोलने ही नहीं दिया। दो महीने बाद फ़्रासीवादी गुण्डों ने मात्तिओत्ती को चाकू से गोद-गोदकर मार डाला। यही हाल जल्दी ही उन सभी राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियों का हुआ जिन्होंने मुसोलिनी की मुखालफ़त की हिम्मत की। 1925 में मुसोलिनी ने अपनी खुली तानाशाही को स्थापित करने की प्रक्रिया शुरू कर दी। एक-एक करके सभी अन्य पार्टियों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। नवम्बर, 1926 में **“अपवादस्वरूप पेश क़ानूनों”** के साथ यह प्रक्रिया पूरी हो गयी। इसके बाद के 17 वर्षों में मुसोलिनी ने अपने सभी राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियों को ख़त्म करने का काम किया और किसी को भी सिर नहीं उठाने दिया।

फ़्रासीवादी शासन के सुदृढ़ रूप से स्थापित होने के बाद मज़दूर प्रतिरोध को बुरी तरह कुचल दिया गया। कहने के लिए **मालिकों और मज़दूरों के संघ** बनाये गये, जिसमें कि फ़्रासीवादी पार्टी के लोग भी होते थे। इन संघों को ही निर्णय लेने का अधिकार था कि उत्पादन कितना, कैसे और किसके लिए किया जाये। लेकिन यह बात बस दिखावा थी। वास्तव में मज़दूर प्रतिनिधि इसमें कुछ भी नहीं बोल सकते थे। सारे निर्णय पूँजीपतियों के प्रतिनिधि फ़्रासीवादियों के साथ मिलकर लेते थे। मज़दूरों के एक हिस्से को फ़्रासीवादियों ने अपने साथ मिला रखा था जिसके कारण मज़दूर कोई संगठित प्रतिरोध नहीं खड़ा कर पाते थे। अपने साथ मज़दूरों को शामिल करने

के लिए फ्रासीवादियों ने उनके बीच सुधार के काम किये और उनके मनोरंजन के लिए क्लब आदि बनाये। साथ ही, उनके बीच आपसी आर्थिक सहयोग के संगठन बनाये जिनका फ्रायदा 10 से 15 फ्रीसदी मजदूरों को मिलता था। लेकिन सिर्फ इतने मजदूरों को एक भ्रामक और बेहद मामूली फ्रायदा पहुँचाकर और अच्छे-खासे मजदूरों को इस फ्रायदे का सपना दिखलाकर वे मजदूरों की वर्ग चेतना 40 और एकजुटता को तोड़ने में सफल हो गये। यही कारण था कि ऐसे मालिक-मजदूर संघों में मजदूरों का जबरदस्त शोषण जारी रहा और उसका कोई कारगर प्रतिरोध भी नहीं हो सका। बाद में बात यहाँ तक पहुँच गयी कि हड़ताल पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया, किसी भी प्रकार के प्रदर्शन या जुटान को अपराध घोषित कर दिया गया, ट्रेड यूनियनों पर रोक लगा दी गयी और उनकी जगह पूँजी के तलवे चाटने वाले मजदूर संघों ने ले ली जिनमें फ्रासीवादी घुसे होते थे। फ्रासीवादियों ने वर्ग सहयोग के नाम पर उजरती श्रम की गुलामी को और अधिक बढ़ाया तथा मजदूरों को पूँजीपतियों का और अधिक गुलाम बनाया।

इतालवी फ्रासीवाद को कृषक पूँजीपति वर्ग का भी जबरदस्त समर्थन प्राप्त था। हम पहले भी बता चुके हैं कि उत्तरी इटली में पूँजीवादी कृषि का विकास हो गया था और वहाँ एक उन्नत कृषक पूँजीपति वर्ग सामने आ चुका था। लेकिन साथ ही गरीब किसानों और खेतिहर मजदूरों का एक आन्दोलन भी कम्युनिस्टों और समाजवादियों के नेतृत्व में पैदा हो चुका था। संगठित किसान व खेतिहर मजदूर संघर्षों के कारण मुनाफ़े की दर कम होती जा रही थी। इससे निपटने के लिए इन पूँजीपतियों को राजसत्ता के समर्थन की आवश्यकता थी। लेकिन इतालवी एकीकरण के बाद उदारवादी पूँजीवादी राजसत्ता इतनी ताकतवर नहीं थी कि पूँजी के पक्ष में कोई खुला दमनात्मक क़दम उठा सके। नतीजतन यहाँ पर फ्रासीवादियों के उभार की एक ज़मीन मौजूद थी। फ्रासीवादियों ने कृषक पूँजीपतियों से इन मजदूर आन्दोलनों पर नकेल कसने का वायदा किया और इसके बदले में उन्हें उनका सहयोग-समर्थन प्राप्त हुआ। राज्य हस्तक्षेप की जगह फ्रासीवादियों के नग्न हस्तक्षेप ने ली। दक्षिणी इटली में बड़े भूस्वामी वर्ग को फ्रासीवादी पार्टी के समर्थन की ज़रूरत नहीं थी क्योंकि वह सभी फ्रासीवादी क़दम और हिंस्र हमले अपने माफ़िया गिरोहों के दम पर कर लेता था और अपने यहाँ की गरीब किसान व काशतकार आबादी व खेतिहर मजदूरों को कुचलकर रखता था। यहाँ का बड़ा भूस्वामी वर्ग भी फ्रासीवाद का जबरदस्त समर्थक बना।

इटली में फ्रासीवाद के उदय की पृष्ठभूमि और प्रक्रिया के इस विश्लेषण के बाद साफ़ है कि यहाँ पर भी फ्रासीवादी उभार की मूल वजहें कमोबेश वही रही हैं जो

जर्मनी में थीं। जर्मनी में फ़्रासीवाद के उदय का कालानुक्रम अलग था, लेकिन वहाँ भी प्रेरक शक्तियाँ कमोबेश वे ही थीं। लेकिन इटली और जर्मनी में फ़्रासीवाद की परिघटना का स्वरूप और चरित्र काफ़ी हद तक भिन्न था। इनमें समानता केवल इस मूल कारण के धरातल पर थी कि फ़्रासीवाद की प्रतिक्रियावादी सम्भावना पूँजीवादी आर्थिक व राजनीतिक संकट के परिणामस्वरूप पैदा होती है। इन दोनों ही देशों में अलग-अलग रूपों यह संकट उपस्थित था और यही इन दोनों ही देशों में फ़्रासीवाद के उभार का मूल कारण बना।

फ़्रासीवादी उभार की ज़मीन हमेशा पूँजीवादी विकास से पैदा होने वाली बेरोज़गारी, गरीबी, भुखमरी, अस्थिरता, असुरक्षा, अनिश्चितता और आर्थिक संकट से तैयार होती है। फ़्रासीवादी प्रतिक्रिया के पैदा होने की उम्मीद उन देशों में सबसे अधिक होती है जहाँ पूँजीवादी विकास किसी क्रान्तिकारी प्रक्रिया के द्वारा नहीं बल्कि एक विकृत, विलम्बित और ठहरावग्रस्त प्रक्रिया से होता है। जर्मनी और इटली विश्व इतिहास के पटल पर बहुत देर से पैदा होने वाले राष्ट्र थे। इन देशों में एकीकृत पूँजीवाद और उसकी मण्डी में पैदा होने वाला अन्धराष्ट्रवाद तब अस्तित्व में आया जब विश्व पैमाने पर पूँजीवाद अपनी चरम अवस्था साम्राज्यवाद, यानी इज़ारेदार पूँजीवाद, की अवस्था में प्रवेश कर चुका था। नतीजतन, इन दोनों ही देशों में पूँजीवादी विकास बेहद द्रुत गति से हुआ जिसने आम मेहनतकश आबादी, निम्न मध्यवर्गीय आबादी और आम मध्यवर्गीय आबादी को इस गति से उजाड़ा जिसे सोख पाने की क्षमता इन देशों के अविकसित पूँजीवादी जनवाद में नहीं थी।

दूसरी तरफ़, विश्वव्यापी पूँजीवादी मन्दी ने इन दोनों ही देशों के पूँजीपति वर्ग की हालत खस्ता कर दी थी। पूँजीपति वर्ग अब उदार पूँजीवादी जनवाद और उसकी कल्याणकारी नीतियों का खर्च उठाने के लिए क़तई तैयार नहीं था। वह मज़दूरों को उनके श्रम अधिकार देने के लिए भी तैयार नहीं था। इसके लिए सभी जनवादी अधिकारों का दमन और मज़दूर आन्दोलन को कुचलना ज़रूरी था। इस आन्दोलन को एक प्रतिक्रियावादी आन्दोलन के ज़रिये ही कुचला जा सकता था। जर्मनी में नात्सी पार्टी और इटली में फ़्रासीवादी पार्टी ने यह प्रतिक्रियावादी आन्दोलन निम्न पूँजीपति वर्ग, लम्पट सर्वहारा वर्ग, धनी और मँझोले किसान वर्ग की प्रतिक्रिया की लहर पर सवार होकर खड़ा किया। हालाँकि समय ने यह साबित किया कि फ़्रासीवादी उभार ने निम्न पूँजीपति वर्ग और लम्पट सर्वहारा या मँझोले किसान को कुछ भी नहीं दिया। आगे चलकर उनका भी दमन किया गया। वास्तव में, फ़्रासीवादी उभार ने हर हमेशा मुख्य तौर पर दो ही वर्गों को फ़ायदा पहुँचाया क्योंकि वह उन्हीं का प्रतिनिधि

था – वित्तीय और औद्योगिक बड़ा पूँजीपति वर्ग और धनी किसान, कुलक व फार्मरों का वर्ग, यानी बड़ा कृषक पूँजीपति वर्ग। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि इतिहास के समक्ष और कोई रास्ता नहीं था। सच्चाई तो यह है कि ऐसे देशों में पूँजीवादी संकट पैदा होने के बाद क्रान्तिकारी सम्भावना और प्रतिक्रियावादी सम्भावना, दोनों ही समान रूप से मौजूद रहती हैं। इटली और जर्मनी, दोनों ही देशों में फ्रासीवादी उभार का एक बहुत बड़ा कारण मज़दूर वर्ग के ग़द्दार सामाजिक जनवादियों की हरकतें रहीं। इन दोनों ही देशों में क्रान्तिकारी सम्भावना ज़बरदस्त रूप से मौजूद थी, लेकिन सामाजिक जनवादियों ने मज़दूर आन्दोलन को अर्थवाद, सुधारवाद, संसदवाद और ट्रेड यूनियनवाद की चौहद्दी में ही कैद रखा। पूरा मज़दूर आन्दोलन जर्मनी में सर्वाधिक संगठित था, लेकिन वह महज़ एक दबाव डालने वाला कारक बनकर रह गया जो प्राप्त कर लिये गये जनवादी अधिकारों से चिपका रह गया, जबकि पूँजीवाद का संकट अब पूँजीवाद के विकल्प की माँग कर रहा था। कोई विकल्प न होने की सूरत में वही क्रान्तिकारी सम्भावना प्रतिक्रियावाद की दिशा में मुड़ गयी और जर्मनी में नात्सी पार्टी तथा इटली में फ्रासीवादी पार्टी इसके इस्तेमाल के लिए तैयार खड़ी थीं।

अन्त में, हम समाहार करते हुए कह सकते हैं कि फ्रासीवादी उभार की सम्भावना ऐसे पूँजीवादी देशों में हमेशा पैदा होगी जहाँ पूँजीवाद बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के ज़रिये नहीं आया, बल्कि किसी प्रकार की क्रमिक प्रक्रिया से आया; जहाँ क्रान्तिकारी भूमि सुधार लागू नहीं हुए; जहाँ पूँजीवाद का विकास किसी लम्बी, सुव्यवस्थित, गहरी पैठी प्रक्रिया के ज़रिये नहीं बल्कि असामान्य रूप से अव्यवस्थित, अराजक और द्रुत प्रक्रिया से हुआ; जहाँ ग्रामीण क्षेत्रों में पूँजीवाद इस तरह विकसित हुआ कि सामन्ती अवशेष किसी न किसी मात्रा में बचे रहे। ऐसे सभी देशों में पूँजीवाद का संकट बेहद जल्दी उथल-पुथल की स्थिति पैदा कर देता है। समाज में बेरोजगारी, ग़रीबी, अनिश्चितता, असुरक्षा का पैदा होना और करोड़ों की संख्या में जनता का आर्थिक, सामाजिक और भौगोलिक तौर पर उजड़ना बहुत तेज़ी से होता है। ऐसे में पैदा होने वाली क्रान्तिकारी परिस्थिति को कोई तपी-तपायी क्रान्तिकारी पार्टी सम्भाल सकती है। फ्रासीवादी उभार होना ऐसी परिस्थिति का अनिवार्य नतीजा नहीं होता है। फ्रासीवादी उभार हर-हमेशा सामाजिक जनवादियों की घृणित ग़द्दारी के कारण और क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों की अकुशलता के कारण सम्भव हुआ है। जर्मनी और इटली दोनों ही इस तथ्य के साक्ष्य हैं।

अब तक हमने फ़्रासीवाद के उदय की आम पृष्ठभूमि और आर्थिक-सामाजिक स्थितियों के बारे में पढ़ा और साथ ही जर्मनी तथा इटली में फ़्रासीवाद के क्लासिकीय विनाशकारी प्रयोग के बारे में भी जाना। अब हम भारत में फ़्रासीवादी उभार के इतिहास, पृष्ठभूमि, विशेषताओं और उसके वर्तमान हालात के बारे में पढ़ेंगे।

भारत में फ़्रासीवाद जर्मनी या इटली की तरह कभी सत्ता में नहीं आया। हालाँकि भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व में एक गठबन्धन सरकार भारत में करीब 6 वर्षों तक रही लेकिन वह हिटलर या मुसोलिनी के सत्ता में आने से बिल्कुल भिन्न था। इसके अतिरिक्त, भाजपा ने अपने बूते सरकार नहीं बनायी थी। वह एक गठबन्धन सरकार थी जिसके अपने आन्तरिक खिंचाव और तनाव थे, जिनके कारण भाजपा अपने फ़्रासीवादी एजेण्डे को खुलकर लागू नहीं कर सकती थी। लेकिन भाजपा ने एक गठबन्धन सरकार के रहते जितना किया उतने से ही साफ़ हो गया था कि अगर वह पूर्ण बहुमत के साथ सत्ता में आती तो क्या करती। (यह स्थिति अब, यानी मई 2016 के बाद साफ़ हो रही है – लेखक) जर्मनी या इटली की तरह फ़्रासीवाद भारत में कभी सत्ता में नहीं आया लेकिन समाज के पोर-पोर में पैठी एक बड़ी ताक़त के रूप में भारत में लम्बे समय से मौजूद रहा है। सबसे पहले राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बारे में कुछ बुनियादी जानकारियाँ साझा कर लेना उपयोगी होगा। उसके बाद हम भारत में फ़्रासीवाद के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उत्स के बारे में भी चर्चा करेंगे।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ : भारतीय फ़्रासीवादियों की असली जन्मकुण्डली

भारत में फ़्रासीवाद का इतिहास लगभग उतना ही पुराना है जितना कि जर्मनी और इटली में। जर्मनी और इटली में फ़्रासीवादी पार्टियाँ 1910 के दशक के अन्त या 1920 के दशक की शुरुआत में बनीं। भारत में **राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ** की स्थापना 1925 में नागपुर में विजयदशमी के दिन हुई। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक थे **केशव बलिराम हेडगेवार**। हेडगेवार जिस व्यक्ति के प्रभाव में फ़्रासीवादी विचारों के सम्पर्क में आये थे वह था **बालकृष्ण शिवराम मुंजे**। मुंजे 1931 में इटली गया था और वहाँ उसने मुसोलिनी से भी मुलाक़ात की थी। 1924 से 1935 के बीच आरएसएस से करीबी रखने वाले अख़बार 'केसरी' ने मुसोलिनी और उसकी फ़्रासीवादी सत्ता की प्रशंसा में लगातार लेख छापे। मुंजे ने हेडगेवार को मुसोलिनी द्वारा युवाओं के

दिमागों में ज़हर घोलकर उन्हें फ़्रासीवादी संगठन में शामिल करने के तौर-तरीकों के बारे में बताया। हेडगेवार ने उन तौर-तरीकों का इस्तेमाल उसी समय से शुरू कर दिया और आरएसएस आज भी उन्हीं तरीकों का इस्तेमाल करती है। 1930 के दशक के अन्त तक भारतीय फ़्रासीवादियों ने बम्बई में उपस्थित इतालवी कांसुलेट से भी सम्पर्क स्थापित कर लिया। वहाँ मौजूद इतालवी फ़्रासीवादियों ने हिन्दू फ़्रासीवादियों से सम्पर्क कायम रखा।

लगभग इसी समय एक अन्य हिन्दू कट्टरपन्थी **विनायक दामोदर सावरकर**, जिनके बड़े भाई राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापकों में से एक थे, ने जर्मनी के नात्सियों से सम्पर्क स्थापित किया। सावरकर ने जर्मनी में हिटलर द्वारा यहूदियों के सफ़ाये को सही ठहराया और भारत में मुसलमानों की ‘समस्या’ के समाधान का भी यही रास्ता सुझाया। जर्मनी में ‘यहूदी प्रश्न’ का ‘अन्तिम समाधान’ सावरकर के लिए एक मॉडल था। सावरकर के लिए नात्सी राष्ट्रवादी थे जबकि यहूदी राष्ट्र-विरोधी और साम्प्रदायिक। **लेनिन ने बहुत पहले ही आगाह किया था कि नस्लवादी अन्धराष्ट्रवादी पागलपन अक्सर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का चोला पहनकर आ सकता है।** भारत में हिन्दू साम्प्रदायिक अन्धराष्ट्रवाद भी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का जामा पहनकर ही सामने आ रहा था।

आरएसएस ने भी खुले तौर पर जर्मनी में नात्सियों द्वारा यहूदियों के क्रत्लेआम का समर्थन किया। हेडगेवार ने मृत्यु से पहले गोलवलकर को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। गोलवलकर ने अपनी पुस्तक ‘**वी, ऑर अवर नेशनहुड डिफ़ाइण्ड**’ और बाद में प्रकाशित ‘**बंच ऑफ़ थॉट्स**’ में जर्मनी में नात्सियों द्वारा उठाये गये क्रदमों का अनुमोदन किया था। गोलवलकर आरएसएस के लोगों के लिए सर्वाधिक पूजनीय सरसंघचालक थे। उन्हें आदर से संघ के लोग ‘गुरुजी’ कहते थे। गोलवलकर ने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में मेडिकल की पढ़ाई की और उसके बाद कुछ समय के लिए वहाँ पढ़ाया भी। इसी समय उन्हें ‘गुरुजी’ नाम मिला। हेडगेवार के कहने पर गोलवलकर ने संघ की सदस्यता ली और कुछ समय तक संघ में काम किया। अपने धार्मिक रुझान के कारण गोलवलकर कुछ समय के लिए आरएसएस से चले गये और किसी गुरु के मातहत संन्यास रखा। इसके बाद 1939 के क़रीब गोलवलकर फिर से आरएसएस में वापस आये। इस समय तक हेडगेवार अपनी मृत्युशैया पर थे और उन्होंने गोलवलकर को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। 1940 से लेकर 1973 तक गोलवलकर आरएसएस के सुप्रीमो रहे।

गोलवलकर के नेतृत्व में ही आरएसएस के वे सभी संगठन अस्तित्व में आये

जिन्हें आज हम जानते हैं। आरएसएस ने इसी दौरान अपने स्कूलों का नेटवर्क देश भर में फैलाया। संघ की शाखाएँ भी बड़े पैमाने पर इसी दौरान पूरे देश में फैलीं। विश्व हिन्दू परिषद् जैसे आरएसएस के आनुषंगिक संगठन इसी दौरान बने। गोलवलकर ने ही आरएसएस की फ़ासीवादी विचारधारा को एक सुव्यवस्थित रूप दिया और उनके नेतृत्व में ही आरएसएस की पहुँच महाराष्ट्र के ब्राह्मणों से बाहर तक गयी। आरएसएस सही मायनों में एक अखिल भारतीय संगठन गोलवलकर के नेतृत्व में ही बना। यही कारण है कि गोलवलकर आज भी संघ के लोगों में सबसे आदरणीय माने जाते हैं और अभी दो वर्ष पहले ही संघियों ने देश भर में उनकी जन्मशताब्दी मनायी थी।

आरएसएस ने अंग्रेजों के खिलाफ़ किसी भी स्वतन्त्रता संघर्ष में हिस्सा नहीं लिया। संघ हमेशा ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के साथ तालमेल करने के लिए तैयार था। उनका निशाना शुरू से ही मुसलमान, कम्युनिस्ट और ईसाई थे। लेकिन ब्रिटिश शासक कभी भी उनके निशाने पर नहीं थे। ‘भारत छोड़ो आन्दोलन’ के दौरान संघ देशव्यापी उथल-पुथल में शामिल नहीं हुआ था। उल्टे जगह-जगह उसने इस आन्दोलन का बहिष्कार किया और अंग्रेजों का साथ दिया था। श्यामाप्रसाद मुखर्जी द्वारा बंगाल में अंग्रेजों के पक्ष में खुलकर बोलना इसका एक बहुत बड़ा उदाहरण था। गलती से अगर कोई संघ का व्यक्ति अंग्रेजों द्वारा पकड़ा या गिरफ़्तार किया गया तो हर बार उसने माफ़ीनामा लिखते हुए ब्रिटिश शासन के प्रति अपनी क़ादारी को दोहराया और हमेशा क़ादार रहने का वायदा किया। स्वयं पूर्व प्रधानमंत्री अटलबिहारी वाजपेयी ने भी यह काम किया। ऐसे संघियों की फ़ेहरिस्त काफ़ी लम्बी है जो माफ़ीनामे लिख-लिखकर ब्रिटिश जेलों से बाहर आये और जिन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम सेनानियों के खिलाफ़ अंग्रेजों से मुखबिरी करने का धिनौना काम तक किया। ब्रिटिश उपनिवेशवादी राज्य ने भी इसी क़ादारी का बदला चुकाया और हिन्दू साम्प्रदायिक फ़ासीवादियों को कभी भी निशाना नहीं बनाया। संघ आज राष्ट्रवादी होने का चाहे जितना गुण गा ले वह स्वतन्त्रता आन्दोलन में शामिल न होने और अंग्रेजों का साथ देने का दाग़ अपने दामन से कभी नहीं मिटा सकता है। इतिहास को फिर से लिखने के संघ के प्रयासों के पीछे का मुख्य कारण यही है। वे अपने ही इतिहास से डरते हैं। वे जानते हैं कि उनका इतिहास गद्दारियों और क़ायरताओं का एक काला इतिहास रहा है। हिंसा से उनको बहुत प्रेम है, लेकिन झुण्ड में पौरुष प्रदर्शन वाली हिंसा से। वे कभी किसी जनान्दोलन में शामिल नहीं हुए और उनमें किसी दमन को झेलने की ताक़त नहीं है। हमेशा सत्ता के साथ नाभिनालबद्ध रहते हुए व्यवस्था के खिलाफ़ लड़ने वालों पर कायराना हिंस्र हमले करना इनकी फ़ितरत रही है। चाहे

वे मुसलमान रहे हों, ईसाई या फिर कोई भी राजनीतिक विरोधी। बहादुराना संघर्ष से इनका दूर-दूर तक कभी कोई वास्ता नहीं रहा है।

संघ का पूरा ढाँचा शुरू से ही फ़्रासीवादी रहा था। यह लम्बे समय तक सिर्फ़ पुरुषों के लिए ही खुला था। संघ की महिला शाखा बहुत बाद में बनायी गयी। संघ का पूरा आन्तरिक ढाँचा हिटलर और मुसोलिनी की पार्टियों से हूबहू मेल खाता है। हर सदस्य यह शपथ लेता है कि वह सरसंघचालक के हर आदेश का बिना सवाल किये पालन करेगा। सरसंघचालक सबसे ऊपर होता है और उसके नीचे एक सरकार्यवाह होता है जिसे सरसंघचालक ही नियुक्त करता है। एक केन्द्रीय कार्यकारी मण्डल होता है जिसे स्वयं सरसंघचालक चुनता है। अपना उत्तराधिकारी भी सरसंघचालक चुनता है। यानी पूरी तरह एक 'कमाण्ड स्ट्रक्चर' जिसमें जनवाद की कोई जगह नहीं है। नात्सी और फ़्रासीवादी पार्टी का पूरा ढाँचा इसी प्रकार का था। नात्सी पार्टी में 'फ़्यूहरर' के नाम पर शपथ ली जाती थी और फ़्रासीवादी पार्टी में 'ड्यूस' के नाम पर शपथ ली जाती थी।

यह बताने की ज़रूरत नहीं है कि यह हमेशा से सिर्फ़ हिन्दुओं के लिए खुला रहा है। यह खुले तौर पर कहता है कि यह हिन्दुओं के हितों की सेवा करने के लिए है। संघ ने कभी भी निचली जातियों या निचले वर्गों के हिन्दुओं के लिए कोई काम नहीं किया है। इनका समर्थन भी हमेशा से उजड़े टुटपुँजिया पूँजीपति वर्ग, नवधनाढ्यो और लम्पट सर्वहारा के बीच रहा है। संघ के सामाजिक आधार पर हम आगे आयेगो। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने भारत में फ़्रासीवाद का अपना मौलिक संस्करण तैयार किया। इसकी हिटलर और मुसोलिनी के फ़्रासीवाद से काफ़ी समानताएँ थीं और उनसे इन्होंने काफ़ी कुछ सीखा। गोलवलकर लिखते हैं – “आज जो दूसरा राष्ट्र दुनिया की नज़रों में सबसे ज़्यादा है, वह है जर्मनी। यह राष्ट्रवाद का बहुत ज्वलन्त उदाहरण है। आधुनिक जर्मनी कर्मरत है तथा जिस कार्य में वह लगा हुआ है, उसे काफ़ी हद तक उसने हासिल भी कर लिया है... पितृभूमि के प्रति जर्मन गर्वबोध, जिसके प्रति उस जाति का परम्परागत लगाव रहा है, सच्ची राष्ट्रीयता का ज़रूरी तत्व है। आज वह राष्ट्रीयता जाग उठी है तथा उसने नये सिरे से विश्वयुद्ध छेड़ने का जोखिम उठाते हुए अपने “पुरखों के क्षेत्र” पर एकजुट, अतुलनीय, विवादहीन, जर्मन साम्राज्य की स्थापना करने की ठान ली है।...” (गोलवलकर, ‘वी, ऑर अवर नेशनहुड डिफ़ाइण्ड, पृ. 34-35)

गोलवलकर ने इसी पुस्तक में यहूदियों के कल्लेआम का भरपूर समर्थन किया और इसे भारत के लिए एक सबक मानते हुए लिखा – “...अपनी जाति और संस्कृति

की शुद्धता बनाये रखने के लिए जर्मनी ने देश से सामी जातियों – यहूदियों – का सफ़ाया करके विश्व को चौंका दिया है। जाति पर गर्वबोध यहाँ अपने सर्वोच्च रूप में व्यक्त हुआ है। जर्मनी ने यह भी बता दिया है कि सारी सदृच्छाओं के बावजूद जिन जातियों और संस्कृतियों के बीच मूलगामी फ़र्क़ हों, उन्हें एक रूप में कभी नहीं मिलाया जा सकता। हिन्दुस्तान में हम लोगों के लाभ के लिए यह एक अच्छा सबक है।” (गोलवलकर, वही, पृ. 35)। हिटलर की इसी सोच को गोलवलकर भारत पर लागू कैसे करते हैं, देखिये : “...जाति और संस्कृति की प्रशंसा के अलावा मन में कोई और विचार न लाना होगा, अर्थात् हिन्दू राष्ट्रीय बन जाना होगा और हिन्दू जाति में मिलकर अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को गँवा देना होगा, या इस देश में पूरी तरह हिन्दू राष्ट्र की गुलामी करते हुए, बिना कोई माँग किये, बिना किसी प्रकार का विशेषाधिकार माँगे, विशेष व्यवहार की कामना करने की तो उम्मीद ही न करें; यहाँ तक कि बिना नागरिकता के अधिकार के रहना होगा। उनके लिए इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं छोड़ना चाहिए। हम एक प्राचीन राष्ट्र हैं। हमें उन विदेशी जातियों से जो हमारे देश में रह रही हैं उसी प्रकार निपटना चाहिए जैसे कि प्राचीन राष्ट्र विदेशी नस्लों से निपटा करते हैं।” (गोलवलकर, वही, पृ. 47-48)। बात बिल्कुल साफ़ है। मुसलमानों और ईसाइयों के प्रति संघ के विचार वही हैं जो यहूदियों के प्रति हिटलर के थे।

संघ का राष्ट्र कौन है? हिन्दू, लेकिन सारे हिन्दू नहीं। उच्च जाति के पुरुष हिन्दू स्त्रियों को हिटलर और मुसोलिनी के समान ही पुरुष का सेवक और स्वस्थ बच्चे पैदा करने के यन्त्र से अधिक और कुछ नहीं माना गया है। हिन्दुओं में भी, वे हिन्दू जिनके पास समाज के संसाधनों का मालिकाना है। मजदूर वर्ग का काम है कि महान प्राचीन हिन्दू राष्ट्र की उन्नति और प्रगति के लिए बिना सवाल उठाये खटते रहें – 12 घण्टे और कभी-कभी तो 14-15 घण्टे तक। इस पर सवाल खड़े करना या श्रमिक अधिकारों की बात करना राष्ट्र-विरोधी माना जाएगा। हर कोई अपना ‘कर्म’ करे, सवाल नहीं! कर्म आपके जन्म से तय होता है। आप जहाँ, जिस घर में, जिस परिवार में जन्मे आपको वैसा ही कर्म करना है। या फिर जैसा आपके राष्ट्र, धर्म और जाति का नेता आपसे कहे। प्रतिरोध, विरोध और प्रश्न राष्ट्रद्रोह है! श्रद्धा-भाव से कर्म कीजिए। मजदूरों का यही धर्म है कि वे ‘राष्ट्र प्रगति’ में अपना हाड़-मांस गला डालें! बताने की ज़रूरत नहीं है कि संघ और भाजपा के लिए राष्ट्र का अर्थ है पूँजीपतियों, दुकानदारों, टुटपुँजियों की बिरादरी। जब ये मुनाफ़ाखोर तरक्की करते हैं और मुनाफ़ा कमाते हैं तो ही राष्ट्र तरक्की करता है। हिटलर और मुसोलिनी ने भी

अपने-अपने देशों में मजदूरों के प्रति यही रुख अपनाया था। इन देशों में फ्रासीवादी सत्ताएँ आने के साथ ही ट्रेड यूनियनों को प्रतिबन्धित कर दिया गया था। ट्रेड यूनियन आन्दोलन पर हिंस्र हमले इटली और जर्मनी में फ्रासीवादियों की गुण्डा फ़ौजों ने तब भी किये जब वे सत्ता में नहीं थे। मुम्बई में ट्रेड यूनियन नेताओं, मजदूरों और उनकी हड़तालों पर ऐसे ही हमले शिव सेना (जिसका फ्रासीवाद प्रेम जगजाहिर है) ने भी किये थे। देश भर में जगह-जगह बजरंग दल और विहिप के गुण्डों ने समय-समय पर पूँजीपतियों के पक्ष से मजदूरों, उनके नेताओं और हड़तालों को तोड़ने का काम किया है। जब वे इस क्रिस्म की आतंकवादी कार्रवाइयाँ नहीं कर रहे होते हैं तो वे मजदूरों की वर्ग एकता को तोड़ने का हर सम्भव प्रयास करते हैं। मिसाल के तौर पर, मजदूरों के बीच ऐसे संगठन बनाये जाते हैं जो मजदूरों की दुर्दशा के लिए पूँजीपति वर्ग को ज़िम्मेदार नहीं ठहराते। पूँजीपतियों से ख़ैरात लेकर और साथ ही मजदूरों के बीच से पैसे जुटाकर 'फ़ण्ड पूल' बनाये जाते हैं जो मजदूरों को बेरोज़गारी और भुखमरी की हालत में कुछ पैसे दे देता है।

कई बार ये पैसे सूद पर भी दिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त, धार्मिक अवसरों पर मजदूरों के बीच पूजा आदि करवाना, कीर्तन करवाना – ये ऐसे संगठनों का मुख्य काम होता है। साथ ही मजदूरों के दिमाग में यह बात भरी जाती है कि उनके हालात के ज़िम्मेदार अल्पसंख्यक हैं जो उनके रोज़गार आदि के अवसर छीन रहे हैं। इन फ्रासीवादी संगठनों के नेताओं के मुँह से अक्सर ऐसी बात सुनने को मिल जाती है – “17 करोड़ मुसलमान मतलब 17 करोड़ हिन्दू बेरोज़गार।” यह बरबस ही फ्रांस के फ्रासीवादी नेता **मरीन ल पेन** के उस कथन की याद दिलाता है जिसमें उसने कहा था – “दस लाख प्रवासी मतलब दस लाख फ्रांसीसी बेरोज़गार।” मजदूरों के बीच सुधार के कार्य करते हुए ये संघी संगठन मजदूरों की वर्ग चेतना को भोथरा बनाने का काम करते हैं। वे उन्हें हिन्दू मजदूर के तौर पर संगठित करने की कोशिश करते हैं, और इस प्रकार वे मजदूरों की वर्ग एकता को तोड़ते हैं। साथ ही, 'कमेटी' डालने (सूद पर पैसा देने वाली एक संस्था जिसे संघी संगठन मजदूरों के पैसे से ही बनाते हैं, जो देखने में आपसी सहकार जैसी लगती है) जैसी गतिविधियों के ज़रिये थोड़ी देर के लिए ही सही, मगर पूँजीपति वर्ग से अन्तरविरोधों को तीखा नहीं होने देते। संघ का एक ऐसा ही संगठन है '**सेवा भारती**'। साथ ही संघी ट्रेड यूनियन भारतीय मजदूर संघ अक्सर मुसोलिनी की तर्ज़ पर औद्योगिक विवादों के निपटारे के लिए 'कारपोरेटवादी' समाधान सुझाती है। इसमें फ्रासीवादी नेतृत्व में एक संघीय निकाय बनाया जाता है जिसमें मजदूरों और पूँजीपतियों के प्रतिनिधि बैठते हैं। फ्रासीवादी

पार्टी विवादों का निपटारा करती है और ऐसा वह हमेशा पूँजीपतियों के पक्ष में अधिक झुकते हुए करती है। या फिर हिटलर की तरह मजदूरों पर पूर्ण नियन्त्रण के लिए विभिन्न आतंकवादी संगठन बनाने का रास्ता भी आरएसएस हमेशा खोलकर रखता है। बजरंग दल एक ऐसा ही आतंकवादी संगठन है जिसे संघ ने हर प्रकार के राजनीतिक विरोध को असंवैधानिक रास्ते से सड़क पर झुण्ड हिंसा के जरिये निपटाने के लिए खड़ा किया है। यह कम्युनिस्टों, उदारवादियों, साहित्यकारों समेत मजदूरों और ट्रेड यूनियन प्रतिरोध को गुण्डों और मवालियों के झुण्ड के हिंस्र हमलों द्वारा शान्त करने में यत्न करता है। **यानी, भारत के फ़्रासीवादियों ने जर्मन और इतालवी तरीकों का मेल किया है।**

संक्षेप में कह सकते हैं कि फ़्रासीवादी हमेशा राष्ट्रवाद की ओट में पूँजीपति वर्ग की सेवा करते हैं। राष्ट्र से उनका मतलब पूँजीपति वर्ग और उच्च मध्य वर्ग हैं, बाक़ी वर्गों की स्थिति अधीनस्थ होती है और उन्हें उच्च राष्ट्र की सेवा करनी होती है; यही उनका कर्तव्य और दायित्व होता है। प्रतिरोध करने वालों को 'दैहिक और दैविक ताप से पूर्ण मुक्ति' दे दी जाती है। समाज में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए फ़्रासीवाद हमेशा ही सड़क पर झुण्डों में की जाने वाली हिंसा का सहारा लेता है। जर्मनी और इटली में भी ऐसा ही हुआ था और भारत में भी संघ ने यही रणनीति अपनायी। विश्व हिन्दू परिषद और बजरंग दल जैसे संघ के आनुषंगिक संगठन अक्सर इस तरीके को अपनाते हैं। भोपाल में प्रो. सभरवाल की हत्या इसी का एक उदाहरण था।

भारतीय फ़्रासीवाद की कार्यपद्धति और उसके उभार का इतिहास

फ़्रासीवाद ने भारत में जिस कार्यपद्धति को लागू किया उसकी भी जर्मन और इतालवी फ़्रासीवादियों की कार्यपद्धति से काफ़ी समानता रही है। जर्मनी और इटली की तरह यहाँ भी फ़्रासीवाद ने जिन तौर-तरीकों का उपयोग किया, वे थे सड़क पर की जाने वाली झुण्ड हिंसा; पुलिस, नौकरशाही, सेना और मीडिया का फ़्रासीवादीकरण; क़ानून और संविधान का खुलेआम मख़ौल उड़ाते हुए अपनी आतंकवादी गतिविधियों को अंजाम देना और इस पर उदारवादी पूँजीवादी नेताओं की चुप्पी; शुरुआत में अल्पसंख्यकों को निशाना बनाना और फिर अपने हमले के दायरे में हर प्रकार के राजनीतिक विरोध को ले आना; शाखाओं, शिशु मन्दिरों, सांस्कृतिक केन्द्रों और धार्मिक त्योहारों का उपयोग करते हुए **मिथकों को समाज के 'सामान्य बोध'**

(कॉमन सेंस) के तौर पर स्थापित कर देना (जैसे, आज उदारवादी हिन्दुओं में भी यह धारणा प्रचलित है कि मुसलमान बहुविवाह करते हैं, ज्यादा बच्चे पैदा करते हैं, शातिर होते हैं, हिन्दू राष्ट्र को निगल जाना चाहते हैं, गन्दे रहते हैं, आदि-आदि, जिनका सच्चाई से दूर-दूर तक कोई वास्ता नहीं है)। झूठा प्रचार : यह दुनिया भर के फ्रांसीवादियों की साझा रणनीति रही है। फ्रांसीवादी हमले का निशाना संस्थाएँ नहीं बल्कि व्यक्ति हुआ करते हैं (कम-से-कम तब तक जब तक कि वे सत्ता में न हों) और भारत में भी विरोधियों को आतंकित करने की यही नीति फ्रांसीवादियों द्वारा अपनायी गयी। अफ़वाहों का कुशलता से इस्तेमाल करना भी भारतीय फ्रांसीवादियों की एक प्रमुख निशानी रही है। जर्मनी और इटली की तरह ही एक ही साथ कई बातें बोलने का तरीका भी भारतीय फ्रांसीवादियों ने ख़ूब लागू किया है। उनका एक नर्म चेहरा होता है, एक उग्र चेहरा, एक मध्यवर्ती चेहरा और जब जिस चेहरे की ज़रूरत पड़ती है उसे आगे कर दिया जाता है। भारत में भी संघ का कोई एक स्थायी संविधान नहीं रहा है। ये जब जैसी ज़रूरत वैसा चाल-चेहरा-चरित्र अपनाने के हामी होते हैं। क्योंकि सभी फ्रांसीवादी अवसरवादी होते हैं और अपने तात्कालिक राजनीतिक हितों की पूर्ति के लिए वे किसी भी हद तक जा सकते हैं।

ये संघी फ्रांसीवादियों की आम कार्यपद्धति रही है। इन तौर-तरीकों में से अधिकांश संघियों ने अपने जर्मन और इतालवी पिताओं से ही सीखा है। इन्हीं कार्यपद्धतियों के इस्तेमाल के ज़रिये फ्रांसीवाद ने भारतीय समाज और जनमानस में जड़ें जमानी शुरू कीं।

आज़ादी के पहले 1890 के दशक और 1900 के दशक में भी हिन्दू और इस्लामी पुनरुत्थानवादियों के कारण हिन्दू-मुस्लिम तनाव पैदा हुए थे। लेकिन उस दौर में राष्ट्रवादी नेताओं द्वारा किये गये प्रयासों के चलते ये तनाव ज़्यादा तीव्र नहीं हो सके। 1910 के दशक में भी ऐसे तनाव पैदा हुए थे लेकिन 1916 के लखनऊ समझौते और खिलाफ़त आन्दोलन और असहयोग आन्दोलन के मिलने से हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सौहार्द्र की स्थिति थी और वे अपने साझा दुश्मन के तौर पर अंग्रेज़ी औपनिवेशिक सत्ता को देखते थे। इस दौरान भी हिन्दू महासभा नामक एक हिन्दू साम्प्रदायिक संगठन मौजूद था। लेकिन राष्ट्रवादी आन्दोलन द्वारा बनी साम्प्रदायिक एकता असहयोग आन्दोलन के पहले तक पूरी तरह टूट नहीं सकी, हालाँकि उसमें दरारें आनी शुरू हो गयी थीं। असहयोग आन्दोलन के अचानक वापस लिये जाने के साथ यह एकता टूटनी शुरू हो गयी। यही समय था जब देश में तमाम हिस्सों में हिन्दू पुनरुत्थानवादियों का उभार हो रहा था। सावरकर बन्धुओं का समय

यही था। लगभग यही समय था जब बंकिम चन्द्र का उपन्यास 'आनन्दमठ' प्रकाशित हुआ और राष्ट्रवाद के स्वरूप को लेकर एक पूरी बहस देश भर में चल पड़ी। इसमें एक धारा कांग्रेस के राष्ट्रवाद की थी जो पूँजीपति वर्ग के हितों के नेतृत्व में आम जनता को साम्राज्यवाद के खिलाफ लेने की बात करता था। यह समझौतापरस्त धारा थी। यह सेक्युलर तो थी मगर इसका सेक्युलरिज्म स्वयं हिन्दू पुनरुत्थानवाद की ओर झुकाव रखता था। जो कांग्रेसी नेता पुनरुत्थानवादी रुझान नहीं रखते थे उनका सेक्युलरिज्म पुंसत्वहीन था और कभी साम्प्रदायिक कट्टरता के खिलाफ लड़ नहीं सकता था। दूसरी अवस्थिति उस साम्राज्यवाद-विरोध की थी जो कम्युनिस्टों ने अपनायी। उन्होंने लगातार ईमानदारी से जनता को एकजुट करते हुए संघर्ष किया लेकिन तमाम रणनीतिक और कूटनीतिक मसलों पर साफ न हो पाने के कारण पूरे स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान उनसे तमाम गलतियाँ हुईं जिसके कारण वे कभी भी आन्दोलन के नेतृत्व को अपने हाथ में नहीं ले सके। और तीसरा पक्ष था हिन्दू साम्प्रदायिकतावादियों का जिन्होंने अपनी फ़ासीवादी विचारधारा को हिन्दू राष्ट्रवाद के चोगे में पेश किया। वे कितने राष्ट्रवादी थे यह तो हम देख ही चुके हैं। उनका असली प्रोजेक्ट फ़ासीवाद का था जिसे राष्ट्रवाद के चोगे में छिपाया गया था।

1925 में आरएसएस की स्थापना के समय तक कांग्रेसी राष्ट्रवाद साम्प्रदायिक एकता को कायम रखने की इच्छा और इरादा दोनों ही खोने लग गया था। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने हिन्दू साम्प्रदायिकता और मुस्लिम साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने और उन्हें आपस में लड़ाने का शुरू से ही हर सम्भव प्रयास किया। कई इतिहासकार तो यहाँ तक मानते हैं कि भारत में हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता अंग्रेजों की ही पैदा की हुई चीज है। अंग्रेजों के आने से पहले किसी साम्प्रदायिक दंगे का कहीं कोई हवाला नहीं मिलता है। यह पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवाद और अंग्रेजों के प्रयास के संगम से पैदा हुई थी। बंगाल का विभाजन करने के पीछे अंग्रेजों का सबसे बड़ा मकसद यही था। कहीं वे हिन्दू फ़ासीवादियों का साथ देते तो कहीं इस्लामी कट्टरपन्थियों का। जनगणना का भी अंग्रेजों ने साम्प्रदायिकता बढ़ाने के लिए बखूबी इस्तेमाल किया। कम्युनिस्टों ने इन प्रयासों का प्रतिरोध किया लेकिन फ़ासीवाद से लड़ने की कोई सुसंगत रणनीति न होने के कारण यह प्रतिरोध सफल न हो पाया।

साम्प्रदायिकता का कारण विरोध और ध्वंस न होने का नतीजा यह था कि 1925 में संघ की स्थापना के 15 वर्ष बीतते-बीतते उसकी सदस्यता करीब एक लाख तक पहुँच चुकी थी। उस समय तक संघ एक हिन्दू पुनरुत्थानवादी और कट्टरपन्थी अवस्थिति को अपनाता और उसका प्रचार करता था। उसके निशाने पर मुसलमान

प्रमुख तौर पर थे। औपनिवेशिक सत्ता का विरोध करना संघ ने कभी अपना कर्तव्य नहीं समझा और हमेशा अंग्रेजों का क्रादार बना रहा। लेकिन हिन्दू राष्ट्रवाद की बात करना वह शुरू कर चुका था। उसके प्रचार में प्राचीन भारत के “हिन्दू” गौरव का गुणगान होता था। अभी फ्रासीवादी विचारधारा को लागू करने में संघ स्वयं प्रशिक्षित हो रहा था। 1930 के दशक के अन्त तक गोलवलकर के नेतृत्व में संघ आधुनिक फ्रासीवादी विचारधारा और कार्यप्रणाली को भारतीय सन्दर्भों में लागू करने की शुरुआत कर चुका था। शाखाओं का विराट ताना-बाना देश के तमाम हिस्सों में फैलना शुरू हो चुका था। आजादी के आन्दोलन में अपनी शर्मनाक भूमिका को संघ ने आजादी के बाद अपने झूठे प्रचारों से ढँकना शुरू किया। यह काम संघ को आज तक करना पड़ता है क्योंकि संघ के नेताओं की गद्दारी के दस्तावेजी प्रमाण बड़े पैमाने पर मौजूद हैं, जैसे कि माफ़ीनामे, मुखबिरी, क्रादारी के वायदे, आदि, जो संघी फ्रासीवादियों ने अंग्रेजों से किये।

आजादी मिलने के बाद सत्ता कांग्रेस के हाथ में आयी और नेहरू प्रधानमन्त्री बने। गोलवलकर इस पर काफ़ी हताश हुए और उन्होंने इसे मुसलमानों के हाथों से मिली हार माना। इसके बाद संघ ने अपने तमाम संगठनों की स्थापना शुरू की जिनमें विश्व हिन्दू परिषद प्रमुख था। बाद में **बजरंग दल**, **वनवासी कल्याण परिषद**, **अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद**, **दुर्गा वाहिनी** इत्यादि संगठनों की भी स्थापना की गयी। इन सभी संगठनों के ज़रिये संघ ने देश के कोने-कोने में और हर सामाजिक श्रेणी में अपने पाँव पसारने शुरू किये। संघ 1980 के आते-आते देश का सबसे बड़ा संगठन बन चुका था। भाजपा सत्ता में आये या न आये पूँजीवादी व्यवस्था के रहते संघी फ्रासीवादी हमेशा एक खतरे के तौर पर मौजूद रहेंगे। एक अर्थशास्त्र **माइकल कालेकी** ने सत्ता से बाहर फ्रासीवाद को जंजीर से बँधे कुत्ते की संज्ञा दी थी। भारत में यह रूपक हूबहू लागू होता है। अगर यह कुत्ता जंजीर से न बँधा रहे और इसके हाथ में पूरी सत्ता हो तो वह क्या कर सकता है यह जर्मनी और इटली में हम देख चुके हैं। लेकिन जंजीर से बँधे होने की चिड़चिड़ाहट में भी यह कुत्ता बहुत से कुकृत्य कर सकता है, यह बात भारत के इतिहास से साबित होती है।

भारत में पिछले 4 दशकों में संघी फ्रासीवाद के अभूतपूर्व विस्तार के क्या कारण थे? भारत में फ्रासीवाद की ज़मीन क्या थी? कौन-से वर्ग फ्रासीवाद के सामाजिक आधार बने? यह समझना फ्रासीवाद से मुकाबले की रणनीति बनाने में सबसे ज़्यादा अहमियत रखता है।

भारतीय समाज में फ्रासीवाद की ज़मीन और उसके सामाजिक अवलम्ब

जर्मनी में फ्रासीवाद के लिए उपजाऊ ज़मीन की चर्चा करते हुए हमने बताया था कि किसी पूँजीवादी क्रान्ति, किसी क्रान्तिकारी भूमि सुधार और एक क्रान्तिकारी बुर्जुआ वर्ग की अनुपस्थिति; दो दशकों के भीतर अचानक तेज़ी से हुए अभूतपूर्व पूँजीवादी विकास और औद्योगिकीकरण के कारण बड़े पैमाने पर मज़दूरों का उजड़ना, बेरोज़गारी का बढ़ना, गरीबी का बढ़ना, असुरक्षा का बढ़ना, निम्न-पूँजीपति वर्ग का उजड़ना; किसी क्रान्तिकारी विकल्प के मौजूद न होने और सामाजिक जनवादियों द्वारा मज़दूर आन्दोलन को सुधारवाद की गलियों में भटकाते रहना और इसके कारण समाज में प्रतिक्रिया का आधार पैदा होना; बड़े पूँजीपति वर्ग के लिए संकट की स्थिति में किसी नग्न बुर्जुआ तानाशाही की ज़रूरत और इसके कारण नात्सी पार्टी का समर्थन करना; समाज में जनवादी मूल्यों और संस्कृति का अभाव; क्रान्तिकारी भूमि सुधार न होने के कारण बड़े भूस्वामियों (युंकरों) के एक धुर प्रतिक्रियावादी वर्ग की मौजूदगी; एक प्रतिक्रियावादी मझोले किसान वर्ग की मौजूदगी आदि ही वे कारण थे जिन्होंने जर्मनी में नात्सी पार्टी को सत्ता में पहुँचाया। इटली में औद्योगिक विकास जर्मनी के मुकाबले काफ़ी कम था। उत्तरी इटली में कुछ औद्योगिक विकास हुआ था और वहाँ भी यह विकास बेहद द्रुत गति से हुआ था जिसने समाज में मज़दूर और निम्न-पूँजीपति वर्ग को उजाड़ने के कारण समाज में एक आम असुरक्षा का माहौल पैदा किया था। दूसरी ओर दक्षिणी इटली था जहाँ पर बड़े ज़मींदारों की बड़ी-बड़ी जागीरें थीं, जिन्हें लातीफुदिया कहा जाता था। ये ज़मींदार भयंकर प्रतिक्रियावादी थे और इन्होंने शुरुआत में फ्रासीवादियों से अन्तरविरोध के बावजूद बाद में उनका पूरा साथ दिया। इटली में कम्युनिस्टों ने एक शानदार आन्दोलन चलाया और समाजवादी क्रान्ति के निकट तक पहुँचे। लेकिन अपरिपक्व सशस्त्र विद्रोह के कारण वह सफल नहीं हो पाया। तमाम शहरों में मज़दूरों की परिषदें खड़ी हुईं लेकिन उन्हें कुचल दिया गया। दूसरे इण्टरनेशनल में एक बार लेनिन ने इतालवी कम्युनिस्ट पार्टी के प्रतिनिधि मण्डल से काफ़ी क्षुब्ध होकर कहा था कि “क्रान्ति को पैदा करना होता है, यह उस तरह नहीं आती जैसे आप लोग उसे लाना चाहते हैं।” लेनिन का इशारा इसी अपरिपक्वता की तरफ़ था जिसके कारण इटली में आसन्न क्रान्ति को कम्युनिस्ट अंजाम नहीं दे सके। दूसरी तरफ़ इटली में समाजवादियों ने मज़दूर आन्दोलन के साथ वही किया जो जर्मनी में सामाजिक जनवादियों ने मज़दूर आन्दोलन के साथ किया

था – ट्रेड यूनियनवाद, अर्थवाद, अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद और सुधारवाद।

भारत में वे दोनों ही ज़मीनें मौजूद थीं जिन्होंने जर्मनी और इटली में फ़्रांसीवादी उभार को जन्म दिया। यहाँ पर जर्मनी जैसा औद्योगिक विकास हुआ है और दक्षिणी इटली जितना पिछड़ा कोई इलाक़ा तो नहीं है मगर प्रशियाई मार्ग से हुए क्रमिक भूमि सुधारों के कारण युंकरों जैसा एक पूँजीवादी भूस्वामी वर्ग मौजूद है। इसके अलावा भारत में एक नया धनी किसान वर्ग भी है जो हरित क्रान्ति के बाद पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, और कई अन्य प्रान्तों में पैदा हुआ है। यह धनी किसान वर्ग व्यवस्था समर्थक है और इसकी व्यवस्था से रार सिर्फ़ इस बात पर होती है कि वह कृषि उत्पादों का अधिक मूल्य पाना चाहता है। अपनी इस माँग पर वह मँझोले और गरीब किसान को भी अपने साथ लेने में अक्सर सफल हो जाता है। चरण सिंह के दौर तक यह धनी किसान और युंकर वर्ग चरण सिंह के साथ रहा। लेकिन चरण सिंह के दौर के बाद यह या तो क्षेत्रीय पार्टियों जैसे तेलुगूदेशम, समाजवादी पार्टी, आदि का आधार बना या फिर भाजपाई फ़्रांसीवाद का। (पिछले दो-तीन वर्षों में यह प्रक्रिया पश्चिमी उत्तर प्रदेश और हरियाणा में बड़े पैमाने पर होते हुए नज़र आ रही है – लेखक) यह भी गौरतलब है कि ये सभी किसानी क्षेत्रीय पार्टियाँ कई मौक़ों पर फ़्रांसीवाद का ही साथ देती हैं। दरअसल जर्मनी और इटली में भी यही हुआ था। ऐसे सभी दलों ने फ़्रांसीवादी पार्टी या नात्सी पार्टी का साथ दिया था। युंकरों, धनी किसानों और मँझोले और यहाँ तक कि गरीब किसानों तक का एक हिस्सा फ़्रांसीवाद का समर्थक बनता है। इसके दो प्रमुख कारण समझ में आते हैं, हालाँकि अलग-अलग क्षेत्रों में और कारण भी हो सकते हैं। पहला कारण है किसान वर्ग की पीछे देखने की अन्तर्निहित प्रवृत्ति। किसान वर्ग का कोई प्रगतिशील या भविष्योन्मुखी 'यूटोपिया' या स्वप्न नहीं होता। पूँजीवादी विकास के साथ किसानों का एक बड़ा हिस्सा उजड़ता है। ऐसे में वह स्वतःस्फूर्त तरीक़े से पूँजीवादी समाज के भीतर अपने सर्वहाराकृत हो जाने की नियति को नहीं समझता। अपने से तो वह ज़मीन के बचे-खुचे टुकड़े से चिपके रहना ही चाहता है (जो वास्तव में उसे कुछ नहीं देता)। वह अतीत के उन दिनों के बारे में बहुत लगाव के साथ सोचता है जब जीवन में पूँजीवादी गलाकाटू प्रतिस्पर्ध नहीं थी और वह अपने खेत पर चैन से गुज़र करता था (फिर से, ऐसा अतीत कभी था नहीं, यह उसकी रूमानी कल्पनाओं में ही होता है)। जब भी कोई पुनरुत्थानवादी ताक़त अतीत की ओर पश्चगमन के नारे देती है, स्वदेशी का राग अलापती है और इस सारी लफ़्फ़ाज़ी को धर्म की चाशनी में लपेटती है तो वह बरबादी की कगार पर खड़े किसानों समेत मँझोले और धनी किसानों को

बहुत रुचता है। दूसरा कारण होता है किसानों का सांस्कृतिक पिछड़ापना फ्रासीवादी ताकत किसानों के जीवन और संस्कृति में जनवादी मूल्यों की कमी, पिछड़ेपन और निरंकुशता का पूरा लाभ उठाती हैं और उन्हें सहयोजित करती हैं, यानी अपना लेती हैं। फ्रासीवाद एक आधुनिक विचारधारा है जो पुरातनपन्थी और आधुनिकता-विरोधी, जनवाद और समानता विरोधी विचारों का अवसरवादी इस्तेमाल करते हुए एक आधुनिक किफ़स्म की राजसत्ता की स्थापना करता है और सबसे नग्न किफ़स्म की तानाशाही को लागू करके पूँजीवादी हितों की रक्षा करता है। किसानों के इन विभिन्न संस्तरों को, जो फ्रासीवाद का सम्भावित सामाजिक आधार हो सकते हैं, आप ग्रामीण निम्न-पूँजीपति वर्ग के रूप में गिन सकते हैं। यह वर्ग 1980 के दशक के मध्य से भाजपा का समर्थक बनने लगा था। उस समय तक चरण सिंह की राजनीति हाशिये पर जा चुकी थी और धनी किसान हितों को बुर्जुआ जनवादी फ्रेमवर्क के भीतर पेश करने वाली कोई प्रभावी ताकत राष्ट्रीय पैमाने पर मौजूद नहीं थी। भाजपा ने इसी खालीपन का लाभ उठाते हुए धनी किसान लॉबी को अपने साथ लेना शुरू किया और किसानों के सभी संस्तरों के बीच अपना फ्रासीवादी प्रचार शुरू किया।

ग्रामीण निम्न-पूँजीपति वर्ग के अतिरिक्त शहरों का निम्न-पूँजीपति वर्ग भी फ्रासीवाद का ज़बरदस्त समर्थक होता है। बल्कि यून कहें कि फ्रासीवाद का सबसे ताकतवर और परम्परागत सामाजिक आधार यही वर्ग मुहैया कराता है। इस वर्ग में छोटे पूँजीपति, दुकानदार, दलाल, एजेण्ट, निम्न माल उत्पादन करने वाले छोटे उत्पादक, सरकारी वेतनभोगी वर्ग, कर्मचारी वर्ग और सफ़ेद कॉलर वाले वे मज़दूर होते हैं जिन्हें मज़दूर अभिजात्य वर्ग कहा जा सकता है। 1980 के दशक के पहले यह पूरा वर्ग कांग्रेस का परम्परागत समर्थक रहा था। उस समय तक सार्वजनिक क्षेत्र के पूँजीवाद का ज़माना था। नेहरू के ज़माने की परछाईयाँ अभी पूरी तरह से धूमिल नहीं हुई थीं। आज़ादी के बाद समृद्ध, प्रगति और विकास के जो सपने सार्वजनिक क्षेत्र, बैंकों के राष्ट्रीकरण, और “समाजवाद” और कल्याणकारी राज्य के नारे के साथ दिखलाये गये थे, वे टूटने शुरू हो चुके थे लेकिन अभी गायब नहीं हुए थे। 1980 के दशक के मध्य तक भारतीय पूँजीवाद सार्वजनिक क्षेत्र की चौहद्दी के भीतर बड़ा होते-होते कसमसाने लगा था। 1947 से 1980 तक के दौर में पब्लिक सेक्टर भारतीय पूँजीवाद की ज़रूरत थी। गुलामी से बौने और अधमरे हुए पूँजीपति वर्ग को अपने पैरों पर खड़ा करने के लिए पहले राज्य को ही एक बड़े पूँजीपति की भूमिका निभानी थी। यही समय इन्स्पेक्टर राज और लाइसेंसी राज का था। बाद में सार्वजनिक

क्षेत्र का यह पिंजड़ा, जो पहले पूँजीपति वर्ग की सुरक्षा के लिए बनाया गया था, उसके विकास में बाधक बनने लगा। भारतीय निजी पूँजी अब इस पिंजड़े में ठीक से साँस नहीं ले पा रही थी और उसे खुले बाज़ार और खुली प्रतिस्पर्ध की आवश्यकता महसूस होने लगी थी। अगर यह नहीं होता तो वह पूँजी के जीवन के लिए घातक होता। नतीजतन, भारतीय पूँजीपति वर्ग के नुमाइन्दे भारतीय राज्य ने सार्वजनिक क्षेत्र, विनियमन, लाइसेंसी राज, इंस्पेक्टर राज की दीवारों को गिराना शुरू किया। जब तक कल्याणकारी पब्लिक सेक्टर वाले राज्य का ढाँचा क्रायम था, जीवन निम्न-पूँजीपति वर्ग के लिए अपेक्षाकृत आसान था और असुरक्षा और अनिश्चितता उसके लिए उतनी अधिक नहीं थी। लेकिन ज्यों ही उदारीकरण-निजीकरण की नीतियाँ लागू होनी शुरू हुईं वैसे ही उसकी आँच इन वर्गों तक भी पहुँचने लगी। कम ही लोग जानते हैं कि भारतीय पूँजीवादी राज्य ने पहली बार 'नई आर्थिक नीति' के जुमले का इस्तेमाल 1991 में नरसिंह राव-मनमोहन सिंह की सरकार के दौरान नहीं किया था। 1985 में राजीव गाँधी की सरकार के दौरान पहली बार नई आर्थिक नीति का नाम लिया गया और उदारीकरण और निजीकरण को शुरू करने की बात की गयी। राजीव गाँधी तमाम सभाओं और जमावड़ों में लाइसेंसी राज और इंस्पेक्टर राज को विकास-विरोधी करार देते थे और उदारीकरण करने की ओर इशारा करते थे। 1986 में नयी शिक्षा नीति द्वारा इसी काम को आगे बढ़ाया गया। इसके बाद 1991 में पूँजीपति वर्ग ने यह प्रक्रिया सार्वजनिक क्षेत्र पूँजीवाद के भयंकर आर्थिक संकट के बाद खुलेआम शुरू की। इसके सूत्रधार थे तत्कालीन वित्त मन्त्र मनमोहन सिंह जो आज देश के प्रधानमन्त्री हैं। तब से लगभग 18 वर्ष बीत चुके हैं। लेकिन नयी आर्थिक नीति की शुरुआत 1980 के दशक के मध्य को माना जाना चाहिए। अगर हम ऐसा मानते हैं तो उदारीकरण की नीतियों को लागू होने की शुरुआत हुए करीब 25 वर्ष बीत चुके हैं। इस दौरान पूरे देश में गरीबी और बेरोज़गारी अभूतपूर्व रफ़्तार से बढ़ी है। 1980 के दशक के आते-आते मध्य वर्ग और निम्न-पूँजीपति वर्ग और साथ ही आम जनता के सभी सपने भी धूल-धूसरित होने लगे थे जिसने पूरी आम जनता में एक हताशा और निराशा को जन्म दिया था। स्वदेशी और छोटे उद्योग-धन्धों के हित की बात करते हुए भाजपा ने भी अपनी गठबन्धन सरकार के काल में भूमण्डलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों को तेज़ रफ़्तार से लागू किया। बल्कि भाजपा के नेतृत्व में ही पहली बार **विनिवेश मन्त्रालय अरुण शौरी** के नेतृत्व में बनाया गया, जिसे क्रायदे से निजीकरण-बेरोज़गारी मन्त्रालय कहा जाना चाहिए। छोटी पूँजी की बात करते हुए भाजपा ने किसी भी पार्टी से ज़्यादा बड़ी पूँजी की चाकरी की। ऐसे में

फ्रांसीसी मार्क्सवादी इतिहासकार डेनियल गुएरिन का वह कथन बरबस ही याद आता है – “फ्रासीवाद न सिर्फ़ बड़ी पूँजी का चाकर होता है, बल्कि साथ ही यह टुटपूँजिये वर्ग का रहस्यवादी उभार भी होता है।” भूमण्डलीकरण और उदारीकरण के 25 वर्षों ने बड़े पैमाने पर छोटे पूँजीपति वर्ग को उजाड़ा, छोटे पैमाने के उत्पादकों, दुकानदारों, वेतनभोगियों को उजाड़ा और साथ ही ग्रामीण निम्न-पूँजीपति वर्ग को भी उजाड़ा है। बड़े पैमाने पर लोग सड़कों पर आ गये और जो सड़कों पर नहीं आये, उनके सिर पर भी लगातार छँटनी और तालाबन्दी, नौकरी से निकाल दिये जाने, ठेके पर कर दिये जाने की तलवार लटकी रहती है। यानी पूरे निम्न-पूँजीपति वर्ग के सामने भविष्य की असुरक्षा और अनिश्चितता बेहद तेज़ रफ़्तार से बढ़ी है। ऐसे में यदि आम जनता और इन वर्गों को यह बात समझाने के लिए कोई क्रान्तिकारी ताक़त मौजूद नहीं है कि इस सारी असुरक्षा और अनिश्चितता का असली जिम्मेदार पूँजीवाद है और पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर निम्न-पूँजीपति वर्ग की यही नियति है कि उसके मुट्ठी भर हिस्से को ऊपर की ओर जाना है और बाकी विशाल हिस्से को सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा की क्रतार में शामिल हो जाना है, तो निश्चित रूप से उसके भीतर एक प्रतिक्रिया की ज़मीन भी मौजूद रहती है।

यह ज़मीन लम्बी असुरक्षा और अनिश्चितता के कारण पैदा हुई चिड़चिड़ाहट और हताशा से तैयार होती है। इसी ज़मीन का फ़ायदा फ्रासीवादी ताक़तें उठाती हैं और उन्होंने भारत में भी उठाया। इस पूरे गुस्से का निशाना संघ ने अल्पसंख्यकों को और विशेषकर मुसलमानों और शरणार्थियों को बनाया। गतिरोध की स्थिति में जनता के गुस्से को अतार्किक और प्रतिक्रियावादी रास्ते पर ले जाना फ्रासीवादियों के लिए खास तौर पर आसान होता है। संघ इसकी पृष्ठभूमि तो अपने जन्म के बाद से ही तैयार कर रहा था। अपनी शाखाओं, संस्कृति केन्द्रों, शिशु मन्दिरों में लगातार मुसलमानों को अतीत से लेकर वर्तमान तक हिन्दुओं की सारी तकलीफ़ों का जिम्मेदार बताया जा रहा था। 1980 के बाद दिमाग़ों में बोये गये ज़हर के इस बीज के अंकुरित होने के लिए सभी अनुकूल परिस्थितियाँ तैयार होने लगीं। यही कारण है कि संघ की मौजूदगी तो आज़ादी के बाद से लगातार बनी रही थी और साम्प्रदायिक तनाव फैलाने में हमेशा उसकी भूमिका भी रही थी, लेकिन 1980 के पहले तक संघ को एक ब्राह्मण-बनिया संगठन के रूप में जाना जाता था। लेकिन 1980 के बाद संघ की अपील कहीं ज़्यादा व्यापक हुई और फ्रासीवाद का उभार एक परिघटना के रूप में वास्तविकता बनकर उभरा। राम जन्मभूमि आन्दोलन, रथयात्राओं, बाबरी मस्जिद ध्वंस, 1991 के संकट के बाद और 1995 तक उदारीकरण-निजीकरण

के विनाशकारी परिणामों के बाद भारत में फ्रांसीसीवादी आन्दोलन हिन्दुत्ववाद, स्वदेशीवाद और राष्ट्रवाद के चोगे में कहीं ज्यादा ताकतवर होकर उभरा। 1980 के बाद फ्रांसीसीवाद का एक आन्दोलन की शक्ति में आना कोई संयोग नहीं था। (यहाँ यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि 'आन्दोलन' शब्द का उपयोग हमेशा ऐसे किया जाता है मानो वह कोई अनिवार्य रूप से सकारात्मक वस्तु हो, जबकि इस शब्द में ऐसा कुछ नहीं है जो इसे अपने आप में सकारात्मक बना देता हो। यह निर्भर करता है वह आन्दोलन किसका है और किसके नेतृत्व में है।) आर्थिक और भौतिक तौर पर फ्रांसीसीवाद की ज़मीन के मज़बूत होने के कारण फ्रांसीसीवाद एक आन्दोलन की शक्ति अख्तियार कर पाया था।

उदारीकरण और निजीकरण के एक चौथाई दशक ने भारतीय समाज में भी लोगों को बड़े पैमाने पर अपनी जगह-ज़मीन और काम-धन्धे से उजाड़कर निम्न-पूँजीपति वर्ग, मज़दूर वर्ग और अन्य मध्य वर्गों में वैसी ही असुरक्षा और अनिश्चितता का माहौल पैदा किया जो जर्मनी में 20 वर्षों के द्रुत औद्योगिकीकरण के बाद पैदा हुआ था। यह सच है कि इस प्रक्रिया का पैमाना उतना ज्यादा नहीं था जितना कि यह जर्मनी में था। कुछ मार्क्सवादी सिद्धान्तकार यह बात समझ नहीं पाये हैं। ऐसे ही एक सिद्धान्तकार प्रभात पटनायक और उन्हीं के साथ एजाज़ अहमद इस तथ्य पर काफ़ी चकित दिखलायी पड़ते हैं कि भारत में औद्योगिकीकरण उतना द्रुत तो था नहीं जितना कि वह जर्मनी में था (नतीजतन, भारत में बेरोज़गारी, उजड़ना और ग़रीबी भी उतनी तेज़ रफ़्तार से नहीं पैदा हुई थी जितनी तेज़ रफ़्तार से जर्मनी में) फिर भारत में इसने फ्रांसीसीवादी उभार को जन्म कैसे दिया? लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि भारत के औपनिवेशिक इतिहास के कारण भारतीय समाज को दीर्घकालिक और भयंकर रूप से पैठी हुई ग़रीबी और बेरोज़गारी विरासत में मिली थी। यहाँ पर ग़रीबी और बेरोज़गारी पहले से ही जड़ जमाये हुए थी जिसे निजीकरण और उदारीकरण ने और भयंकर रूप दे दिया। जर्मनी या इटली के समाज की तरह ये समस्याएँ किसी एक औद्योगिकीकरण के दौर की ही पैदावार नहीं थीं, ये पहले से मौजूद थीं। जो काम जर्मनी और इटली में द्रुत औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया ने किया था वह काम यहाँ पर भूमण्डलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की प्रक्रियाओं ने किया – यानी पूरे समाज में असुरक्षा और अनिश्चितता के माहौल को पैदा करके फ्रांसीसीवादी प्रतिक्रिया की ज़मीन को पैदा करना।

कुछ मार्क्सवादी सिद्धान्तकारों ने जर्मनी और इटली से एक और फ़र्क की ओर इशारा किया है। इन लोगों का कहना है कि जर्मनी और इटली में जिस समय

फ्रासीवादी उभार हुआ उस समय एक शक्तिशाली समाजवादी देश और साथ ही इन्हीं देशों में शक्तिशाली कम्युनिस्ट आन्दोलन मौजूद थे। जर्मनी और इटली में बड़े पूँजीपति वर्ग ने बेहद तत्परता से फ्रासीवाद का साथ दिया तो इसका एक कारण यह भी था कि वे समाजवाद और आसन्न मजदूर क्रान्तियों से डरे हुए थे। भारत में ऐसा नहीं है। लेकिन भारत में बड़े पूँजीपति वर्ग ने इतनी तत्परता के साथ फ्रासीवाद का साथ दिया भी नहीं है। उसने बीच-बीच में अलग-अलग मौकों पर भाजपा का साथ दिया है लेकिन पूँजीपति वर्ग ने वक्रत और ज़रूरत के मुताबिक कांग्रेस का भी साथ दिया है। मिसाल के तौर पर, आज कल्याणकारी राज्य और नीतियों की ज़रूरत है। इस बात को पूँजीपति वर्ग का एक बड़ा हिस्सा भी समझ रहा है। संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार के दिखावटी सुधारवाद को पूँजीपति वर्ग अभी समर्थन दे रहा है। दूसरी बात यह है कि साथ ही यह सरकार क्रान्तिकारी ताकतों के ऊपर शिकंजा कसने का काम भी कर रही है। नरेगा और खाद्य सुरक्षा जैसी कुछ नीतियों के साथ सरकार उदारकरण और निजीकरण को खुले तौर पर जारी रख रही है और उसके पास अभी यह क्षमता भी है कि वह ऐसा कर सके। इसलिए आज नग्न पूँजीवादी तानाशाही की कोई आवश्यकता नहीं है। यही कारण है कि भाजपा आज राष्ट्रीय पैमाने पर दयनीय हालत में पहुँच गयी है। लेकिन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का फ्रासीवादी नेटवर्क अपनी पूरी ताकत के साथ मौजूद है। ज्यों ही कल्याणकारी राज्य की सम्भावनाएँ रिक्त होंगी वैसे ही पूँजीपति वर्ग को फ्रासीवादी चाल-चेहरे की आवश्यकता पड़ सकती है। और जब वह सत्ता में नहीं है तब भी जंजीर से बँधे कुत्ते की भूमिका तो वह आज भी निभाता रहता है। मजदूर आन्दोलन में इसे खास तौर पर देखा जा सकता है। साथ ही, पूरे समाज में संघी आतंक समूहों की मौजूदगी क्रान्तिकारी शक्तियों के लिए एक 'काउण्टर वेट' का काम करती रहती है। हमने पहले जर्मनी के उदाहरण से स्पष्ट किया था कि कल्याणकारी पूँजीवादी राज्य की परिणति अक्सर अधिक प्रतिक्रियावादी पूँजीवादी राज्य के रूप में होती है। भारत में इसकी पर्याप्त सम्भावनाएँ मौजूद हैं। मौजूदा वैश्विक साम्राज्यवादी आर्थिक संकट तो बीत जाएगा लेकिन चक्र्रीय क्रम में आने वाला संकट इससे भी भयंकर होगा, इसके संकेत अभी से ही मिलने लगे हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था वित्तीय बाजारों से पूरी तरह न जुड़ी होने के कारण थोड़ी-सी बची रही लेकिन आगे यह सम्भव नहीं होगा। भारतीय अर्थव्यवस्था के किसी गहरे संकट में फँसने के साथ ही बेरोजगारी और गरीबी, जो पहले ही खतरे के निशान से ऊपर है, और ज्यादा बढ़ेगी। ऐसे में, क्रान्तिकारी सम्भावना भी पैदा होगी, यानी जन-असन्तोष को एक तार्किक दिशा में मोड़ते हुए, गोलबन्द और संगठित करते

हुए व्यवस्था परिवर्तन की दिशा में ले जाने की सम्भावना; और साथ ही, फ्रासीवादी सम्भावना भी पैदा होगी, यानी किसी क्रान्तिकारी नेतृत्व की गैर-मौजूदगी में पूरे समाज में मौजूद हताशा और असुरक्षा की भावना को प्रतिक्रियावादी दिशा में मोड़ते हुए नग्न पूँजीवादी फ्रासीवादी तानाशाही की ओर ले जाना। दूसरी सम्भावना को वास्तविकता में बदलने वाली नेतृत्वकारी फ्रासीवादी ताक़त आज देश में बड़े पैमाने पर मौजूद है। लेकिन ऐसी कोई अखिल भारतीय क्रान्तिकारी पार्टी मौजूद नहीं है। अब सारा भविष्य इसी बात पर निर्भर करता है कि हम ऐसी ताक़त को खड़ा करने की जिम्मेदारी अपने कंधों पर लेने को तैयार हैं या नहीं।

आखिरी फ़र्क़ जिसकी ओर कुछ मार्क्सवादी विचारकों द्वारा इशारा किया जाता है वह यह है कि पहले यूरोपीय फ्रासीवादी उभार के समय जिस क्रिस्म की महामन्दी विश्व पूँजीवाद झेल रहा था वैसी कोई मन्दी आज नहीं है। हालाँकि, मौजूद वैश्विक मन्दी में उन्हें अपने शब्दों पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता पड़ रही है। लेकिन यह सच है कि वैसी चीज़ दुबारा नहीं आने वाली। इतिहास अपने आपको दुहराता नहीं है। अब विश्व साम्राज्यवाद में हुए परिवर्तनों के मद्देनज़र कुछ 61 बातें साफ़ हैं। विश्व पूँजीवाद में अब मन्दी और तेज़ी का चक्र नहीं चलता। एक मन्द मन्दी लगातार बनी रहती है जो बीच-बीच में गहराती रहती है। 1995 से 2006 के बीच चार बड़ी मन्दियाँ आयीं जिसमें हाल की मन्दी सबसे भयंकर थी। अब तेज़ी का दौर पूँजीवाद में नहीं आता। जितना रोज़गार पूँजीवाद पहले दे सकता था अब वह किसी हालत में नहीं दे सकता क्योंकि पूँजी कहीं ज़्यादा परजीवी हो चुकी है और उत्पादक निवेश की सम्भावनाएँ नहीं के बराबर रह गयी हैं। इसलिए बेरोज़गारी अचानक होने वाले विस्फोट की तरह नहीं बढ़ी बल्कि वह सघन रूप में एक स्थायी परिघटना बन चुकी है। जो इतिहासकार नये फ्रासीवादी उभार की हर विशेषता को इतिहास में ढूँढ़ना चाहते हैं उन्हें काफ़ी दिक्कतों का सामना करना पड़ेगा। क्योंकि इतिहास में दुहराव नहीं हो सकता। कोई ज़बरन करने की कोशिश करेगा तो वह मार्क्स के शब्दों में प्रहसन बन जाएगा। यान्त्रिक मार्क्सवादी विश्लेषकों के साथ यही दिक्कत है। आज का फ्रासीवादी उभार भी पहले जैसा नहीं होगा। विश्व पूँजीवाद में भूमण्डलीकरण के दौर में जो परिवर्तन आये हैं उनके अनुसार फ्रासीवादी उभार के स्वरूप में भी निश्चित रूप में परिवर्तन आयेंगे। यह एक अलग चर्चा का विषय है जो एक अलग लेख की माँग करता है। एक महत्त्वपूर्ण कारक की ओर इशारा करके हम आगे बढ़ना चाहेंगे।

जर्मनी में नात्सी पार्टी को और इटली में फ्रासीवादी पार्टी को संकट का समाधान राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के दायरे में करना था। जर्मनी और इटली में फ्रासीवाद के

20 से 25 वर्षों के भीतर ही सत्ता में आ जाने का कारण यही था कि उस समय पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में राष्ट्र-राज्य की भूमिका बेहद ज़्यादा थी। वह आज भी है लेकिन बदल चुकी है। पूँजी के लिए साँस लेने की जगह कहीं ज़्यादा कम थी। उसके विपरीत, भूमण्डलीकरण के दौर में पूँजी के राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार खुले प्रवाह के साथ पूँजी के लिए अपने अन्तरविरोधों और संकटों को निपटाने का मंच राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था नहीं बल्कि वैश्विक अर्थव्यवस्था है। इसलिए फ़्रासीवाद भूमण्डलीकरण के दौर में उतनी द्रुत गति से और उस तरह से सत्ता में नहीं आ सकता है जैसे जर्मनी और इटली में आया था। फ़्रासीवाद अगर फिर सत्ता में आता है तो उसका रूप क्या होगा यह बता पाना मुश्किल है। लेकिन यह बात सच है कि जिस प्रकार राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की सीमाएँ सन्तुप्त हो गयी थीं वैसे ही वैश्विक अर्थव्यवस्था की सीमाएँ भी सन्तुप्त हो जायेंगी और होने लगी भी हैं, जैसा कि नवीनतम साम्राज्यवादी संकट ने दिखलाया है। अब इस नये वैश्विक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विधान में फ़्रासीवाद के सत्ता में आने की सूरत में पूरा रूप और रास्ता क्या होगा, यह अलग से शोध का विषय है।

फ़्रासीवाद के उभार के कुछ बुनियादी कारणों की हमने व्याख्या की है जो कहीं भी फ़्रासीवाद के उभार का सामान्य कारण होते हैं। **वे कारण जर्मनी में भी मौजूद थे, इटली में भी मौजूद थे और भारत में भी मौजूद थे।** सामाजिक जनवाद की ग़दारी इसमें हमारे लिए सबसे महत्वपूर्ण कारण है। यह भारत में भी मौजूद है। सी.पी.आई. और सी.पी.एम. के नेतृत्व में ट्रेड यूनियन आन्दोलन भारत में भी वही भूमिका निभा रहा है जो वह जर्मनी में निभा रहा था। यहाँ भी संशोधनवाद और ट्रेड यूनियन नेतृत्व मजदूर आन्दोलन को सुधारवाद, अर्थवाद और अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद की गलियों में घुमा रहा है। यहाँ पर ट्रेड यूनियन आन्दोलन और सामाजिक जनवाद पूँजीपति वर्ग को उस क्रिस्म के सौदे पर मजबूर नहीं कर सकता जैसा कि जर्मनी में किया था। लेकिन भारत का पूँजीपति वर्ग तत्कालीन जर्मनी के पूँजीपति वर्ग से कहीं कमज़ोर है और जितना दबाव ट्रेड यूनियन आन्दोलन से भारत में पूँजी पर बना है वह उसके मुनाफ़े के मार्जिन को सिकोड़ने के लिए काफ़ी है। श्रम क़ानूनों के कारण भारतीय पूँजी का दम काफ़ी घुटता है। गौरतलब है कि भारत में आज मौजूद श्रम क़ानून उस समय के जर्मनी या इटली में मौजूद श्रम क़ानूनों से पीछे नहीं हैं बल्कि कई मायनों में ज़्यादा आगे हैं। हाल ही में फ़िक्की के एक पूँजीपति ने कहा भी था कि श्रम क़ानूनों के चलते हमें “प्रॉफिट स्क्वीज़” (मुनाफ़े में कमी) का सामना करना पड़ रहा है। हूबहू यही शब्द जर्मन पूँजीपतियों ने भी इस्तेमाल किया था। यह कोई संयोग नहीं

है। इसलिए भारत का संशोधनवाद और सामाजिक जनवाद उतना ताकतवर नहीं है जितना कि जर्मनी का सामाजिक जनवाद था, लेकिन भारत का पूँजीवाद भी उतना शक्तिशाली नहीं है जितना कि जर्मनी का पूँजीवाद था। अनुपात उन्नीस-बीस के अन्तर से समान ही मिलेगा!

भारत में भी कोई जनवादी क्रान्ति नहीं हुई जिसके कारण पूरे समाज में जनवादी चेतना की एक भारी कमी है और भयंकर निरंकुशता है जो जनता के मनोविज्ञान में फ्रासीवाद का आधार तैयार करती है। यहाँ भी क्रान्तिकारी भूमि सुधार नहीं हुए और क्रमिक भूमि सुधारों ने प्रतिक्रियावादी युंकर वर्ग को और हरित क्रान्ति ने प्रतिक्रियावादी आधुनिक धनी किसान वर्ग को जन्म दिया। यहाँ भी निम्न-पूँजीपति वर्ग और छोटे उत्पादकों की एक भारी तादाद मौजूद है जो पूँजीवादी विकास के साथ तेज़ी से उजड़ती है और प्रतिक्रियावाद के समर्थन में जाकर खड़ी होती है। साथ ही, यहाँ भी ऊपर की ओर गतिमान एक प्रतिक्रियावादी नवधनाढ्य वर्ग है जो भूमण्डलीकरण के रास्ते हो रहे विकास की मलाई चाँप रहा है। इनमें मोटा वेतन पाने वाला वेतनभोगी वर्ग, ठेकेदार वर्ग, व्यापारी वर्ग, नौकरशाह आदि शामिल हैं। यहाँ पर मजदूर वर्ग का एक बहुत बड़ा हिस्सा है जो किसानों की मानसिकता का शिकार है और पूरी तरह उत्पादन के साधनों से महरूम नहीं हुआ है। वह भौतिक स्थितियों से सर्वहारा चेतना की ओर खिंचता है, तो अतीतोन्मुखी आकांक्षाओं और दो-चार मामूली उत्पादन के साधनों का स्वामी होने के कारण निम्न-पूँजीवादी चेतना की ओर खिंचता है। नतीजतन, सर्वहारा चेतनाकरण की प्रक्रिया मुकाम तक नहीं पहुँचती और इस आबादी का भी एक हिस्सा फ्रासीवादी प्रचार और प्रतिक्रिया के सामने अरक्षित होता है और उसका अक्सर शिकार बन जाता है।

भारत में भी लम्पट सर्वहारा की बड़ी उजड़ी आबादी है जो फ्रासीवादी भीड़ का हिस्सा बनती है। ये कुछ आम कारक हैं जो फ्रासीवाद के उभार की जमीन तैयार करते हैं। आज के जमाने में भी ये कारक तो लागू होते ही हैं। आज के सम्भावित फ्रासीवादी उभार में नयेपन और परिवर्तन के कुछ तत्वों की ओर हमने संक्षेप में इशारा किया है, जो पूँजीवाद की कार्यप्रणाली में बदलाव के कारण पैदा होते हैं। इन पर कभी आगे



आज के भारत में फ्रासीवादी रुझान का मुक़ाबला करने के लिए कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को क्या करना होगा? हमें मजदूरों, छात्रों, युवाओं, स्त्रियों, दलितों और धार्मिक अल्पसंख्यकों के बीच सर्वहारा क्रान्तिकारी संगठन कैसे खड़े करने

होंगे? मज़दूर मोर्चे से लेकर अन्य सभी मोर्चों पर हमें फ़्रासीवादियों को शिकस्त कैसे देनी होगी? कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को फ़्रासीवादी आतंक समूहों का मुक़ाबला कैसे करना होगा? निम्न-पूँजीपति वर्ग के सवाल पर हमारा रुख़ क्या होना चाहिए? मज़दूर आबादी में फ़्रासीवादी विचारधारा की घुसपैठ को रोकने के लिए हमें कौन-से क़दम उठाने होंगे? शहरी मध्य वर्गीय आबादी में फ़्रासीवादी विचारधारा को शिकस्त देने के लिए हमें क्या करना होगा?

ये कुछ ऐसे सवाल हैं जिनका जवाब हमें देना ही होगा और आगे हम यही प्रयास करेंगे। हमने पहले बताया है कि पूँजीवादी संकट फ़्रासीवादी प्रतिक्रिया की भी ज़मीन तैयार करता है और मज़दूर क्रान्ति की भी। सवाल यही होता है कि क्रान्तिकारी नेतृत्व तैयार है या नहीं। हम डेनियल गुएरिन के एक कथन के साथ यहाँ रुकेंगे – “अगर हमने समाजवाद की घड़ी को निकल जाने दिया, तो हमारी सज़ा होगी फ़्रासीवाद।”

फ़्रासीवाद का मुक़ाबला कैसे करें?

इटली, जर्मनी और भारत में फ़्रासीवाद के पैदा होने से लेकर उसके विकास तक का ऐतिहासिक विश्लेषण करने के बाद हमने फ़्रासीवादी उभार के प्रमुख सामान्य ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कारणों को समझा। एक सामान्य निष्कर्ष के तौर पर यह बात हमारे विश्लेषण से सामने आयी कि **पूँजीवादी व्यवस्था का संकट क्रान्तिकारी और प्रतिक्रियावादी, दोनों ही सम्भावनाओं को जन्म देता है।** अगर किसी समाज में क्रान्तिकारी सम्भावना को मूर्त रूप देने के लिए एक अनुभवी और विवेक-सम्पन्न कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी पार्टी मौजूद नहीं है, और फ़्रासीवादी शक्तियों ने समाज के पोर-पोर में अपनी पैठ बना ली है, तो प्रतिक्रियावादी सम्भावना भी हक़ीक़त में बदल सकती है। जर्मनी और इटली में यही हुआ था और एक दूसरे क्रिस्म से भारत में भी भगवा फ़्रासीवादी उभार के पीछे एक बड़ा कारण किसी क्रान्तिकारी नेतृत्व का ग़ैर-मौजूद होना भी था। इस बात को हम पहले ही विस्तार में समझ चुके हैं। **दूसरी बात**, जो हमने समझी वह यह थी कि मज़दूर आन्दोलन में सामाजिक-जनवादियों और संशोधनवादियों की ग़द्दारी एक बड़ा कारण थी जिसने एक रोके जा सकने वाले फ़्रासीवादी उभार को न रोके जा सकने वाले फ़्रासीवादी उभार में तब्दील कर दिया। ज़ाहिर है कि यह दूसरा कारण पहले कारण से नज़दीकी से जुड़ा हुआ है। मज़दूर आन्दोलन का नेतृत्व अगर पूँजीवादी संकट की

स्थिति में क्रान्तिकारी विकल्प मुहैया नहीं कराता है और पूरे आन्दोलन को सुधारवाद, पैबन्दसाज़ी, अर्थवाद, अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद और ट्रेड यूनियनवाद की अन्धी गलियों में घुमाता रहेगा तो निश्चित रूप से अपनी गति से पूँजीवाद अपनी सबसे प्रतिक्रियावादी तानाशाही की ओर ही बढ़ेगा। बल्कि कहना चाहिए एक संगठित और मज़बूत, लेकिन अर्थवादी, सुधारवादी और ट्रेड यूनियनवादी मज़दूर आन्दोलन पूँजीवाद को संकट की घड़ी में और तेज़ी से फ़्रासीवाद की ओर ले जाता है (जर्मनी और इटली में फ़्रासीवादी उभार के विश्लेषण वाले हिस्से को देखें)। **तीसरी बात** : यह सच है कि फ़्रासीवाद अन्त में और वास्तव में बड़ी पूँजी के हितों की सेवा करता है, लेकिन ऐसा नहीं है कि इसका सामाजिक आधार महज़ बड़ा पूँजीपति वर्ग होता है। बड़े पूँजीपति वर्ग को मज़दूर आन्दोलन के दबाव को तोड़ने के लिए एक ऐसी ताक़त की ज़रूरत होती है जिसका व्यापक सामाजिक आधार हो। फ़्रासीवाद के रूप में उसे वह ताक़त मिलती है। पूँजीवादी संकट बड़े पैमाने पर शहरी और ग्रामीण निम्न पूँजीपति वर्ग और मध्य वर्गों को उजाड़कर असुरक्षा और अनिश्चितता की स्थिति में पहुँचा देता है। दिशाहीन शहरी बेरोज़गार युवा आबादी तथा शहरी और ग्रामीण निम्न पूँजीपति वर्ग के बीच फ़्रासीवादी ताक़तें अपना प्रचार करती हैं और उनके दिमाग़ों में किसी अल्पसंख्यक समुदाय और संगठित मज़दूर आन्दोलन के खिलाफ़ ज़हर भरती हैं। असुरक्षा और अनिश्चितता से चिड़चिड़ाये और बिलबिलाये टटपूँजिया वर्ग में प्रतिक्रिया की ज़मीन पहले से तैयार होती है और वह फ़्रासीवादी प्रचार का शिकार बन जाता है। फ़्रासीवाद ग्रामीण और शहरी मध्य वर्गों, निम्न पूँजीपति वर्गों और लम्पट सर्वहारा वर्ग के जीवन की दिशाहीनता, हताशा, लक्ष्यहीनता और सांस्कृतिक पिछड़ेपन का फ़ायदा उठाते हुए उनके बीच लम्बी तैयारी के साथ प्रतिक्रिया की ज़मीन तैयार करता है। इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप एक फ़्रासीवादी आन्दोलन का पैदा होता है और ये वर्ग उसके सामाजिक अवलम्ब के तौर पर काम करते हैं। फ़्रासीवाद की विजय या उसके सत्ता में आने के साथ ही ये वर्ग इस सच्चाई से वाकिफ़ हो जाते हैं कि फ़्रासीवाद वास्तव में बड़ी पूँजी का सबसे निर्मम और बर्बर चाकर है और उससे दूर भी होने लगते हैं। लेकिन यह तो बाद की बात है। प्रभावी क्रान्तिकारी प्रचार और पार्टी के अभाव में फ़्रासीवाद उभार की ज़मीन भी इन्हीं वर्गों के बीच तैयार होती है।

चौथी बात जो हमने नतीजे के रूप में समझी, वह यह थी कि जिन देशों में पूँजीवाद किसी क्रान्ति के ज़रिये सत्ता में नहीं आया, वहाँ पूरी अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीति में ग़ैर-जनवादी और निरंकुश प्रवृत्तियों का बोलबाला होता है। यहाँ तक कि भावी समाजवादी क्रान्ति के मित्र वर्गों में भी इन प्रवृत्तियों ने जड़ जमा रखी

होती है। रैडिकल भूमि सुधार के अभाव में गाँव में युंकरों और नये धनी किसानों का एक पूरा वर्ग होता है जो फ़्रासीवाद के लिए एक मज़बूत सामाजिक आधार का काम करता है। मँझोले किसानों का एक बड़ा हिस्सा भी क्रान्तिकारी प्रचार, आन्दोलन और संगठन के अभाव में फ़्रासीवादी प्रचार में बह जाता है। पूँजीवादी जनवादी क्रान्ति के अभाव में शहरी मध्यवर्गों में भी जनवादी विचारों और प्रथाओं का भारी अभाव होता है। यह मध्य वर्ग उस यूरोपीय मध्य वर्ग के समान नहीं है जिसमें तार्किकता, वैज्ञानिकता और गतिमानता कूट-कूटकर भरी हुई थी और जो मानवतावाद और जनवाद के सिद्धान्तों का जनक था। आर्थिक तौर पर यह मध्य वर्ग बन चुका है, लेकिन वैचारिक और आत्मिक तौर पर उसमें ऐसा कुछ नहीं है जिसे आधुनिक मध्य वर्ग जैसा कहा जा सके। यही कारण है कि यह शहरी पढ़ा-लिखा मध्य वर्ग भी फ़्रासीवादी प्रचार के समक्ष अरक्षित होता है और उसके प्रभाव में आ जाता है। पूँजीवादी क्रान्ति का अभाव ही था जिसने जर्मनी और इटली को फ़्रासीवाद के उदय और विकास की ज़मीन बनाया और फ़्रांस को नहीं। यह बेवजह नहीं था कि फ़्रांस में फ़्रासीवादी समूहों को कभी कोई बड़ी सफलता नहीं मिली।

ये कुछ प्रमुख नतीजे थे जिन पर हम अपने विश्लेषण के ज़रिये पहुँचे थे। अपने इन नतीजों के आधार पर ही हमें यह तय करना होगा कि हमें फ़्रासीवाद से किस प्रकार लड़ना है। ज़ाहिर है कि हमें फ़्रासीवाद पर विचारधारात्मक और राजनीतिक चोट करनी ही होगी; हमें पूरी फ़्रासीवादी विचारधारा के वर्ग मूल और चरित्र को आम जनता के सामने उजागर करना होगा; हमें फ़्रासीवादियों की असली जन्मकुण्डली और उनके इतिहास को जनता के समक्ष खोलकर रख देना होगा; हमें उनके भर्ती केन्द्रों पर चोट करनी होगी और उन सभी वर्गों के बीच सघन और व्यापक राजनीतिक प्रचार चलाना होगा जो उनका सामाजिक अवलम्ब बन सकते हैं; हमें मज़दूर आन्दोलन के अन्दर ज़बरदस्त राजनीतिक प्रचार चलाते हुए मज़दूर वर्ग को उसके ऐतिहासिक लक्ष्य और उत्तरदायित्व, यानी समाजवादी क्रान्ति और कम्युनिज़्म की ओर आगे बढ़ने से, अवगत कराना होगा; इसी प्रक्रिया में हमें मज़दूर वर्ग के भीतर मौजूद वर्ग विजातीय प्रवृत्तियों पर चोट करनी होगी और उसे अर्थवाद, संशोधनवाद और सुधारवाद के गड्ढे में जाने से बचाना होगा; हमें सामाजिक जनवादियों और संशोधनवादियों को पूरी जनता के सामने नंगा करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़नी होगी। **हमारा विश्लेषण हमें स्पष्ट तौर पर दिखलाता है कि फ़्रासीवाद को एक अप्रतिरोध्य उभार बनाने में अगर किसी एक शक्ति की सबसे अधिक भूमिका थी तो वह संशोधनवाद ही था।** भारत में भी इस मामले में कोई अपवाद नहीं है। आज

मज़दूर आन्दोलन के भीतर भारतीय मज़दूर संघ सबसे बड़ी ट्रेड यूनियन बन चुका है तो इसकी जिम्मेदार एटक, सीटू और एकटू जैसी अर्थवादियों-सुधारवादियों-ट्रेड यूनियनवादियों और संशोधनवादियों की गद्दारी यूनियन ही हैं। इन बातों को हम अच्छी तरह समझते हैं, लेकिन फिर भी कम्युनिस्ट क्रतारों और कार्यकर्ताओं के लिए बिन्दुवार कुछ ठोस बातों को समझ लेना बहुत जरूरी है। हमारी समझ में ये कुछ चन्द जरूरी बातें हैं, जिन पर अमल फ़ासीवाद को शिकस्त देने के हमारे संघर्ष में हमारी भारी मदद कर सकता है :

1) मज़दूर मोर्चे पर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के सामने सबसे अहम कार्यभार है, मज़दूर आन्दोलन और ट्रेड यूनियन आन्दोलन के भीतर संशोधनवाद, ट्रेड यूनियनवाद, अर्थवाद, सुधारवाद और अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद के खिलाफ़ फ़ैसलाकुन, समझौताहीन और निर्मम संघर्ष। ये ही वे भटकाव हैं जो मज़दूर वर्ग को फ़ासीवाद के राक्षस के समक्ष वैचारिक और राजनीतिक तौर पर अरक्षित छोड़ देते हैं। इन भटकावों को मज़दूर आन्दोलन के भीतर घुसाने और पैदा करने का अपराध और गद्दारी जिन ताक़तों ने की है, वे हैं इस देश की संसदीय वामपन्थी पार्टियाँ जो अरसे पहले मार्क्सवाद का दामन छोड़ संशोधनवाद का रास्ता चुन चुकी हैं। मज़दूर वर्ग के बीच भारत की कम्युनिस्ट पार्टी, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) लिबरेशन जैसी पार्टियों की गद्दारी और उनके दोगलेपन को नंगा कर देना कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के लिए सबसे जरूरी काम है। फ़ासीवाद से लड़ने के लिए मज़दूर वर्ग को जिस स्वप्न की जरूरत होती है, ये पार्टियाँ उसकी हत्या करती हैं। हमें उसी स्वप्न को मज़दूर वर्ग के बीच पुनर्जीवित करना और फैलाना है। इसके बग़ैर हम फ़ासीवाद से लड़ने के लिए मज़दूर वर्ग की जुझारू और लड़ाकू एकता और संगठन खड़े नहीं कर सकते। हमें मज़दूर वर्ग के भीतर अराजनीतिक प्रवृत्तियों का भी ज़बरदस्त विरोध करना चाहिए। अराजनीतिक प्रवृत्तियों में सबसे प्रमुख है अराजकतावाद और अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद जो मज़दूर वर्ग के ऐतिहासिक लक्ष्य के प्रति उसके सचेत होने को भारी नुक़सान पहुँचाता है। ये मज़दूर वर्ग के बीच ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवाद और मज़दूर वर्ग के “स्वायत्त” संगठन की सोच को प्रोत्साहित करता है। स्वायत्त का अर्थ है विचारधारात्मक और राजनीतिक रूप से अनाथ। इस स्वायत्तता की लफ़फ़ाजी का पर्दाफ़ाश करना चाहिए और मज़दूर वर्ग में क्रान्तिकारी विचारधारा और पार्टी की जरूरत को हर-हमेशा रेखांकित किया जाना चाहिए। ज्ञात हो कि अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी जॉर्ज सोरेल के अधिकांश अनुयायी इटली में फ़ासीवादियों की शरण में चले गये थे। यह

अनायास नहीं था।

2) मज़दूर मोर्चे के बाहर भी आम मध्य वर्ग और निम्न मध्य वर्ग और साथ ही ग्रामीण क्षेत्र की सर्वहारा, अर्द्धसर्वहारा, गरीब और मँझोले किसानों की आबादी में भी हमें संशोधनवादी संसदीय वामपन्थी पार्टियों को नंगा करना होगा और बताना होगा कि ये छद्म कम्युनिस्ट हैं और कम्युनिस्ट विचारधारा और मज़दूर वर्ग के साथ गद्दारी कर चुके हैं। शहरी और ग्रामीण मध्य वर्ग के हितों की नुमाइन्दगी करने के इनके दावे भी खोखले हैं और वास्तव में इनका लक्ष्य इसी पूँजीवादी व्यवस्था की रक्षा करना है जिसके भीतर आम मध्य वर्ग का भी कोई भविष्य नहीं है और उसकी नियति में बरबाद होकर सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा की क्रतारों में शामिल होते जाना ही लिखा है। यह इसलिए भी बेहद ज़रूरी बन जाता है क्योंकि मध्य वर्ग और आम मेहनतकश जनता का एक बड़ा हिस्सा संशोधनवादी नेतृत्व की कारगुजारियों को देखकर संसदीय वामपन्थी पार्टियों से तो नफ़रत करता ही है, वह अज्ञानता में समाजवाद और कम्युनिज़्म के आदर्शों से भी दूर हो जाता है। इसलिए छद्म मार्क्सवादियों को मज़दूर वर्ग में ही नहीं बल्कि भावी समाजवादी क्रान्ति के सभी मित्र वर्गों के सामने नंगा करना बेहद ज़रूरी कार्यभार बन जाता है।

3) क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी को सबसे प्रमुख तौर पर मज़दूर वर्ग में, लेकिन साथ ही शहरी और ग्रामीण निम्न पूँजीपति वर्ग, अर्द्धसर्वहारा आबादी, गरीब और मँझोले किसानों, खेतिहर मज़दूरों और वेतनभोगी निम्न मध्य वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार की कार्रवाइयाँ चलाते हुए यह दिखलाना होगा कि पूँजीवाद एक परजीवी और मरणासन्न व्यवस्था है जो अपनी ऐतिहासिक भूमिका निभाकर अपनी प्रासंगिकता खो चुकी है। अब यह जनता को बेरोजगारी, महँगाई, गरीबी, भुखमरी, असुरक्षा, अनिश्चितता आदि के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दे सकता। यह अपनी जड़ता की ताकत से टिका हुआ है और इसकी सही जगह इतिहास का कूड़ेदान है। पूँजीवादी समाज और व्यवस्था की रोज़मर्रे की और प्रतीक घटनाओं के ज़रिये लगातार उसे नंगा करना होगा। मज़दूरों, युवाओं, छात्रों, बुद्धिजीवियों और स्त्रियों की पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हर सम्भव मौक़े पर पूँजीवाद की ऐतिहासिक व्यर्थता को प्रदर्शित करना होगा। पूँजीवादी संकट के दौर में और पूँजीवादी चुनावों के दौर में इस व्यवस्था और समाज का क्रान्तिकारी विकल्प लेकर ज़ोरदार तरीक़े से आम मेहनतकश जनता के सभी वर्गों में जाना होगा। ये वे वक़्त होते हैं जब जनता राजनीतिकरण के लिए मानसिक तौर पर खुली और तैयार होती है। लेकिन जब ऐसे मौक़े न हों तब भी निरन्तरता के साथ, बिना थके और तात्कालिक परिणामों की

आकांक्षा किये बगैर पूँजीवाद विरोधी कम्युनिस्ट राजनीतिक प्रचार को जारी रखना होगा, कभी विलम्बित ताल में तो कभी द्रुत ताल में।

4) मजदूर वर्ग की पार्टी को मजदूर मोर्चे, छात्र-युवा मोर्चे, बुद्धिजीवी मोर्चे, स्त्र मोर्चे समेत सभी मोर्चों पर उन अतार्किक, अवैज्ञानिक और निरंकुश विचारों के खिलाफ प्रचार चलाना होगा जिनका इस्तेमाल फ्रासीवादी ताकतें निम्न पूँजीपति वर्गों, मध्य वर्गों, लम्पट सर्वहारा, आदि को साथ लेने के लिए करती हैं। मिसाल के तौर पर, नस्लवाद, साम्प्रदायिकतावाद, क्षेत्रवाद, भाषाई कट्टरता, जातीयतावाद, जातिवाद आदि। ये वे विचारधाराएँ हैं जिनका इस्तेमाल कर फ्रासीवादी ताकतें जन-असन्तोष की दिशा को पूँजीवादी व्यवस्था की दिशा में मुड़ने से रोकती हैं और उन्हें किसी अल्पसंख्यक समुदाय या जाति की ओर मोड़ देती हैं और एक निरंकुश प्रतिक्रियावादी और बहुसंख्यावादी राजनीति करते हुए फ्रासीवादी सत्ता क्रायम करती हैं। इन विचारधाराओं का विरोध हमें बुर्जुआ मानवतावाद और धर्मनिरपेक्षता की ज़मीन पर खड़ा होकर नहीं बल्कि सर्वहारा वर्ग की वर्ग चेतना की ज़मीन पर खड़ा होकर करना होगा। बुर्जुआ मानवतावादी अपीलें और धर्मनिरपेक्षता का राग अलापना कभी भी साम्प्रदायिक फ्रासीवाद का मुक़ाबला नहीं कर पाया है और न ही कर पायेगा। सर्वहारा वर्ग चेतना की ज़मीन पर खड़ा होकर किया जाने वाला जुझारू और आक्रामक प्रचार ही इन विचारों के असर को तोड़ सकता है। हमें तमाम आर्थिक और सामाजिक दिक्कतों के स्रोत को आम जनता के सामने नंगा करना होगा और साम्प्रदायिक प्रचार के पीछे के असली इरादे पर से सभी नक्राब नोच डालने होंगे। साथ ही, यह प्रचार करने वाले व्यक्तियों की असलियत को भी हमें जनता के बीच लाना होगा और बताना होगा कि उनका असली मक़सद क्या है। धार्मिक कट्टरपन्थी फ्रासीवाद का मुक़ाबला इसी ज़मीन पर खड़े होकर किया जा सकता है। वर्ग निरपेक्ष धर्म निरपेक्षता और 'मज़हब नहीं सिखाता' जैसी शैरो-शायरी का जनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

5) फ्रासीवाद सत्ता में हो या कभी सत्ता में रह चुका हो, तो उसकी सच्चाई को जनता के सामने उजागर करना अधिक आसान होता है। भाजपा के नेतृत्व में छह वर्ष तक राजग सरकार के चलने से वे काम हो गये जो सामान्य परिस्थितियों में करने पर किसी क्रान्तिकारी ताक़त को दुगुना वक्रत लगता है। सत्ता में आते ही फ्रासीवादियों का धनलोलुप, पतित, चरित्रहीन, सत्ता-लोलुप, कुर्सी-प्रेमी, अनैतिक चरित्र सामने आने लगता है और उनके चेहरे पर से धार्मिक पावनता, नैतिकता और अनुशासन का सारा नक्राब चिथड़ा हो जाता है। क्रान्तिकारी ताक़तों को इस कारक

का पूरा इस्तेमाल करना चाहिए और जनता के हर हिस्से में फ्रासीवादियों के भ्रष्टाचार, अनैतिकता, पतन और धनलोलुपता को जमकर निशाना बनाना चाहिए और उनका भण्डाफोड़ करना चाहिए। ऐसा प्रचार निरन्तरता के साथ लम्बे समय तक चलाया जाना चाहिए। इससे हम उनकी विश्वसनीयता को प्राणान्तक चोट पहुँचा सकते हैं। यह बेहद ज़रूरी है कि फ्रासीवादियों को जनता के बीच किसी भी रूप में पैर न जमाने दिया जाये। इस मक़सद में यह प्रचार बहुत बड़ी भूमिका निभाएगा। इनका राष्ट्रभक्ति और देशभक्ति का दावा भी इसी प्रचार के ज़रिये सबसे ज़्यादा गंगा होता है। चूँकि फ्रासीवादी उभार अक्सर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की शकल में आता है इसलिए इनके देशद्रोही चरित्र और देश-विरोधी नीतियों का पर्दाफ़ाश करना सबसे अहम है। उन्हें वहाँ मारो जहाँ उन्हें सबसे ज़्यादा चोट लगती है। मिसाल के तौर पर, आज़ादी के आन्दोलन में और आपातकाल के दौरान संघ की भूमिका, 84 के सिख-विरोधी दंगों के दौरान हाफ़पैण्टियों की भूमिका, कारगिल युद्ध के बाद हुए ताबूत घोटाला, सेना के लिए शस्त्रों की ख़रीद में दलाली का घोटाला, बंगारू लक्ष्मण और दिलीप सिंह जूदेव जैसे संघियों का कैमरे पर घूस लेते हुए पकड़े जाना, आदि को जनता के सामने पेश किया जाना चाहिए और इनकी नकली और फ़र्जी देशभक्ति का भण्डाफोड़ किया जाना चाहिए। इससे ज़्यादा चोट उन्हें कोई और चीज़ नहीं पहुँचा सकती।

6) फ्रासीवाद अपने सामाजिक अवलम्बों में जिन वर्गों को अपनी पेशीय शक्ति के रूप में भ्रष्ट करता है वे हैं आर्थिक और क्षेत्रीय रूप से पूँजीवादी विकास के कारण उजड़े हुए वर्ग। क्रान्तिकारी पार्टी को इन वर्गों को संगठित करने का प्रयास एकदम शुरू से कर देना चाहिए और उनके बीच शुरू से ही पूँजीवाद-विरोधी राजनीतिक प्रचार करना चाहिए। उन्हें पहले क्रम से ही यह दिखलाना होगा कि उनके उजड़ने, उनके जीवन की असुरक्षा और अनिश्चितता और दर-बदर होने के लिए और कोई नहीं बल्कि पूँजीवादी व्यवस्था ज़िम्मेदार है। उन्हें बताना होगा कि यह व्यवस्था और कुछ कर भी नहीं सकती है। ऐसे वर्गों में लम्पट सर्वहारा वर्ग, असंगठित और अनौपचारिक क्षेत्र में काम करने वाला सर्वहारा वर्ग, शहरी निम्न मध्यवर्गीय बेरोज़गार और अर्द्ध-बेरोज़गार, गाँवों में उजड़े हुए या उजड़ते हुए ग़रीब किसान आदि प्रमुख हैं।

7) लेनिन ने बहुत पहले बताया था कि फ्रासीवाद और प्रतिक्रियावाद दस में से नौ बार जातीयतावादी, नस्लवादी, साम्प्रदायिकतावादी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का चोला पहनकर आता है। वैसे तो हमें शुरू से ही बुर्जुआ राष्ट्रवाद के हर संस्करण का पुरजोर विरोध करना चाहिए, लेकिन ख़ास तौर पर फ्रासीवादी प्रजाति का सांस्कृतिक अन्धराष्ट्रवाद मज़दूर वर्ग के सबसे बड़े शत्रुओं में से एक है। हमें हर

क्रम पर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, प्राचीन हिन्दू राष्ट्र के गौरव के हर मिथक और झूठ का विरोध करना होगा और उसे जनता की निगाह में खण्डित करना होगा। इसमें हमें इन सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों की जन्मकुण्डली से विशेष सहायता मिलेगी। निरपवाद रूप से अन्धराष्ट्रवाद का जुनून फैलाने में लगे सभी फ़्रासीवादी प्रचारक और उनके संगठनों का काला इतिहास होता है जो गद्दारियों, भ्रष्टाचार और पतन की मिसालें पेश करता है। हमें बस इस इतिहास को खोलकर जनता के सामने रख देना है और उनके बीच यह सवाल खड़ा करना है कि यह “राष्ट्र” कौन है जिसकी बात फ़्रासीवादी कर रहे हैं? वे कैसा राष्ट्र स्थापित करना चाहते हैं? और किसके हित में और किसके हित की क्रीम पर? “राष्ट्रवाद” के नारे और विचारधारा का निर्मम विखण्डन – इसके बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते। राष्ट्र की जगह हमें वर्ग की चेतना को स्थापित करना होगा। बुर्जुआ राष्ट्रवाद की हर प्रजाति के लिए “राष्ट्र” बुर्जुआ वर्ग और उसके हित होते हैं। मजदूर वर्ग को हाड़ गलाकर इस “राष्ट्र” की उन्नति के लिए खपना होता है। इसके अतिरिक्त कुछ भी सोचना राष्ट्र-विरोधी है। राष्ट्रवाद मजदूरों के बीच छद्म गर्व-बोध पैदा कर उनकी वर्ग चेतना को कुन्द करने का एक पूँजीवादी उपकरण है और इस रूप में उसे बेनकाब करना बेहद ज़रूरी है। यह न सिर्फ़ मजदूरों के बीच किया जाना चाहिए, बल्कि हर उस वर्ग के बीच किया जाना चाहिए जिसे भावी समाजवादी क्रान्ति के मित्र के रूप में गोलबन्द किया जाना है।

8) सामाजिक जनवादी और संशोधनवादी मजदूर आन्दोलन में सर्वहारा वर्ग चेतना को कुन्द करने का हर सम्भव प्रयास करते हैं। वे वर्ग संघर्ष की बजाय वर्ग सहयोग की कार्यदिशा को आन्दोलन के बीच पैठाने का काम करते हैं, हालाँकि बौद्धिक विमर्शों में वे भी वर्ग संघर्ष की बातें करते हैं। मजदूरों को वर्ग सहयोग का उपदेश देते हुए पश्चिम बंगाल के मुख्यमन्त्र बुद्धदेव भट्टाचार्य ने कुछ समय पहले कहा था कि हमें समझ लेना चाहिए कि वह दौर अब चला गया जब रूस या चीन की तरह हिंसक तरीके से क्रान्ति हो सके। मजदूर वर्ग को पूँजीपति वर्ग के साथ सहयोग के दृष्टिकोण को लागू करना चाहिए। उद्योग की उन्नति में ही दोनों वर्गों का हित है। यहाँ पर बुद्धदेव भट्टाचार्य ने लगभग-लगभग शब्दशः वही बात कही थी जो एक जर्मन सामाजिक-जनवादी नेता ने कही थी। कार्ल लीज़न ने उद्योगपतियों से समझौते के समय कमोबेश यही बात जर्मनी में कही थी। कार्ल लीज़न जर्मन सामाजिक जनवादी पार्टी के एक नेता थे। कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को वर्ग सहयोग के ऐसे हर प्रयास को बेनकाब करना चाहिए और संशोधनवादियों की असलियत को मजदूरों के सामने उघाड़कर रख देना चाहिए। उन्हें मजदूर वर्ग को समझाना होगा कि श्रम और पूँजी

की शक्तियों के बीच कोई समझौता नहीं हो सकता। ऐतिहासिक तौर पर ये दोनों अन्तरविरोधी ताकतें हैं और इतिहास ने उनके सामने एक ही विकल्प रखा है – संघर्ष, और इस संघर्ष में अन्ततः विजय श्रम की शक्तियों की होनी है।

9) हम कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को पूँजीवादी विकास के मौजूदा दौर में अनौपचारिक व असंगठित क्षेत्र के मजदूरों पर विशेष रूप से ज़ोर देना होगा। आज भारत के मजदूर वर्ग का 90 फ़ीसदी से भी अधिक हिस्सा असंगठित क्षेत्र में आता है। संगठित मजदूरों की बड़ी आबादी सफ़ेद कॉलर के मजदूरों में तब्दील हो रही है। यह आबादी अपने आपको मजदूर के बजाय कर्मचारी कहलवाना पसन्द करती है और इसका बड़ा हिस्सा या तो संशोधनवादी ट्रेड यूनियनों का हिस्सा बन चुका है या फिर फ़्रांसीसीवादी भारतीय मजदूर संघ का, जो अब भारत की सबसे बड़ी ट्रेड यूनियन है। अनौपचारिक व असंगठित क्षेत्र के मजदूरों के बीच फ़्रांसीसीवादी ताकतें लगातार सुधार की गतिविधियों और कीर्तन-जागरण आदि जैसे धार्मिक क्रियाकलापों के जरिये आधार बनाने का प्रयास कर रही हैं। इस आबादी के फ़्रांसीसीवादीकरण के लिए उनके बीच सेवा भारती आदि जैसे उपक्रम चलाए जा रहे हैं और उन्हें भ्रष्ट करने की कोशिश की जा रही है। यह सही है कि मजदूर आबादी के इस हिस्से का फ़्रांसीसीवादीकरण सबसे मुश्किल है लेकिन फिर भी हमें निरन्तरता के साथ इस आबादी को संगठित करने का प्रयास सबसे पहले करना होगा। वैसे भी असंगठित मजदूर कुल मजदूर आबादी की बहुसंख्या का निर्माण करते हैं, इसलिए हमें उनके इलाक़ाई संगठन बनाने, उनके बीच बच्चों के लिए स्कूल खोलने, सुधार की कार्रवाइयाँ करने और उनके बीच अदम्य और शक्तिशाली सामाजिक आधार बनाने की कार्रवाइयाँ करनी चाहिए। उनके बीच हमें निरन्तर, व्यापक और सघन राजनीतिक प्रचार करना होगा। पुराने असंगठित मजदूर वर्ग की तरह इस नये असंगठित मजदूर वर्ग में वर्ग चेतना का अभाव नहीं है, बल्कि घुमन्तु मजदूर होने के कारण यह पूरे पूँजीपति वर्ग को अपने दुश्मन के तौर पर देखता है और संगठित होने की सम्भावना से सम्पन्न है। दूसरी बात यह है कि इस मजदूर वर्ग का बड़ा हिस्सा युवा है जो हमारे लिए एक अच्छी बात है। इसी हिस्से के बीच से हम मजदूर वर्ग के सबसे जुझारू संगठन बना सकते हैं और हमें बनाने होंगे। जाहिर है कि असंगठित क्षेत्र के मजदूरों के बीच कारखाना आधारित ट्रेड यूनियनें नहीं बन सकती हैं। इसलिए उनके बीच हमें इलाक़ाई ट्रेड यूनियनें बनानी चाहिए। ट्रेड यूनियन के अतिरिक्त, इलाक़ाई पैमाने के जुझारू लड़ाकू संगठन खड़े किये जाने चाहिए। जिस प्रकार जर्मनी में कारखानों में फ़ैक्ट्री ब्रिगेडें बनायी गयी थीं, उसी 73 प्रकार हमें असंगठित मजदूरों के रिहायशी इलाक़ों में ऐसे लड़ाकू संगठन खड़े करने

चाहिए, जो उनकी ट्रेड यूनियन से अलग हों। ट्रेड यूनियनों का एक विशेष काम होता है और उन्हें उसी काम के लिए उपयोग में लाया जाना चाहिए। फ्रासीवादी हमलों को नाकाम करने के लिए मज़दूर वर्ग के अपने अलग लड़ाकू-जुझारू संगठन होने चाहिए।

10) फ्रासीवाद की कार्यनीति की एक खास बात यह होती है कि अपने राजनीतिक और सांगठनिक हितों की पूर्ति तथा अपने दुश्मनों के सफाए के लिए यह आतंक की रणनीति का इस्तेमाल करता है। जर्मनी और इटली की ही तरह भारत के फ्रासीवादियों ने भी बजरंग दल, विश्व हिन्दू परिषद और वनवासी कल्याण आश्रम के नाम पर अपने आतंक समूह बना रखे हैं। ये आतंक समूह बुर्जुआ राज्य के उपकरणों के दायरे से बाहर बुर्जुआ वर्ग की तानाशाही को लागू करने का काम करते हैं। मज़दूर नेताओं, ट्रेड यूनियन नेताओं, कम्युनिस्टों, उदारपन्थियों पर हमले और उनकी हत्याओं का इतिहास भारत में भी मौजूद है। हड़तालों को तोड़ने के लिए ऐसे आतंक समूहों का इस्तेमाल फ्रासीवादियों ने भारत में भी किया है। महाराष्ट्र में हड़ताली मज़दूरों और उनके नेताओं पर शिवसेना की गुण्डा वाहिनियों के हमले को कौन भूल सकता है? हमें फ्रासीवाद को विचारधारा और राजनीति में तो परास्त करना ही होगा, लेकिन साथ ही हमें उन्हें सड़क पर भी परास्त करना होगा। इसके लिए हमें मज़दूरों के लड़ाकू और जुझारू संगठन बनाने होंगे। गौरतलब है कि जर्मनी के कम्युनिस्टों ने फ्रासीवादी गिरोहों से निपटने के लिए कारखाना ब्रिगेडें खड़ी की थीं, जो सड़क पर फ्रासीवादी गुण्डों के हमलों का जवाब देने और उन्हें सबक सिखाने का काम कारगर तरीके से करती थीं। बाद में यह प्रयोग आगे नहीं बढ़ सका और फ्रासीवादियों ने जर्मनी में अपनी सत्ता कायम कर ली। मज़दूर वर्ग का बड़ा हिस्सा वहाँ अभी भी सामाजिक जनवादियों के प्रभाव में ही था और क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों की पकड़ उतनी मज़बूत नहीं हो पायी थी। लेकिन उस छोटे-से प्रयोग ने प्रदर्शित किया था कि फ्रासीवादी गुण्डों से सड़क पर ही निपटा जा सकता है। उनके साथ तर्क करने और वाद-विवाद करने की कोई गुंजाइश नहीं होती है। साम्प्रदायिक दंगों को रोकने और फ्रासीवादी हमलों को रोकने के लिए ऐसे ही दस्ते छात्र और युवा मोर्चे पर भी बनाये जाने चाहिए। छात्रों-युवाओं को ऐसे हमलों से निपटने के लिए आत्मरक्षा और जनरक्षा हेतु शारीरिक प्रशिक्षण और मार्शल आर्ट्स का प्रशिक्षण देने का काम क्रान्तिकारी छात्र-युवा संगठनों को करना चाहिए। उन्हें स्पोर्ट्स क्लब, जिम, मनोरंजन क्लब आदि जैसी संस्थाएँ खड़ी करनी चाहिए, जहाँ राजनीतिक शिक्षण-प्रशिक्षण और तार्किकता व वैज्ञानिकता के प्रसार का काम भी किया जाये।

11) हमें उदारवादी बुर्जुआ राज्य को लेकर जनता में मौजूद सभी विभ्रमों को

खण्डित करने का काम करना होगा। हमें दिखाना होगा कि किस प्रकार पूँजीवाद की नैसर्गिक गति के कारण उदारवादी या कल्याणकारी बुर्जुआ राज्य की नियति में ढह जाना ही लिखा है। इसकी नैसर्गिक गति पतन की तरफ़ होती है। फ़ासीवाद पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और राजसत्ता के ढहने और पतन की सूत्र में ही पैदा होता है। वही स्थिति जो क्रान्तिकारी सम्भावना को जन्म देती है, प्रतिक्रियावादी सम्भावना को भी जन्म देती है। हमें हर सम्भव मौक़े पर उदारवादी पूँजीवाद की असलियत को जनता के सामने नंगा करते हुए बताना होगा कि यह जनता को कुछ नहीं दे सकता और यह लगातार संकट के दलदल में धँसता जायेगा तथा इससे मिलने वाले श्रम अधिकार, जनवादी अधिकार, नागरिक अधिकार लगातार ख़त्म होते जायेंगे।

12) हमें जनवादी, नागरिक व मानव अधिकारों के क्षरण और पतन के खिलाफ़ अपने नागरिक-जनवादी अधिकार संगठनों के ज़रिये संघर्ष करना होगा। हालाँकि, हम जानते हैं कि यह एक हारी हुई लड़ाई होती है, लेकिन इसी हारी हुई लड़ाई को हम अपनी लम्बी लड़ाई में जीत का एक उपकरण बना सकते हैं। हमें इन अधिकारों के हनन और सिकुड़ते जनवादी स्पेस पर जनता के बीच लगातार प्रचार करना चाहिए और खास तौर पर शिक्षित शहरी मध्य वर्ग के बीच यह प्रचार करना चाहिए। इसके ज़रिये हमें पूरे पूँजीवादी जनवाद की असलियत को जनता के सामने बेनकाब करना चाहिए और इससे बेहतर और ऐतिहासिक तौर पर प्रगतिशील सर्वहारा जनवाद के विकल्प को पेश करना चाहिए। इसके अलावा, हमें श्रमिक अधिकारों के हनन और पतन पर भी लगातार संघर्ष और प्रचार करते हुए राज्य को मजबूर करना चाहिए कि वह श्रमिक अधिकारों की पूर्ति करे। इसके अतिरिक्त, हमें सभी अपूर्ण जनवादी कार्यभारों को पूरा करने के लिए संघर्ष करना चाहिए। जिन देशों में पूँजीवाद किसी क्रान्ति के ज़रिये नहीं आया, उन सभी देशों में अपूर्ण जनवादी कार्यभारों की एक लम्बी सूची है। हमें इन अधिकारों के लिए संघर्ष करना चाहिए। इसके दो मक़सद हैं। एक तो यह पूँजीवादी राजसत्ता के 'ब्रीदिंग स्पेस' को घटाकर उसके लिए घुटन भरी स्थितियाँ पैदा करता है। दूसरा यह कि जनवादी कार्यभारों के पूरा होने के साथ समाज में तमाम वर्गों में प्रतिक्रिया का आधार कमज़ोर पड़ता है। यही कारण है कि अपूर्ण और अधूरे भूमि सुधारों को पूरा करना भी आम तौर पर क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों की एक माँग बनता है। यह गाँवों में प्रतिक्रिया की ज़मीन को कमज़ोर करता है और वर्ग चेतना को उभारता है। लेकिन इस माँग की अहमियत तभी बनती है जबकि सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों की मौजूदगी मुख्य रूप से बनी हुई हो। लिहाज़ा, हमारे देश में इस माँग की बजाय साड़ी खेती का संघर्ष प्रमुख महत्व ग्रहण कर लेता है, जहाँ कि

प्रशियाई पथ से हुए भूमि सुधारों ने उत्पादन सम्बन्धों के पूँजीवादी रूपान्तरण को प्रतिक्रियावादी स्वरूप में ही सही मगर कमोबेश पूरा कर दिया है।

यहाँ एक बात गौर करने वाली यह है कि बुर्जुआ व्यवस्था के बीच जनवादी अधिकारों की लड़ाई को लेकर मज़दूर आन्दोलन में एक सर्वखण्डनवादी अराजकतावादी नज़रिया कभी-कभी प्रभावी हो जाता है और हम सिकुड़ते जनवादी स्पेस के खतरों को समझ नहीं पाते हैं। हमें लगता है कि कुछ ठोस वर्ग संघर्ष किया जाये; नागरिक व जनवादी अधिकारों पर हमले के खिलाफ़ संघर्ष हमें अप्रासंगिक-सा लगने लगता है। यह बहुत खतरनाक भटकाव है। हंगेरियाई कम्युनिस्ट **जॉर्ज लूकाच** ने इस प्रवृत्ति के खिलाफ़ अपनी '**ब्लम थीसिस**' में आगाह किया था और इसे आत्मघाती बताया था। जनवादी स्पेस के सिकुड़ने के साथ मज़दूर वर्ग को गोलबन्द और संगठित करने का काम भी कठिन होता जाता है। **लेनिन** ने यँ ही नहीं कहा था कि बुर्जुआ जनवाद सर्वहारा वर्ग के लिए सर्वश्रेष्ठ युद्धभूमि है। इसलिए मज़दूर आन्दोलन को न सिर्फ़ श्रमिक अधिकारों पर हमले के खिलाफ़ लड़ना चाहिए, बल्कि उन्हें नागरिक व जनवादी अधिकारों पर हमले के खिलाफ़ भी लड़ना चाहिए। यह नागरिक पहचान पर उनका एक शक्तिशाली दावा भी होगा जो राजनीतिक संघर्ष को आगे ले जाने और मज़दूर वर्ग में राजनीतिक चेतना को विकसित करने का एक अहम क्रम होगा।

13) नात्सी पार्टी के उभार की व्याख्या करने के तमाम समकालीन प्रयासों ने 'हिटलर साइकोसिस', सामूहिक जन सम्मोहन, जनता की चेतना के दिग्भ्रमण आदि को ज़िम्मेदार ठहराया था। हमें लगता है कि यह व्याख्या अपर्याप्त है। आज विशेष तौर पर भारत जैसे देश में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को यह समझना चाहिए कि जन समुदायों की चेतना में पहले से ऐसे प्रतिक्रियावादी और पुनरुत्थानवादी तत्व मौजूद होते हैं जिन्हें आवर्धित करने का कार्य फ़्रासीवादी प्रचार करता है। अगर जनसमुदायों की चेतना में ऐसा कोई तत्व न हो तो फ़्रासीवादी प्रचार एक-दो या कुछ व्यक्तियों की चेतना का दिग्भ्रमण कर सकता है, समूचे वर्ग की चेतना का नहीं। आखिर टटपुँजिया वर्ग अपने आर्थिक, राजनीतिक व भौतिक हितों के विरुद्ध फ़्रासीवादी उभार की मुख्य ज़मीन क्यों बनते हैं? उनकी चेतना में ऐसा क्या है जो उन्हें फ़्रासीवादी प्रचार के समक्ष अरक्षित बनाता है? कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को यह समझना चाहिए फ़्रासीवादी उभार किसी छलयोजन या तिकड़म का परिणाम नहीं होता है। इसकी ज़मीन न सिर्फ़ आर्थिक और भौतिक तौर पर विशेष तौर पर टटपुँजिया वर्गों में और आम तौर पर व्यापक मेहनतकश जनसमुदायों में मौजूद होती है, बल्कि यह सांस्कृतिक और

मनोवैज्ञानिक तौर पर भी इन वर्गों में मौजूद होती है। इसकी जड़ में विशेष तौर पर पितृसत्तात्मक संस्कृति व मूल्य होते हैं जो कि स्त्रियों और साथ ही पुरुषों की भी, नैसर्गिकता का दमन करते हैं, उन पर एक अनैसर्गिक नैतिकता व आचार को थोपने का काम करते हैं और उन्हें बाल्यावस्था से ही एक प्राधिकार-सम्पन्न पितृसत्ता के समक्ष समर्पण की आदत डलवाते हैं। यह पितृसत्ता इस समर्पण के बदले उन्हें आर्थिक, नैतिक व धार्मिक सुरक्षा देती है। समूचा बुर्जुआ परिवार इसी मूल तर्क पर आधारित होता है। ऐसे बुर्जुआ पितृसत्तात्मक परिवार का पालन-पोषण शुरू से ही व्यक्ति को प्राधिकार-सम्पन्न पितृसत्तात्मक शिष्टाचार के समक्ष समर्पण करने के लिए प्रशिक्षित करता है। ऐसा व्यक्ति ही किसी 'फ्रयूहरर' या 'ड्यूस' के प्राधिकार को तत्परता से और अतार्किक तौर पर स्वीकार करने के लिए तैयार रहता है। जो आर्थिक व भौतिक अन्तरविरोध अपने आपको स्वस्थ नैसर्गिक रूप में प्रकट नहीं करते, वे विकृत होकर सांस्कृतिक व नैतिक अन्तरविरोधों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को फ्रांसीसीवादी उभार के लिए ज़मीन मुहैया कराने वाले वस्तुगत भौतिक कारकों में महज़ आर्थिक कारकों पर गौर नहीं करना चाहिए, बल्कि समझना चाहिए कि हमारे देश में पितृसत्ता और पितृसत्तात्मक बुर्जुआ परिवार किस रूप में विशेष तौर पर छोटे उत्पादकों के वर्ग व निम्न मध्य वर्ग में फ्रांसीसीवादी उभार के अनुकूल चेतना निर्मित करता है, क्योंकि इन वर्गों में परिवार का आर्थिक महत्व व आर्थिक पंजी सर्वाधिक शक्तिशाली होता है, और यही कारण है कि इन्हीं वर्गों में पितृसत्ता सबसे व्यापक और सघन रूप में मौजूद होती है। कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को इस पहलू का नज़दीकी से अध्ययन करना चाहिए ताकि वे इसके विरुद्ध प्रभावी सांस्कृतिक प्रचार व आन्दोलन संगठित कर सकें। लिहाज़ा, पितृसत्ता-विरोधी संघर्ष और स्त्रियों की मुक्ति का संघर्ष फ्रांसीसीवाद-विरोधी संघर्ष में एक बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस प्रचार को संगठित करते समय कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को 'जनता से एकता के ज़रिये संघर्ष' के माओवादी जनदिशा के नारे को याद रखना चाहिए और कुलीन नारीवादी विमर्श से दूर रहना चाहिए। केवल इसी के ज़रिये यह मोर्चा जीता जा सकता है, भले ही इसमें वक्रत लगे।

14) भारत की विशेष परिप्रेक्ष्य में फ्रांसीसीवाद-विरोधी लड़ाई का एक बेहद अहम मोर्चा है जाति-उन्मूलन का संघर्ष। हमारे देश में अतीत में भी और वर्तमान में भी फ्रांसीसीवादी राजनीति एक ओर दलितों के दमन से भी क़रीबी से जुड़ती है, वहीं यह फ्रांसीसीवादी राजनीति जाति उन्मूलन के आन्दोलन में हावी अस्मितावादी राजनीति और व्यवहारवादी अम्बेडकरवादी राजनीति का जमकर इस्तेमाल भी करती है।

कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी राजनीति को न सिर्फ दलित व गरीब पिछड़ी जातियों के भीतर भारतीय फ़ासीवाद के ब्राह्मणवादी चरित्र को स्पष्ट करना चाहिए, बल्कि उसे अस्मितावादी राजनीति के जन-विरोधी चरित्र और साथ ही अम्बेडकरवादी व्यवहारवादी उदार बुर्जुआ राजनीति की गम्भीर सीमाओं और प्रतिगामी चरित्र को भी स्पष्ट करना चाहिए। इसके लिए हमें दलित मुक्ति व जाति उन्मूलन की एक वैज्ञानिक परियोजना तो लगातार पेश करनी ही होगी, मगर इसके साथ ही हमें हर शहर व गाँव की दलित बस्तियों में लम्बा, धैर्यपूर्ण और बिना तात्कालिक फल की कामना के किया जाने वाला राजनीतिक कार्य करना होगा। इसका सबसे अहम पहलू होगा लम्बा संस्थागत क्रान्तिकारी सुधार कार्य। सिर्फ विचारधारात्मक-राजनीतिक प्रचार पर्याप्त नहीं होगा। यह तभी प्रभावी हो सकेगा जब कि कम्युनिस्ट ताकतें दलित आबादी के बीच अपने सघन, व्यापक, दूरगामी और दीर्घकालिक सुधार कार्य से एक अभेद्य सामाजिक आधार पैदा करें। यह चीज हमें न सिर्फ फ़ासीवादी ब्राह्मणवाद को बेनकाब करने में मदद करेगी, बल्कि इस राजनीतिक क्षेत्र से अस्मितावादी राजनीति और अम्बेडकरवादी सुधारवाद और व्यवहारवाद के सफ़ाये और जाति-उन्मूलन की एक क्रान्तिकारी कार्यदिशा को स्थापित करने में भी मदद करेगी।

15) हम अन्यत्र भी लिख चुके हैं कि भारतीय समाज में संस्थागत क्रान्तिकारी सुधार कार्यों की बेहद ज़रूरत है। फ़ासीवादी शक्तियों ने बस्तियों, कालोनियों व रिहायशी इलाकों में अपने सुधार कार्यों, सांस्कृतिक प्रचार व शाखाओं आदि के ज़रिये अपना आधार बनाया है। उन्होंने अपनी संस्थाएँ खड़ी की हैं जैसे कि स्कूल, सिलाई प्रशिक्षण केन्द्र, पुस्तकालय आदि। ये चीज़ें वास्तव में फ़ासीवाद ने बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के समाजवादी आन्दोलन व क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन से ही सीखी थीं। लेकिन अफ़सोस की बात है कि कम्युनिस्ट आन्दोलन स्वयं अपनी इस रणनीति को विस्मृत कर बैठा है। 1930 के दशक से लेकर 1970 के दशक के बीच जिस प्रकार के अर्थवाद और संघाधिपत्यवाद ने कम्युनिस्ट आन्दोलन व मजदूर आन्दोलन में जड़ें जमायीं, उसने कम्युनिस्ट शक्तियों को 78 कारखानों व वर्कशॉपों तक में सीमित कर दिया और रिहायशों को फ़ासीवादियों के लिए छोड़ दिया। क्या मुम्बई में मजदूर आन्दोलन के ढहने और शिवसेना के उभार का एक प्रमुख कारण यह नहीं था कि शिवसेना ने रिहायशी क्षेत्रों में संस्थागत सुधार कार्यों के मोर्चे पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया था? आज कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को यह समझना पड़ेगा कि कार्यस्थल की आर्थिक व राजनीतिक लड़ाइयों के साथ ही अगर उन्होंने समाज के व्यापक हिस्सों में इलाकाई सुधार कार्यों के ज़रिये अपना अपना अभेद्य

जनाधार तैयार नहीं किया तो उन्हें एक विकराल अस्तित्व की लड़ाई लड़नी पड़ेगी। आज कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ताकतों को निम्न मध्यवर्गीय बस्तियों, कॉलोनियों व रिहायशों में और साथ ही मजदूर बस्तियों में व्यापक और सघन राजनीतिक सुधार कार्य करना होगा; उन्हें स्कूल, अस्पताल, क्लिनिक, शव-वहन सेवा, रियायती कोचिंग सेण्टर से लेकर यूथ क्लब, स्पोर्ट्स क्लब, पुस्तकालय आदि तक खोलने होंगे। इस प्रकार संस्था-निर्माण के ज़रिये ही आज कम्युनिस्ट शक्तियाँ फ़ासीवाद को टक्कर दे सकती हैं। केवल इस प्रकार के राजनीतिक व संस्थागत सुधार कार्य के ज़रिये ही कम्युनिस्ट शक्तियाँ समाज में अपने जनाधार को सघन और व्यापक रूप में निर्मित कर सकती हैं। ये ही जनाधार कम्युनिस्ट शक्तियों के रक्षा के दुर्ग भी बनेंगे और साथ ही उनके 'ऑफ़ेंसिव' की ज़मीन भी बनेंगे।

पश्चलेख

यह पुस्तिका 2009 में कांग्रेस-नीत 'संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन' की अप्रत्याशित चुनावी जीत के ठीक बाद लिखी गयी थी। तब संसदीय वामपन्थियों और संशोधनवादियों समेत क्रान्तिकारी वाम का भी एक हिस्सा इस बात पर जश्न मना रहा था कि भाजपा की चुनावों में भारी हार हुई थी। कई तो इसे फ़ासीवाद की निर्णायक पराजय भी करार दे रहे थे। इस तरह के दावे केवल यही दिखला रहे थे कि एक मज़दूर-विरोधी राजनीतिक और सामाजिक आन्दोलन के तौर पर फ़ासीवाद की उनकी समझदारी कितनी दरिद्र है। हमने तब भी लिखा था कि चुनावी पराजय को फ़ासीवाद की पराजय मानना एक भारी भूल है। और सर्वहारा वर्ग के प्रतिरोध की रणनीति को बनाने के लिए ऐसी सोच विशेष तौर पर नुकसानदेह है। इसके कई कारण हैं।

पहली बात तो यह है कि एकाधिकारी पूँजीवाद के दौर में पूँजीवादी आर्थिक 'जनवाद' के ख़त्म होने के साथ राजनीतिक बुर्जुआ जनवाद का भी क्षरण होता है; ऐसे में, तथाकथित उदार व 'सेक्युलर' बुर्जुआ शक्तियाँ भी सत्ता में होने पर मज़दूर वर्ग के लिए कमोबेश उतनी ही दमनकारी सिद्ध होती हैं, जितनी के फ़ासीवादी बुर्जुआ ताक़तें और यही कारण है कि भाजपा की हार पर आनन्दातिरेक में जाने का कोई विशेष कारण नहीं था। यह बात 'संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन' के एक दशक के शासन में सिद्ध भी हुई जब मज़दूर-विरोधी और कम्युनिज़्म-विरोधी दमनकारी क़ानूनों जैसे कि 'आतंकवाद-निरोधक क़ानून' के पारित होने के साथ-साथ 'ऑपरेशन ग्रीन हण्ट' और सलवा जुडूम जैसी कुत्सित मुहिमें और प्रयास भी हुए। निश्चित तौर पर, इसका यह अर्थ नहीं है कि हम फ़ासीवादी बुर्जुआ पार्टियों, जैसे कि भाजपा, शिवसेना आदि में और अन्य बुर्जुआ पार्टियों में कोई फ़र्क़ नहीं करते। कहने की आवश्यकता नहीं है कि इन दोनों में गहरा फ़र्क़ है और सत्ता में आने पर ये दो भिन्न प्रकार की बुर्जुआ 80 राज्यसत्ताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। लेकिन इतना निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि अन्य 'उदार' बुर्जुआ पार्टियों

में भी आज के एकाधिकारी पूँजीवाद के चरण में कोई विशेष जनवादी सम्भावना शेष नहीं रह गयी है।

दूसरी बात जो ग़ौर करने लायक है वह यह कि आज के अभूतपूर्व रूप से मानवद्रोही, पतनशील और परजीवी पूँजीवाद के दौर में फ़्रासीवाद के सत्ता में रहने या न रहने से उसके अस्तित्व पर परिमाणात्मक रूप में ही असर पड़ता है। हालाँकि यह बात पहले भी एक हद तक लागू होती थी मगर आज के दौर में यह बात पहले हमेशा से ज़्यादा लागू होती है, जबकि फ़्रासीवाद वैश्विक संकट के ज़्यादा संरचनागत बनने के साथ पतनशील बुर्जुआ समाज की एक स्थायी और ढाँचागत परिघटना बन चुका है। फ़्रासीवादी शक्तियों का जीवित रहना या उनकी सतत मौजूदगी आज पूँजीवादी व्यवस्था की एक अपरिहार्यता है। वैश्विक संकट के दौर में मज़दूर आन्दोलनों के सरकारी दमन के अलावा ग़ैर-सरकारी दमन और आतंक की रणनीति का शासक वर्गों के लिए एक भारी महत्व है। ऐसे में, शासक वर्ग विशेष तौर पर फ़्रासीवाद को 'ज़ंजीर से बंधे कुत्ते' के समान इस्तेमाल करता है और पहले से भिन्न उसे इस कुत्ते की ज़रूरत अब लगभग हर वक़्त है। यह अकारण नहीं है कि कांग्रेस के शासन-काल के दौरान भी हिन्दुत्ववादी आतंकवाद पर कोई सख्त कार्रवाई नहीं की गयी; भोंसले सैन्य विद्यालय से लेकर संघ परिवार की तमाम संस्थाओं को खुलेआम चलते रहने की इजाज़त दी गयी; संक्षेप में कहें तो कांग्रेस या संयुक्त मोर्चे जैसे चुनावी गठबन्धनों की सरकार ने भी संघ परिवार के घृणित षड्यन्त्रों, दंगे फैलाने, हिन्दुत्ववादी आतंकवाद को शह देने आदि जैसी हरकतों पर कभी भी प्रभावी ढंग से लगाम नहीं कसी। इसका कारण कोई अज्ञान या उपेक्षा के कारण हुई ग़लती नहीं थी। बल्कि यह भारतीय शासक वर्गों की एक सुचिन्तित नीति रही है। मुम्बई में शिवसेना के उभार की कहानी एक मिसाल है। जब शिवसेना सत्ता में नहीं भी थी तो उसे मुम्बई के मज़दूर आन्दोलन को कुचलने के लिए एक गुण्डा शक्ति के रूप में इस्तेमाल किया गया जो कि आतंक की रणनीति अपना कर मज़दूर आन्दोलन पर प्राणान्तक चोट करती रही। यह एक दीगर बात है कि इसका वामपन्थी शक्तियों ने संशोधनवाद और सुधारवाद का शिकार होने के कारण कभी कोई अर्थपूर्ण प्रतिरोध ही नहीं किया। बहरहाल, अगर भारतीय इतिहास पर एक सरसरी निगाह भी डाली जाये तो साफ़ हो जाता है कि फ़्रासीवादी ताक़तें सत्ता में रहें या न रहें, शासक वर्गों ने हमेशा उनका मज़दूर वर्ग के आन्दोलन पर चोट के लिए इस्तेमाल किया है। फ़्रासीवाद मज़दूर वर्ग का सबसे बड़ा शत्रु है और वह सत्ता के अन्दर और बाहर से मज़दूर आन्दोलन पर हमेशा हमले करता रहा है और करता रहेगा। यह बात भी उतनी ही सच है कि किसी भी क्रिस्म का

नेहरू-ब्राण्ड मानवतावाद, सर्वधर्म सम्भाव, 'सेक्युलरिज्म' या उदारपन्थ इस शक्ति का मुक्क़ाबला नहीं कर सकता है। साथ ही, माकपा-भाकपा जैसी संशोधनवादी पार्टियों के प्रतीकवादी शोर-शराबे से भी फ़्रासीवाद की सेहत पर कोई असर नहीं पड़ने वाला है। फ़्रासीवाद की कब्र खोदने का काम मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी और उसके क्रान्तिकारी आन्दोलन के ज़रिये ही हो सकता है और हम यह बात महज़ किसी उद्वेलनात्मक जुमले के रूप में नहीं कह रहे हैं बल्कि इसके निश्चित ऐतिहासिक राजनीतिक कारण हैं।

आज नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में भाजपा की सरकार (कहने के लिए 'राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन' की सरकार) सत्ता में है। इसने सत्ता में आने के एक वर्ष के भीतर ही अपने इरादे और मंसूबे साफ़ कर दिये हैं। मोदी सरकार ने जो सबसे पहले क़दम उठाये हैं उन पर एक निगाह डाली जाये तो स्पष्ट हो जाता है कि मज़दूर वर्ग के बचे-खुचे श्रम अधिकार, उसका ट्रेड यूनियन आन्दोलन और उसका क्रान्तिकारी आन्दोलन इस सरकार के एजेण्डे पर पहला निशाना हैं। यही कारण है कि मोदी सरकार ने आते ही कारखाना अधिनियम, औद्योगिक विवाद अधिनियम, ट्रेड यूनियन अधिनियम, अप्रैण्टिस क़ानून आदि में बदलाव करने का एलान कर दिया। यह प्रक्रिया गुजरात और राजस्थान की भाजपा सरकार ने तो पहले ही शुरू कर दी थी और अब मोदी सरकार इसे राष्ट्रीय पैमाने पर अंजाम दे रही है। इन क़ानूनों में बदलाव का अर्थ होगा मज़दूर वर्ग के बचे-खुचे श्रम अधिकारों का खात्मा और संकट से बिलबिलाये देशी-विदेशी पूँजीपतियों को देश की श्रमशक्ति का बेरोक-टोक दोहन करने की आज़ादी। हर जगह मज़दूर आन्दोलन का पुरज़ोर दमन करने के लिए राज्यसत्ता की दमनकारी मशीनरी को खुली छूट दी जा रही है और उसे पहले से अधिक चाक-चौबन्द और प्रभावी बनाया जा रहा है। इसके अलावा, मज़दूर वर्ग के आन्दोलन को भीतर से कमज़ोर बनाने के लिए एक मिथ्या शत्रु का निर्माण किया जा रहा है। विशेष तौर पर हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, राजस्थान व दिल्ली के क्षेत्रों में (जो कि संघ परिवार के कमज़ोरी के क्षेत्र रहे हैं) में शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में छोटे पैमाने के दंगे फैलाने के प्रयास किये जा रहे हैं।

इसके अलावा, टटपुँजिया वर्गों के बीच हिन्दुत्ववादी फ़्रासीवाद का आधार तैयार करने के लिए शिक्षा व संस्कृति के तमाम संस्थानों और क्षेत्रों का भगवाकरण करने की मुहिम को फ़्रासीवादी पुरज़ोर तरीक़े से चला रहे हैं। स्कूली पाठ्यक्रमों को बदलने से लेकर सामाजिक विज्ञान के अनुसंधान संस्थानों और कला, नाटक व फ़िल्म आदि के संस्थानों में भगवा ब्रिगेड के बर्बरों को मुखिया बनाने तक, मोदी सरकार वाकई 24

घण्टे काम कर रही है! इसके अलावा, मीडिया में अभूतपूर्व पैमाने पर इजारेदारीकरण के साथ तमाम समाचार चैनलों व अन्य मनोरंजन चैनलों को, पहले हमेशा से ज्यादा, फ्रासीवादी भोंपुओं के समान इस्तेमाल किया जा रहा है। विदेश नीति में भी मोदी सरकार ने ज्यादा स्पष्टता के साथ साम्राज्यवादी ताकतों के साथ अपनी पक्षधरता को जाहिर किया है और साथ ही अपने मोलभाव की क्षमता को भी उसने पुरजोर तरीके से रेखांकित किया है। हाल ही में गाजा में इजरायल द्वारा एक वर्ष पहले किये गये बर्बर नरसंहार के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र में पारित होने वाले प्रस्ताव में भारत ने वोट नहीं डाला। इजरायल के पक्ष में इतने खुले तौर पर झुकने की घटना विशेष तौर पर ध्यान देने योग्य है। संक्षेप में, मोदी सरकार ने एक वर्ष के भीतर ही अपना मजदूर-विरोधी फ्रासीवादी रवैया स्पष्ट कर दिया है।

जो एक चीज मोदी सरकार के लिए सिरदर्द का सबब है वह यह है कि काफ़ी लम्बे इन्तज़ार के बाद जब भाजपाइयों को सरकार बनाने का अवसर मिला है तो भ्रष्टाचार, घूसखोरी, काली कमाई करने के मामले में वे नियन्त्रण खो बैठे हैं। वसुन्धरा राजे, सुषमा स्वराज, पंकजा मुण्डे, शिवराज सिंह चौहान, तावड़े, रमन सिंह आदि जैसे बड़े भाजपा नेता नग्न तौर पर भ्रष्टाचार और कारपोरेट घरानों की ग़ैर-क्रान्ती तरीके से सेवा करने में नंगे तौर पर लिप्त पाये गये हैं। यहाँ तक कि नरेन्द्र मोदी तक का नाम ललित मोदी काण्ड में सामने आया है! मोदी ने फ्रासीवादी सौन्दर्यीकरण के जरिये अपनी जो एक लोकंजक शैली विकसित की थी, इन खुलासों के कारण वह भी लोगों में मज़ाक का विषय बन गयी है! **फ्रासीवादी अतिमानव को जिस प्रकार का आभा-मण्डल क्रायम रखना पड़ता है, उसमें मोदी को काफ़ी दिक्कतों का सामना करना पड़ रहा है!** मगर फिर भी महज़ इस पहलू के कारण अगर कोई मौजूदा सरकार के फ्रासीवादी 'क्रेडेंशियल' पर शक़ करे तो उसे राजनीतिक नौसिखुआ ही कहा जायेगा! संक्षेप में, इस बात में कोई शक़ नहीं है कि मोदी सरकार स्पष्टतः एक फ्रासीवादी सरकार है और अगर उसके नेतृत्व, नीतियों, विचारधारा और कार्यपद्धति को देखा जाये तो यह बात साफ़ हो जाती है।

लेकिन सिर्फ़ इतना कहने से बात खत्म नहीं हो जाती। हमने 2009 में लिखित इस पुस्तिका में फ्रासीवादी उभार के आम कारणों और उसकी चारित्रिक आभिलाक्षणिकताओं के बारे में लिखा था; हमने फ्रासीवादी उभार के सामाजिक आधार का वर्ग विश्लेषण किया था; साथ ही, हमने फ्रासीवादी उभार से लड़ने की सम्भावित मजदूर वर्गीय रणनीति पर भी संक्षेप में चर्चा की थी। इसके अलावा हमने जर्मनी और इटली में फ्रासीवादी उभार और साथ ही भारत में फ्रासीवादी आन्दोलन

के इतिहास का संक्षिप्त विवरण भी पेश किया था। मगर इतना ही काफ़ी नहीं है। इसके साथ ही यह भी ज़रूरी है कि हम कुछ अन्य सवालों पर भी सोचें, मसलन, बीसवीं सदी में जर्मनी, इटली व कुछ अन्य देशों जैसे कि पुर्तगाल और हंगरी में फ़्रासीवादी व अर्द्धफ़्रासीवादी सत्ताओं और साथ ही अन्य कई देशों में फ़्रासीवादी पार्टियों व राजनीति के चरित्र और आज के दौर में फ़्रासीवादी सत्ताओं और राजनीति के चरित्र में क्या हम कोई फ़र्क कर सकते हैं? क्या पूँजीवादी संकट के बदलते चरित्र के साथ फ़्रासीवाद की परिघटना के स्वरूप में भी बदलाव आया है? क्या इन बदलावों के मद्देनज़र सर्वहारा वर्ग को अपनी रणनीति में भी कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता है? लेकिन शुरुआत हम इस सवाल से करेंगे कि मोदी सरकार के सत्ता में आने के बाद भारत में भगवा गिरोह की कार्यशैली में क्या बदलाव आये हैं और इस पर हमारा रुख क्या होना चाहिए।

फ़्रासीवादी मोदी सरकार की मज़दूर-विरोधी रणनीति क्या है?

16 मई 2014 को सत्ता में आने के बाद नरेन्द्र मोदी की सरकार की रणनीति को समझना न सिर्फ़ दूरगामी तौर पर बल्कि तात्कालिक तौर पर भी मज़दूर वर्ग के लिए अहम है। मोदी सरकार एक ऐसे समय में सत्ता में आयी जबकि पूँजीपति वर्ग दुनिया भर में और हमारे देश में भी आर्थिक संकट से बेहाल है। इस अभूतपूर्व वैश्विक संकट के केन्द्र अभी भारत और चीन जैसे देश नहीं बने हैं, बल्कि अमेरिका और यूरोप हैं। लेकिन इस संकट का गुरुत्व केन्द्र तेज़ी से पूर्व की ओर स्थानान्तरित हो रहा है और कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी अगर यह दशक खत्म होते-होते भारत व चीन जैसी “उभरती अर्थव्यवस्थाएँ” इस संकट का केन्द्र बन जायें। लेकिन अभी भी ये अर्थव्यवस्थाएँ संकट से अछूती नहीं हैं और उसका असर यहाँ भी महसूस किया जा रहा है। और चिन्ता की बात यह है कि यह संकट निरन्तर बढ़ रहा है। यह अति-उत्पादन और अति-संचय का संकट है जो कि पूँजीवादी व्यवस्था में नियमित अन्तरालों पर आता रहता है। अब तो वास्तव में आर्थिक मन्दी व्यवस्था की एक स्थायी परिघटना बन गयी है जो कि बीच-बीच में भयंकर संकटों में तब्दील होती रहती है। इस पूरी प्रक्रिया की एक चर्चा हमने इस पुस्तिका में 2009 में ही की थी, जबकि अभी नयी वैश्विक महामन्दी अभी विश्व के विभिन्न हिस्सों को अपनी गिरफ़्त में लेने की प्रक्रिया में थी। लेकिन विश्व पूँजीवाद वित्तीय सट्टेबाज़ पूँजी के ज़रिये

आवास उद्योग में पैदा किये गये बुलबुले के कारण 'तेजी' का जो दौर देख रहा था, वह निर्णायक रूप से खत्म हो चुका था। 2007 में अमेरिका में सबप्राइम ऋण संकट की शुरुआत के साथ एक महामन्दी की शुरुआत हुई, जो कि अब 1930 के दशक की महामन्दी से भी ज्यादा ढाँचागत, गहरी और गम्भीर साबित हो रही है।

अपने इस असमाधेय संकट से निपटने के लिए दुनिया के तमाम देशों में पूँजीपति वर्ग सबसे प्रतिक्रियावादी, दक्षिणपन्थी, मज़दूर-विरोधी और फ़्रासीवादी सरकारों को चुन रहे हैं। चाहे वह ब्रिटेन में डेविड कैमरून हों, ऑस्ट्रेलिया में टोनी एबट या फिर थाईलैण्ड में सैनिक तानाशाही की स्थापना हो, हम देख सकते हैं कि आर्थिक संकट के भँवर में फँसा पूँजीपति वर्ग अधिकतर देशों में किसी धुर दक्षिणपन्थी या फ़्रासीवादी विकल्प को चुन रहा है। भारत में नरेन्द्र मोदी के सत्ता में आने को भी इस पूरी वैश्विक परिघटना के एक अंग के तौर पर देखा जाना चाहिए, हालाँकि हर देश में इस आम रुझान की अपनी विशिष्टताएँ हैं। लेकिन सत्ता में आने के पहले और सत्ता में आने के बाद फ़्रासीवाद की ठोस रणनीति में कुछ परिवर्तन आते हैं, हालाँकि उसकी राजनीति और विचारधारा वही होती है। साथ ही आज के दौर में फ़्रासीवाद की रणनीति में परिवर्तन आने के कुछ ऐतिहासिक कारण भी हैं, जिनकी हम आगे चर्चा करेंगे।

सरकार में आने से पहले हिन्दुत्ववादी फ़्रासीवादी ताक़तें देश में 'लव जिहाद', 'घर वापसी' जैसी जनविरोधी मुहिमें और साथ ही साम्प्रदायिक दंगे आयोजित करवाने का काम खुले तौर पर कर रही थीं और भाजपा का मुख्य नेतृत्व भी इस पर या तो चुप्पी साधे रहता था या फिर उसके समर्थन में बोलता था। **सरकार बनाने के बाद इस रणनीति में थोड़ा परिवर्तन हुआ है।** अब नरेन्द्र मोदी सामान्य तौर पर साम्प्रदायिकता पर या तो चुप रहते हैं या फिर उसकी निन्दा करते नज़र आते हैं। मोदी द्वारा अब इस तरह की बातों की जाती हैं कि 'किसी को भारत के सेक्युलर और सहिष्णु ताने-बाने को नष्ट नहीं करने दिया जायेगा', 'भारत में सभी नागरिकों को अपने धर्म के पालन की आज़ादी मिलेगी', वगैरह। **लेकिन इस तरह की बयानबाज़ी के साथ मोदी सरकार ने बजरंग दल, विहिप, हिन्दु युवा वाहिनी जैसे हिन्दुत्ववादी फ़्रासीवादी गुण्डा गिरोहों को खुला हाथ दे दिया है।** ज़मीनी धरातल पर ये हिन्दुत्ववादी फ़्रासीवादी गिरोह महाराष्ट्र, गुजरात और राजस्थान से लेकर हरियाणा, उत्तर प्रदेश, बिहार और पश्चिम बंगाल तक में अपनी फ़्रासीवादी हरकतों को अंजाम दे रहे हैं। चाहे वह बहादुरगढ़ से पलवल तक दंगे करवाने की हरकतें हों या फिर देश के तमाम हिस्सों में गाय हत्या की अफ़वाहें उड़ाकर या फिर

पाकिस्तान का झण्डा फहरा कर मुसलमानों के खिलाफ दंगे भड़काने के कुकृत्य हों, ये गुण्डा वाहिनियाँ ‘ओवरटाइम’ काम कर रही हैं। इसका कारण यही है कि मोदी सरकार ऊपरी तौर पर तमाम बयान दे रही है लेकिन ज़मीनी तौर पर उसने भगवा गिरोहों को खुला हाथ दे दिया है।

इन भगवा गिरोहों को खुला हाथ देने के अलावा, तमाम भगवा फ़ासीवादी सांस्कृतिक, बौद्धिक और शैक्षणिक संस्थाओं (जो सुनने में अजीब लगता है क्योंकि इन साम्प्रदायिक फ़ासीवादियों के पास संस्कृति, बुद्धि और शिक्षा के नाम पर जो कुछ है वह हास्यास्पद है!) को देश में अपनी जड़ें फैलाने, सरकारी संस्थाओं का भगवाकरण करने, स्कूली से लेकर उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम का फ़ासीवादीकरण करने की छूट दे दी गयी है। भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् से लेकर एन.सीई. आर.टी. तक और पुणे के भारतीय फ़िल्म व टेलीविजन संस्थान के भगवाकरण और चेन्नई आई.आई.टी. के प्रगतिशील स्वयं पर पाबन्दी लगाने तक की घटनाएँ संघी फ़ासीवाद के मंसूबों को साफ़ कर रही हैं। **इन खतरनाक क्रदमों को मज़दूर वर्ग को कम करके नहीं आँकना चाहिए।** ये क्रदम एक पूरी पीढ़ी के दिमागों में ज़हर घोलने, उनका फ़ासीवादीकरण करने, उन्हें दिमागी तौर पर गुलाम बनाने और साथ ही मज़दूर वर्ग को वैज्ञानिक और तार्किक चिन्तन की क्षमता से वंचित करने का काम करते हैं। जिस देश के मज़दूर और छात्र-युवा वैज्ञानिक और तार्किक चिन्तन की काबिलियत खो बैठते हैं वे अपनी मुक्ति के मार्ग को भी नहीं पहचान पाते हैं और न ही वे मज़दूर आन्दोलन के मित्र बन पाते हैं। उल्टे वे मज़दूर आन्दोलन के शत्रु के तौर पर तैयार किये जाते हैं और शैक्षणिक, बौद्धिक व सांस्कृतिक संस्थाओं का फ़ासीवादीकरण इसमें एक अहम भूमिका निभाता है। ऐसे में इन संस्थानों में पढ़ने वाले छात्र-युवा न तो अपने शत्रुओं की सही पहचान कर पाते हैं और न ही अपने मित्रों की; नतीजतन, अक्सर वे प्रतिक्रियावादी शक्तियों के दुष्प्रचार का शिकार बनकर पूँजीपतियों की कठपुतली बन बैठते हैं। यही कारण है कि जब भी फ़ासीवादी ताकतें सत्ता में आती हैं तो वे शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र को ख़ास तौर पर निशाना बनाती हैं। मोदी सरकार भी यही कर रही है। लेकिन साथ ही नरेन्द्र मोदी साम्प्रदायिक सदभाव और सभी को साथ लेकर चलने की बात कर रहे हैं!

मोदी की यह रणनीति – कि सारे फ़ासीवादी कृकृत्यों को अंजाम देने के काम को सतत् चलाया जाये मगर औपचारिक बयानों के स्तर पर सेक्युलरिज़्म, सहिष्णुता और ‘साथ चलने’ की बातें की जाये – फ़ासीवादी राजनीति के अतीत के उदाहरणों से भिन्न है। जर्मनी या इटली में फ़ासीवादियों ने

सत्ता में आने पर इन सारे कामों को बिना किसी पर्देदारी के अंजाम दिया। कम्युनिस्टों और यहूदियों व प्रवासियों के खिलाफ़ उनका फ़्रासीवादी नस्लवाद बेलौस, नंगा और बेशर्मा था। शिक्षा व्यवस्था और संस्कृति के क्षेत्र में की गयी साज़िशें और विकृतिकरण भी बिना किसी मुखौटे के किये गये थे। लेकिन अतीत में फ़्रासीवादी सत्ताओं और पार्टियों का जो हथ्र हुआ, उसके मदेनजर फ़्रासीवादियों ने भी इतिहास से सबक़ लिया है। अब वे अपने सारे कुकृत्यों को ज़्यादा शातिर तरीक़े से अंजाम देते हैं। दूसरे शब्दों में, फ़्रासीवाद अब पहले से ज़्यादा विचारधारात्मक हो गया है हालाँकि ऐसी पतनशील बुर्जुआ विचारधारा के लिए ज़्यादा विचारधारात्मक होना मुश्किल ही होता है, जैसा कि थियोडोर अडोर्नो ने एक बार कहा था। बहरहाल, मोदी सरकार इसी रणनीति पर काम कर रही है: यानी सारे व्यावहारिक कामों में फ़्रासीवादी मंसूबों पर बेशर्मी के साथ अमल मगर बयानबाज़ी में सेक्युलर, सहिष्णु, बहुलतावादी आदि होने का दावा!

कुछ कार्य मोदी सरकार वही कर रही है जिसके लिए हमेशा पूँजीपति वर्ग फ़्रासीवादी बर्बरों को चुनता है। इसीलिए मोदी सरकार की रणनीति का सबसे अहम हिस्सा वह है जिसके लिए कि मोदी को देश के आर्थिक संकट से कराह रहे पूँजीपति वर्ग ने सत्ता में पहुँचाया है। यह काम है मज़दूर वर्ग के अधिकारों और आन्दोलन पर चोट करना, राज्यसत्ता की दमनकारी मशीनरी को चाक-चौबन्द करना और जनता के हको-हुकूक को एक-एक करके छीनना। इसी के लिए मोदी सरकार और तमाम राज्यों में भाजपा की सरकारों ने सबसे पहले श्रम क़ानूनों को निशाना बनाना शुरू किया है। वैसे तो पहले भी मौजूदा श्रम क़ानून असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों यानी कि ठेका, दिहाड़ी व कैजुअल मज़दूरों के लिए बिरले ही लागू होते थे, लेकिन श्रम क़ानूनों में इन सुधारों के साथ अब असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों का बुनियादी श्रम अधिकारों पर क़ानूनी दावा भी नहीं रह जायेगा। यानी कि पूँजीपति वर्ग मज़दूरों को बिना किसी क़ानूनी रुकावट लूटने की पूरी आज़ादी और दूसरी ओर मज़दूरों से संगठित होकर प्रतिरोध करने का हक़ तक छीन लेना! इसके अलावा मोदी सरकार पूँजीपति वर्ग को अन्य प्रकार भी तमाम छूटें भी दे रही है। उसने कम से कम दरों पर ऋण, ज़मीन, पानी और करों से छूट इन पूँजीपतियों को मुहैया करायी है। यानी कि जिन कारणों से पूँजीपति वर्ग ने नरेन्द्र मोदी पर दस हज़ार करोड़ रुपये का निवेश किया था, अब नरेन्द्र मोदी उस काम को मुस्तैदी से कर रहे हैं।

बहरहाल, मौजूदा फ़्रासीवादी सरकार की कार्यपद्धति में जो परिवर्तन नज़र आ रहे हैं, वह फ़्रासीवादी राजनीति में इक्कीसवीं सदी में आये कुछ परिवर्तनों का ही एक अंग

है। इन परिवर्तनों को समझना मजदूर वर्ग के क्रान्तिकारी आन्दोलन की फ्रासीवाद के प्रतिरोध की रणनीति को निर्धारित करने के लिए ज़रूरी है।

इक्कीसवीं सदी में पूँजीवादी व्यवस्था का संकट और फ्रासीवाद

इतिहास बताता है कि फ्रासीवादी उभार हर-हमेशा इज़ारेदार पूँजीवाद के आर्थिक संकट के दौर में प्रकट होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि आर्थिक कारक यान्त्रिक तरीके से फ्रासीवादी उभार को सुनिश्चित या निर्धारित करते हैं। जैसा कि हमने मौजूदा पुस्तिका में स्पष्ट किया है, हर आर्थिक संकट हमेशा दोहरी सम्भावनाओं को जन्म देता है: क्रान्तिकारी सम्भावना और प्रतिक्रियावादी सम्भावना। यह किसी भी समाज में प्रतिक्रियावादी शक्तियों और क्रान्तिकारी शक्तियों के सापेक्षिक शक्ति सन्तुलन पर निर्भर करता है कि कौन-सी सम्भावना वास्तविकता में तब्दील होगी या फिर उनके बीच का अन्तरविरोध तात्कालिक तौर पर अनिर्धारित रह जायेगा। **इसके अतिरिक्त, जिन समाजों में क्रान्तिकारी शक्तियाँ कमज़ोर होंगी, वहाँ भी फ्रासीवादी विकल्प बुर्जुआ वर्ग के पास मौजूद एकमात्र विकल्प नहीं होता है।** अगर ऐसा होता तो फिर संकट के शिकार ऐसे सभी देशों में फ्रासीवादी शक्तियों को सत्ता में आना चाहिए था जहाँ क्रान्तिकारी शक्तियाँ कमज़ोर थीं। मगर इतिहास में ऐसा नहीं हुआ और वर्तमान दुनिया में भी ऐसा नहीं हो रहा है। **इसलिए आर्थिक अन्तरविरोध इस रूप में किसी भी परिघटना के उदय को यान्त्रिक रूप से निर्धारित नहीं करते हैं।** जर्मनी और इटली, दोनों ही देशों में फ्रासीवादी विकल्प का चुनाव वहाँ के बुर्जुआ वर्ग का एक राजनीतिक निर्णय था जो कि आर्थिक संकट से प्रेरित था। लेकिन वहाँ के पूँजीपति वर्ग के पास पूँजीवादी दायरे के भीतर ही अन्य विकल्प भी मौजूद थे। यही बात उस दौर में अन्य कई देशों के बारे में कही जा सकती थी। कुछ देशों में बुर्जुआ वर्ग ने फ्रासीवादी विकल्प का चुनाव किया तो कुछ देशों में बुर्जुआ वर्ग ने दूसरे विकल्पों का चुनाव किया। किन् देशों में बुर्जुआ वर्ग ने किन् विकल्पों का चुनाव किया इसके अलग-अलग विशिष्ट राजनीतिक और ऐतिहासिक कारण थे। अन्तरविरोधों की विशिष्टता को समझे बग़ैर हम अलग-अलग देशों में संकट की अलग-अलग बुर्जुआ प्रतिक्रियाओं को नहीं समझ सकते।

आर्थिक संकट निश्चित तौर पर बुनियादी अन्तरविरोध है, जोकि

फ़्रासीवादी उभार में हमेशा अपनी भूमिका निभाता है; लेकिन आर्थिक संकट हर-हमेशा फ़्रासीवादी उभार में ही परिणत होगा, यह कहना बुनियादी अन्तरविरोध को प्रधान अन्तरविरोध के साथ गड्ड-मड्ड कर देने के समान होगा। बुनियादी अन्तरविरोध का पहलू सामान्य तौर पर अपनी भूमिका निभाता है और किसी भी चरण में सतत् उपस्थित रहता है, लेकिन इतिहास में निश्चित और विशिष्ट सन्धि-बिन्दुओं (conjunctures) को समझने के लिए प्रधान अन्तरविरोध और उसके प्रधान पहलू को समझना आवश्यक होता है। यही कारण है कि कई देशों में (मसलन, इटली, जर्मनी, पुर्तगाल, हंगरी आदि) बुर्जुआ वर्ग ने ऐतिहासिक और राजनीतिक तौर पर निर्धारित प्रधान अन्तरविरोधों के कारण फ़्रासीवादी या अर्द्धफ़्रासीवादी विकल्प का चुनाव किया, जबकि आर्थिक संकट से उतनी ही बुरी तरह जूझ रहे कई देशों में बुर्जुआ वर्ग ने फ़्रासीवादी विकल्प का चुनाव नहीं किया, हालाँकि इन देशों की तथाकथित उदार पूँजीवादी सत्ताओं ने भी मज़दूर वर्ग के हक़ों पर हमलों को संकट के दौर में तीव्र कर दिया था। मगर फिर भी इन पूँजीवादी सत्ताओं और फ़्रासीवादी सत्ताओं में फ़र्क़ था। इसलिए यह समझना अहम है कि आर्थिक अन्तरविरोध यान्त्रिक तौर पर राजनीतिक घटनाक्रम का निर्धारण नहीं करते हैं।

मगर फिर भी इतना तो तय है कि फ़्रासीवादी सम्भावना के पैदा होने की ज़मीन तैयार करने वाला बुनियादी अन्तरविरोध, विशेष तौर पर इज़ारेदारी के दौर में, पूँजीवादी व्यवस्था का असाध्य आर्थिक संकट ही है। इस सम्भावना का वास्तविकता में तब्दील होना कई अन्य राजनीतिक व ऐतिहासिक कारकों पर निर्भर करता है। लेकिन फ़्रासीवादी उभार का आर्थिक संकट से अकाट्य सम्बन्ध है।

बीसवीं सदी में पूँजीवादी व्यवस्था के संकट और इक्कीसवीं सदी में पूँजीवादी व्यवस्था के संकट की तुलना करें तो हम पाते हैं कि उनमें कुछ निश्चित परिवर्तन आये हैं। निश्चित तौर पर, हम आज भी साम्राज्यवाद के युग में जी रहे हैं। लेकिन साम्राज्यवाद का चरण कोई ठहरावग्रस्त या स्थैतिक चरण नहीं है। विशेष तौर पर पिछले 70 वर्षों, यानी द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के दौर में विश्व पूँजीवाद की कार्यप्रणाली में कुछ अहम बदलाव आये हैं। इन परिवर्तनों के साथ संकटों के चरित्र और प्रकृति में भी कुछ बदलाव आये हैं। और इन बदलावों के साथ ही विश्व भर में फ़्रासीवादी आन्दोलनों के चरित्र और संरचना में भी कुछ बुनियादी परिवर्तन हुए हैं। इन परिवर्तनों को समझना मज़दूर आन्दोलन के लिए कोई अकादमिक या बौद्धिक कसरत नहीं है, बल्कि एक ज़रूरी फौरी सवाल है। इन्हें समझे बिना हम आज के फ़्रासीवादी उभार का मुक़ाबला नहीं कर सकते हैं। यह समझना नितान्त

आवश्यक है कि 1920 या 1930 के दशक के कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल में पारित फ्रासीवाद-सम्बन्धी प्रस्तावों को पढ़कर या महान सर्वहारा नेताओं के उस दौर के फ्रासीवाद-विरोधी लेखन को पढ़ कर ही आज के फ्रासीवादी उभार का सर्वहारा प्रतिरोध सम्भव नहीं होगा, हालाँकि उन्हें पढ़े बग़ैर भी यह कार्यभार पूरा नहीं किया जा सकता है।

भूमण्डलीकरण के दौर का यह संकट किन अर्थों में बीसवीं सदी की और विशेष तौर पर 1970 के पहले की आर्थिक मन्दियों से भिन्न है, यह समझने के लिए हमें संक्षेप में 1929 की महामन्दी के बाद विश्व पूँजीवाद की कार्यप्रणाली में हुए परिवर्तनों पर चर्चा करनी होगी।

हम जानते हैं कि द्वितीय विश्वयुद्ध का बुनियादी कारण 1929 में अमेरिका से शुरू हुई वैश्विक महामन्दी और साम्राज्यवाद का संकट था। यह महामन्दी तब तक के इतिहास की सबसे बड़ी पूँजीवादी महामन्दी थी। इसके पहले भी लगभग हर दस-बीस वर्षों के अन्तराल पर पूँजीवादी विश्व गम्भीर आर्थिक संकट का शिकार होता रहा था। लेकिन 1930 के दशक की महामन्दी इस रूप में अलग थी कि यह वित्तीय इजारेदार पूँजीवाद के वर्चस्व के मज़बूती के साथ स्थापित होने के बाद की पहली बड़ी मन्दी थी, पूँजीवाद का आम संकट था जो कि किसी एक सेक्टर या क्षेत्र में सीमित नहीं था और इन अर्थों में इसका रूप भी पहले की मन्दी से ज्यादा विकराल और व्यापक था। कारण यह था कि अति-उत्पादन के संकट से जूझ रहे पूँजीवाद की वित्तीय पूँजी की सट्टेबाज़ी पर निर्भरता विशेष तौर से 1880 के दशक से बुरी तरह से बढ़ गयी थी। इसके कारण पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था पहले से कहीं ज्यादा खोखली, जर्जर और परजीवी हो चुकी थी और इसका सन्तुलन पहले से कहीं ज्यादा क्षणभंगुर था। वित्तीय अनुत्पादक पूँजी अब विश्व पूँजीवाद के वाहन की चालक की गद्दी पर काबिज़ हो चुकी थी, जबकि औद्योगिक उत्पादक पूँजी की भूमिका गौण हो चुकी थी। वित्तीय पूँजी बैंक पूँजी और औद्योगिक पूँजी के संलयन से अस्तित्व में आयी थी। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से पूँजीवादी व्यवस्था जिस आर्थिक संकट से जूझ रही थी उसका समाधान अब केवल राष्ट्रीय सीमाओं के पार पूँजी के निर्यात से हो सकता था। इसके लिए वित्तीय पूँजी का अस्तित्व में आना अनिवार्य था। लेकिन वित्तीय पूँजी के अस्तित्व में आने के साथ कुछ नयी पूँजीवादी ताकतों का उदय हुआ जिनके पास आर्थिक शक्तिमत्ता तो थी लेकिन पूँजी के अतिसंचय की समस्या को फौरी तौर पर निपटाने के लिए उनके पास उपनिवेश नहीं थे। इन ताकतों ने ही दुनिया के पूँजीवादी पुनर्विभाजन के लिए पुरानी साम्राज्यवादी ताकतों से प्रतिस्पर्द्धा शुरू

की जिसकी परिणति दो विश्वयुद्धों में हुई। अति-उत्पादन और अति-संचय के संकट से निपटने के लिए उत्पादक शक्तियों का बड़े पैमाने पर विनाश ज़रूरी था और इस रूप में इन दो विश्वयुद्धों ने मंदी के संकट से पूँजीवादी विश्व को तात्कालिक तौर पर कुछ राहत दी थी। 1945 में सोवियत संघ के द्वारा नात्सी जर्मनी की पराजय के साथ द्वितीय विश्वयुद्ध का निर्णायक अन्त हो गया था। अमेरिका ने जापान पर परमाणु बम केवल सोवियत संघ के समक्ष अपने नये हथियार की नुमाइश के लिए गिराया था। युद्ध के अन्त तक यूरोप और जापान खण्डहर में तब्दील हो चुके थे और विश्व पूँजीवाद के नये चौधरी अमेरिका को युद्ध में सबसे कम नुकसान झेलना पड़ा था। अमेरिकी पूँजीपति वर्ग ने इन देशों में पुनर्निर्माण की परियोजनाओं के आधार पर ज़बरदस्त मुनाफ़ा कमाया।

युद्धोत्तर पुनर्निर्माण परियोजनाओं से पैदा हुई अमेरिकी पूँजीवाद की समृद्ध ने तीन दशकों तक विश्व पूँजीवाद को किसी गम्भीर संकट से बचाये रखा। यह दौर कल्याणकारी पूँजीवादी राज्य, फोर्डवाद, श्रम व पूँजी के बीच समझौते, अर्थव्यवस्था के राजकीय विनियमन, संरक्षणवाद, मौद्रिक अनमनीयता और श्रम बाजारों की अनमनीयता का दौर था। लेकिन 1970 के दशक की शुरुआत आते-आते विश्व पूँजीवाद एक बार फिर से अति-उत्पादन और पूँजी के अति-संचय के संकट से ग्रस्त हो चुका था। 1973 में डॉलर-स्वर्ण मानक का टूटने और ओपेक संकट के साथ नयी वैश्विक मन्दी की घण्टी बज गयी। इस मन्दी से निपटने के लिए सभी पूँजीवादी देशों ने मौद्रिक लचीलेपन का रास्ता अपनाया और डॉलर-स्वर्ण मानक का परित्याग कर दिया। डॉलर-स्वर्ण मानक कल्याणकारी राज्य और फोर्डवादी उत्पादन शैली के दौर में पूँजीवाद को एक प्रकार की मौद्रिक स्थिरता देता था। लेकिन पूँजी के अति-संचय के संकट के पैदा होने के साथ यही डॉलर-स्वर्ण मानक पूँजी के लिए एक दमघोटू पिंजड़ा बन गया था। इसीलिए संकट से निपटने के लिए सबसे पहले अमेरिका ने इस मानक का परित्याग कर दिया ताकि वह मौद्रिक लचीलेपन को अपना कर अपने संकट से तात्कालिक तौर पर निजात पा सके। बाद में अन्य देशों ने भी इस मानक का परित्याग कर दिया। इसके साथ ही विश्व पूँजीवाद की अभूतपूर्व समृद्ध का वह दौर समाप्त हो गया जिसकी पहचान बुर्जुआ कल्याणकारी राज्य, फोर्डवादी उत्पादन शैली, संरक्षणवाद, उन्नत देशों में श्रम और पूँजी के बीच एक समझौते और अनमनीय श्रम बाजार व वित्तीय विनियमन के द्वारा की जाती थी। **इसके बाद ही नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के दौर की शुरुआत होती है।** डॉलर-स्वर्ण मानक का टूटना और मौद्रिक लचीलेपन को विभिन्न राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं द्वारा अपनाया जाना महज

इसकी शुरुआत था।

ज़ाहिर है, नोट छापकर या मुद्रा के मूल्य को ऊपर-नीचे करके अर्थव्यवस्था को बहुत लम्बे समय तक संकट के भँवर से नहीं बचाया जा सकता था। पूरी विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में संकट को तात्कालिक तौर पर टालने के लिए भी और ज़्यादा मूलभूत परिवर्तनों की आवश्यकता थी।

श्रम बाज़ारों को लचीला बनाने के नाम पर मज़दूर वर्ग द्वारा जीते गये तमाम हकों को एक-एक करके वापस लेने की शुरुआत हुई, हालाँकि यह शुरुआत अभी 'तीसरी दुनिया' के देशों और विशेष तौर पर लातिन अमेरिकी देशों में की गयी थी। हर प्रकार के राजकीय विनियमन को अब पूँजीवादी संचय में बाधा के तौर पर देखा गया और उसे तिलांजलि देने की शुरुआत कर दी गयी। उत्पादन व पूँजी की प्रचुरता को खपाने के लिए वित्तीय पूँजी का और बड़े पैमाने पर भूमण्डलीकरण हुआ; मन्दी से निपटने के लिए ऋण बाज़ार का विस्तार किया गया और उपभोक्ता वर्ग को निम्न ब्याज़ दरों पर आवास ऋण, कार ऋण आदि देने की पहले से कहीं बड़े पैमाने पर शुरुआत की गयी, ताकि उत्पादन के आधिक्य और पूँजी की प्रचुरता दोनों को खपाया जा सके। नतीजतन, एक ऋण बाज़ार भी अस्तित्व में आया। ऋण स्वयं एक माल में तब्दील हो चुका था और इस माल के विपणन के लिए भी बैंकों व वित्तीय संस्थानों में प्रतिस्पर्द्धा थी। लिहाज़ा, ऋण बाज़ार में भी सन्तृप्ति का एक बिन्दु आना ही था, जिसके बाद इसे और ज़्यादा विस्तारित करने के अलावा पूँजीवाद के पास और कोई रास्ता नहीं था। 2006 के बाद अमेरिका में सबप्राइम ऋण संकट वास्तव में इस ऋण बाज़ार के विस्तारित होने की अन्तिम सीमा तक पहुँचने की निशानी थी। अब ऋण केवल मालदार मध्यवर्ग को नहीं बल्कि ऐसे लोगों को भी दिया जाने लगा जिनके पास ऋण की दो-चार किश्तें चुका सकने योग्य क्षमता भी नहीं थी क्योंकि मालदार मध्यवर्ग का ऋण बाज़ार अब सन्तृप्त हो चुका था। ऐसे ऋणों की ब्याज़ दर को काफ़ी ज़्यादा रखा गया ताकि पहली-दूसरी किश्त तक ही मूलधन से कुछ अधिक की कमाई हो जाये। लेकिन जब व्यापक आबादी में ये सबप्राइम ऋण बाँटे गये, तो बहुत बड़े पैमाने पर आम ग़रीब और निम्न मध्यवर्गीय आबादी पहली और दूसरी किश्त भरने में भी असफल रही और उसने अपने आपको दीवालिया घोषित कर दिया। इसी के साथ अमेरिकी अर्थव्यवस्था में पैदा किया गया आवास बाज़ार का बुलबुला फूट गया और 2007 में शुरू हुए सबप्राइम संकट के साथ 1930 के दशक के बाद की सबसे भयंकर महामन्दी ने पूँजीवादी विश्व को जकड़ लिया और अभी तक यह मन्दी बरकरार है। यूनान के सम्प्रभु ऋण संकट के रूप में इस समय यह महामन्दी पूरे यूरोपीय संघ और

यूरोजोन में एक अभूतपूर्व आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक संकट पैदा कर रही है। लेकिन 2006-7 में शुरू हुई यह महामन्दी कई मायनों में पूँजीवाद के अब तक के इतिहास की सबसे भयंकर मन्दी है। यह न सिर्फ़ अब तक का भयंकरतम आर्थिक संकट है, बल्कि यह पहले के आर्थिक संकटों से गुणात्मक रूप से भिन्न है। यह समझना महत्वपूर्ण है कि आज की मन्दी किस रूप में पहले के पूँजीवादी संकटों से भिन्न है। सबसे अहम बात यह है कि आज का संकट पहले के सभी संकटों से कहीं ज्यादा ढाँचागत और गहरा संकट है। भूमण्डलीकरण के दौर में पूँजी दुनिया के उन कोनों तक में व्याप्त हो चुकी है, जो पहले उसकी पहुँच से एक हद तक बाहर थे। लेनिन ने कहा था कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद का अन्तिम चरण है। आज कहा जा सकता है कि भूमण्डलीकरण साम्राज्यवाद का अन्तिम चरण है। यह भूमण्डलीकरण के दौर का संकट है और इस रूप में यह पूँजीवाद का अन्तकारी संकट है और पूँजीवाद के खत्म होने के साथ खत्म होगा।

इसी से जुड़ी हुई दूसरी बात भी है जो कि इस मौजूदा संकट को अतीत में आये अन्य संकटों से अलग करती है। 1870 की दशक में आयी मन्दी हो या फिर 1930 के दशक की महामन्दी, पहले के सभी आर्थिक संकटों के बाद आर्थिक तेज़ी का एक दौर हुआ करता था। लेकिन 1970 की दशक में जो आर्थिक संकट आया उसके बाद विश्व पूँजीवाद ने एक भी तेज़ी का दौर नहीं देखा है। उस दौर से लेकर आज तक दुनिया के सकल घरेलू उत्पाद की दर तीन प्रतिशत के आस-पास या उससे कम रही है, जो कि एक सतत् मन्दी को 93 दिखलाती है। 1970 के दशक से ही विश्व पूँजीवाद एक सतत् मन्द मन्दी का शिकार रहा है। इस मन्दी से उबरने के लिए इसने बीच-बीच में वित्तीय पूँजी की सट्टेबाज़ी के कई बुलबुले पैदा किये। लेकिन सट्टेबाज़ी के हर बुलबुले के फूटने के साथ मन्दी और भी ज्यादा व्यापक और गम्भीर रूप में फिर से प्रकट हुई। 2006-7 में सबप्राइम ऋण संकट के साथ आवास बाज़ार का बुलबुला फूटा और नतीजे के तौर पर जो आर्थिक संकट पैदा हुआ वह पूँजीवाद के इतिहास का सबसे गम्भीर संकट साबित हो रहा है। यह पहले के सभी संकटों से ज्यादा ढाँचागत संकट है और इसके बाद किसी वास्तविक तेज़ी की उम्मीद करना पूँजीवादी अर्थशास्त्र भी छोड़ चुके हैं। सट्टेबाज़ी के बुलबुलों और युद्धों के ज़रिये साम्राज्यवाद अपने लिए साँसें उधार ले रहा है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है साम्राज्यवादी-पूँजीवादी व्यवस्था खुद-ब-खुद खत्म हो जाएगी। जब तक सर्वहारा वर्ग अपने हिरावल के नेतृत्व में इसके खिलाफ़ इंकलाबों को अंजाम नहीं देगा, तब तक ये आदमखोर और परजीवी व्यवस्था दुनिया पर बेरोज़गारी, गरीबी,

युद्ध और पर्यावरणीय विनाश थोप-थोपकर ज़िन्दा रहेगी।

मौजूदा संकट उपरोक्त अर्थों में एक अभूतपूर्व और अद्वितीय संकट है और इसे पूँजीवाद के इतिहास का सबसे गम्भीर और सबसे दाँचागत संकट कहा जाये तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। मन्दी में अब आकस्मिकता (contingency) या अचानक घटित होने (suddenness) का तत्व नहीं रह गया है या कम-से-कम वह प्रमुख तत्व नहीं रह गया है। यह मौजूदा विश्व पूँजीवाद की स्थायी और संरचनागत परिघटना बन चुकी है। 1930 के दशक की या उससे पहले 1870 के दशक की मन्दी में अचानक घटित होने का एक तत्व था; मानो कोई रास्ते से जा रहा हो और अचानक कोई पेड़ उसके ऊपर गिर पड़े! कहने की आवश्यकता नहीं कि वास्तव में मन्दी कोई आकस्मिक चीज़ नहीं है, लेकिन कम-से-कम परिघटनात्मक स्तर (phenomenal level) पर इसमें आकस्मिकता का तत्व प्रधान था। यही कारण है कि पहले के गम्भीर आर्थिक संकटों से ठीक पहले जो तेज़ी के दौर चल रहे थे, उसमें बुर्जुआ अर्थशास्त्र किसी आसन्न मन्दी की सम्भावना को नहीं देख पा रहे थे। ये संकट जब फूटे तो उनके लिए एक अचरज का विषय थे क्योंकि इसका कोई पूर्वानुमान नहीं था। मगर आज ऐसा नहीं है। आज विश्व पूँजीवादी व्यवस्था सतत मन्दी की शिकार अपनी मृत्युशय्या पर लेटी है और बीच-बीच में वित्तीय सट्टेबाज़ी के स्ट्रेण्ड के इंजेक्शनों से उसमें कुछ जान आती है। मन्दी के चरित्र में आये इस ऐतिहासिक परिवर्तन के साथ मन्दी के प्रतिक्रियावादी परिणाम के रूप में पैदा होने वाले फ़्रासीवादी उभार के चरित्र में भी पहले के मुक्राबले कुछ अहम परिवर्तन आये हैं।

1910 के दशक के उत्तरार्द्ध में जब फ़्रासीवादी राजनीति का अंकुरण मुख्य रूप से इटली और यूरोप के कई देशों में हो रहा था, तो उसमें भी एक आकस्मिकता का तत्व मौजूद था। इटली में एक मज़दूर सुधारवादी मज़दूर आन्दोलन, 1918-19 के दौरान इटली में मज़दूर परिषदों और सर्वहारा क्रान्ति के प्रयोग के असफल होने और सोवियत संघ में सर्वहारा सत्ता की स्थापना से पूँजीपति वर्ग में पैदा हुए भय और प्रतिक्रिया के कारण फ़्रासीवादी राजनीति फल-फूल रही थी। जर्मनी में भी 1920 के दशक के मध्य से यह प्रक्रिया ज़ोर पकड़ चुकी थी और 1919-20 में असफल जर्मन समाजवादी क्रान्ति और रूस में बोल्शेविकों के सत्ता में आने से जर्मन पूँजीपति वर्ग के बदन में पैदा हुई सिहरन भी अभी पूरी तरह से गयी नहीं थी। लेकिन जब 1929 में आर्थिक संकट ने पूँजीपति वर्ग के साँस लेने की जगह को और संकुचित कर दिया, तो फ़्रासीवादी और नात्सी राजनीति को पूँजीपति वर्ग

का और जबरदस्त समर्थन प्राप्त हुआ और पूँजीपति वर्ग, विशेष तौर पर बड़े पूँजीपति वर्ग ने लगभग एकजुट होकर फ्रासीवादी राजनीतिक विकल्प का चुनाव किया, ताकि संगठित सुधारवादी मजदूर आन्दोलन का ध्वंस किया जा सके, मुनाफ़े के संकुचन को खत्म किया जा सके और हर प्रकार के राजनीतिक विरोध का खात्मा कर संकट के दौर में पूँजीवादी संचय की उत्तरजीविता-योग्य दर को सुनिश्चित किया जा सके।

उस समय यूरोप के कई अन्य देशों में भी फ्रासीवादी आन्दोलनों ने ज़ोर पकड़ा हालाँकि सत्ता हासिल करने में वे सफल नहीं हो पाये, जिसके कि उस देश के इतिहास और राजनीति में निश्चित कारण थे। लेकिन इसमें कोई दो राय नहीं है कि फ्रासीवादी राजनीति का उभार उस दौर में सिर्फ़ जर्मनी या इटली तक ही सीमित नहीं था, बल्कि कुछ देशों को छोड़कर लगभग सभी देशों में फ्रासीवादी राजनीति विविध रूपों में अस्तित्व में आयी थी। लेकिन इन सभी देशों में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद फ्रासीवादी राजनीति की पकड़ तात्कालिक तौर पर या तो खत्म हो गयी थी या फिर इतनी कमज़ोर हो गयी थी कि उन्हें फ्रासीवादी आन्दोलन नहीं कहा जा सकता था, बल्कि बस कुछ फ्रासीवादी गिरोहों की मौजूदगी ही कहा जा सकता था। इसके बाद फ्रासीवादी राजनीति और आन्दोलन के ज़ोर पकड़ने की प्रक्रिया तथाकथित 'तीसरी दुनिया' के कई देशों में आर्थिक और राजनीतिक संकट के दौरान घटित होती है। लेकिन आम तौर पर यह कहा जा सकता है कि जहाँ फ्रासीवादी ग्रुप और पार्टियाँ तमाम देशों में आम तौर पर लगभग लगातार मौजूद रहे हैं (चाहें बेहद कमज़ोर रूप में ही क्यों न हों), वहीं दूसरी ओर यह भी सच है कि फ्रासीवाद ने टटपूँजिया वर्गों के बीच एक **प्रतिक्रियावादी आन्दोलन** का रूप आर्थिक संकट और उसके नतीजे के तौर पर पैदा होने वाले राजनीतिक संकट के दौर में ही लिया है।

एशिया के कई देशों में भी, जिसमें कि भारत भी शामिल है, फ्रासीवादी समूहों या संगठनों की मौजूदगी उनके जन्म के बाद से लगातार बनी रही है। भारत में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ इसका क्लासिक उदाहरण है। यह समझना अनिवार्य है कि चूँकि 1940 से 1970 के दशक में आज़ाद हुए तमाम 'तीसरी दुनिया' के देशों में जिस क्रिस्म का बौना, विकलांग, रुग्ण और बीमार पूँजीवाद अस्तित्व में आया, जिस क्रिस्म का कमज़ोर पूँजीवादी जनवाद अस्तित्व में आया, जिस क्रिस्म का सतत् रूप से संकटग्रस्त सामाजिक-राजनीतिक ताना-बाना अस्तित्व में आया उसके मद्देनज़र वहाँ फ्रासीवादी आन्दोलन और समूहों की निरन्तर सशक्त मौजूदगी की ज़रूरत पूँजीपति वर्ग को कहीं ज़्यादा थी। **यही कारण है कि जहाँ हम 1950 के**

बाद के एक पूरे दौर में यूरोपीय देशों में फ्रांसीसीवादी आन्दोलन की मौजूदगी को किसी महत्वपूर्ण रूप में नहीं देखते हैं, तो वहीं भारत और कुछ 'तीसरी दुनिया' के देशों में फ्रांसीसीवादी आन्दोलन अपेक्षाकृत ज़्यादा शक्तिशाली स्थिति में मौजूद था। विश्व अर्थव्यवस्था के साथ 'तीसरी दुनिया' के देशों का समेकन 1970 के दशक के बाद विशेष तौर पर बेहद तेज़ी से बढ़ा। नतीजतन, वैश्विक संकट के विश्वव्यापी प्रभाव एक हद तक समतलीकरण हुआ। यही कारण है कि अब फ्रांसीसीवादी संगठन और आन्दोलन की मौजूदगी और उनके उभार की परिघटना का स्वरूप ज़्यादा वैश्विक और समान हो गया है। भारत में 1980 के दशक के अन्त में भूमण्डलीकरण और नवउदारवादी नीतियों की शुरुआत के साथ छोटे उत्पादकों, किसानों और टटपुँजिया वर्गों का उजड़ना और उनके आर्थिक व सामाजिक असुरक्षा में बढ़ोत्तरी के साथ फ्रांसीसीवादी उभार ज़बरदस्त तेज़ी के साथ बढ़ा। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं द्रुत पूँजीवादी विकास से मध्यवर्ती वर्गों के उजड़ने और उनकी आर्थिक-सामाजिक असुरक्षा में बढ़ोत्तरी फ्रांसीसीवादी सामाजिक आन्दोलन के पैदा होने में हमेशा ही एक अहम कारक रहा है। भारत में इस प्रक्रिया को हम 1980 के दशक के अन्त और 1990 के दशक की शुरुआत में शुरू होते हुए देख सकते हैं। यह प्रक्रिया एक नये चरण में आज भी जारी है।

1980 के दशक के बाद से ही दुनिया भर के देशों में फ्रांसीसीवादी संगठनों और आन्दोलनों की उपस्थिति कहीं तेज़ तो कहीं धीमी रफ़्तार से बढ़ी है। कहीं पर इन आन्दोलनों ने नस्लवादी स्वरूप लिया है, कहीं साम्प्रदायिक तो कहीं प्रवासी-विरोधी। लेकिन अलग-अलग रूपों में इनकी मौजूदगी 1980 के दशक के बाद से ही बढ़ती रही है और नयी सहस्राब्दी की शुरुआत होने के साथ तो इनकी बढ़ोत्तरी और अधिक तेज़ हुई है।

1950 के दशक के बाद भी अमेरिका और यूरोप के विभिन्न देशों में खुले और प्रच्छन्न फ्रांसीसीवादी समूह मौजूद थे। मगर उनकी सामाजिक अपील बेहद सीमित थी। वे अक्सर 'सीक्रेट सोसायटी' जैसे प्रतिक्रियावादी संगठन हुआ करते थे जो कि प्रवासियों पर, अश्वेतों पर और अन्य अल्पसंख्यकों पर हमले किया करते थे। उनका चरित्र रोगात्मक (pathological), प्रतिक्रियात्मक (reactive), तात्कालिक और मुद्दा-आधारित प्रतिक्रिया का ज़्यादा था न कि एक सुचिन्तित, सुसंगठित विचारधारात्मक और राजनीतिक प्रतिक्रिया का, जो कि योजनाबद्ध रूप से और सचेतन तरीके से मज़दूर-आन्दोलन, कम्युनिस्टों और अल्पसंख्यकों को निशाना बनाते हैं।

वैसे अल्पसंख्यकों को निशाना बनाना वास्तव में फ़्रासीवादी राजनीति का सबसे सतही मगर फिर भी ज़रूरी पहलू होता है। मज़दूर आन्दोलन के ध्वंस के लिए और पूँजीवाद द्वारा पैदा की गयी आपदाओं के लिए जिम्मेदार ठहराने के लिए फ़्रासीवादी को हमेशा ही एक मिथकीय या काल्पनिक शत्रु की, एक 'फेटिश' की आवश्यकता होती है। अलग-अलग किस्म के अल्पसंख्यक और अरक्षित समुदाय फ़्रासीवादी राजनीति की इस ज़रूरत को अलग-अलग देशों में अलग-अलग तरह से पूरा करते हैं। लेकिन प्रमुख बात यह नहीं है। **प्रमुख बात यह है कि फ़्रासीवादी विचारधारा, राजनीति और संगठन का असल निशाना कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी और मज़दूर आन्दोलन होता है क्योंकि संकटग्रस्त पूँजीवाद के बचाव और उसकी सेवा के लिए इन दोनों का ख़ात्मा ही सबसे ज़्यादा ज़रूरी होता है।**

ज़ाहिर है, फ़्रासीवादी राजनीति की पूँजीपति वर्ग से सापेक्षिक तौर पर ज़्यादा स्वायत्तता होती है और यह पूँजी की प्रतिक्रिया का अतिरेकपूर्ण रूप होने के साथ-साथ टटपुँजिया वर्गों की प्रतिक्रिया का रूमानी उभार भी होता है। इसीलिए फ़्रासीवादी राजनीति हमेशा अतिरेकपूर्ण छोरों तक जाती है। दूसरे शब्दों में कहें तो यही कारण है कि फ़्रासीवादी राजनीति ऐसे हत्याकाण्डों, जनसंहारों और बर्बरता को अंजाम देती है जिसकी तार्किक या वैज्ञानिक व्याख्या असम्भव प्रतीत होती है। ठीक उसी प्रकार जैसे कि नात्सियों द्वारा यहूदियों, कम्युनिस्टों व अन्य विरोधियों के नरसंहार की व्याख्या में प्रत्यक्षवाद के शिकार समाज-विज्ञानी अपने आपको अक्षम पाते हैं। इसकी व्याख्या करने के लिए ही उनमें एक पूरा अलग स्कूल है जिसे 'होलोकॉस्ट स्टडीज़' कहा जाता है। ये उस नरसंहार के मनोवैज्ञानिक पहलुओं आदि पर काफ़ी ज़ोर देते हैं, लेकिन उसकी कोई तार्किक व्याख्या पेश नहीं कर पाते हैं। क्योंकि इस गाँठ को वह जिस छोर को पकड़कर खोलने की कोशिश कर रहे हैं, उसे खींचने से गाँठ और ज़्यादा उलझती है। नात्सियों द्वारा यहूदियों के बर्बर नरसंहार और उसी प्रकार गुजरात में 2002 में हुए बर्बर नरसंहार की व्याख्या एक ऐतिहासिक और राजनीतिक दृष्टिकोण से की जा सकती है; निश्चित तौर पर, मनोवैज्ञानिक पहलुओं का मूल्यांकन उसमें एक सहायक भूमिका निभा सकता है। मगर अपने आपमें मनोवैज्ञानिक नज़रिये से फ़्रासीवादियों के बर्बर और तार्किक व्याख्या से परे लगने वाले कृत्यों का विश्लेषण नहीं किया जा सकता है। लेकिन अगर फ़्रासीवादी राजनीति के पूरे चरित्र को समझा जाये तो अतिरेकपूर्ण बर्बरता की ऐतिहासिकता (historicity) और कारणों को समझा जा सकता है। जैसा कि बेटॉल्ट ब्रेष्ट ने कहा था, "बर्बरता से बर्बरता नहीं पैदा होती; बर्बरता उन व्यावसायिक सौदों से पैदा होती है जिनके लिए

बर्बरता की आवश्यकता होती है।”

बहरहाल, हम अभी जिस मूल बात पर ध्यानाकर्षित करना चाहते हैं, वह यह है कि संकट के ज़्यादा ढाँचागत और स्थायी परिघटना में तब्दील होने के साथ, उसकी आकस्मिकता या अचानकपन के पहलू के कम होने के साथ फ़्रासीवादी उभार के चरित्र में भी यह परिवर्तन हुआ है कि वह पूँजीवादी व्यवस्था की ‘ऐज एण्ड व्हेन नीडेड’ दवाई के समान नहीं रह गया है; वह भी मौजूदा सतत् रूप से संकटग्रस्त पूँजीवादी समाज की एक सतत्, स्थायी और ज़्यादा ढाँचागत परिघटना में तब्दील हो गया है। माइकल कालेकी की वह बात आज पहले हमेशा से ज़्यादा लागू होती है कि फ़्रासीवाद जब सत्ता में नहीं भी होता है तो यह पूँजीपति वर्ग का ज़ंजीर से बँधा हुआ कुत्ता होता है।

यही कारण है कि आज फ़्रासीवाद के प्रतिरोध की रणनीति भी ज़्यादा स्थायी, सतत्, निरन्तरतापूर्ण और व्यापक होनी चाहिए। फ़्रासीवादियों का मुक्काबला आज ‘फ़ायर-ब्रिगेड’ शैली में नहीं किया जा सकता है। यानी कि किसी जगह फ़्रासीवादियों के किसी कृत्य की सूचना मिली तो फिर क्रान्तिकारी ताकतें संयुक्त मोर्चा बनाकर उसकी मुखालफ़त करने पहुँच गयीं, या फिर किसी जन्तर-मन्तर या आज़ाद मैदान जैसी जगह पर कोई प्रतीकात्मक प्रदर्शन कर दिया। यह फ़ायर-ब्रिगेड शैली का प्रतिरोध ही आज फ़्रासीवादी ताकतों के विरुद्ध हमें हरा रहा है और हमें कमज़ोर कर रहा है। इसे हमें समझना ही होगा। फ़्रासीवाद के प्रतिरोध की हमारी कोई भी प्रभावी रणनीति आज पहले हमेशा से ज़्यादा इस बात की माँग करती है कि हम समाज के विभिन्न मेहनतकश वर्गों और निम्न मध्यवर्गों के बीच, विशेष तौर पर, उनकी बस्तियों में और साथ ही काम करने की जगहों पर भी अपने मज़बूत आधार तैयार करें। यह काम इन इलाक़ों के दौर करके नहीं हो सकता। यह काम केवल और केवल सतत् मौजूदगी से और संस्थाबद्ध हस्तक्षेप करके ही हो सकता है। हमें पहले से ही समाज में संघी फ़्रासीवादियों द्वारा अपनी तमाम संस्थाओं द्वारा बनायी गयी खन्दकों या अवस्थितियों के समक्ष अपने संस्थागत राजनीतिक व सुधार कार्यों के ज़रिये अपनी खन्दकें या अवस्थितियों का निर्माण करना होगा। केवल इसी रास्ते आज फ़्रासीवाद-विरुधी मज़दूर वर्गीय रणनीति सफल हो सकती है।

इसी से जुड़ी हुई बात यह भी है कि आज पहले के मुक्काबले कहीं ज़्यादा हद तक फ़्रासीवादी ताकतें और आन्दोलन मज़दूर वर्ग के लिए बुर्जुआ वर्ग की अनौपचारिक राज्यसत्ता (informal state power) का काम करते हैं। फ़्रासीवादी ताकतें सत्ता में रहने पर भी आज के दौर में बहुत से काम उतने खुले और बेशर्मा तरीक़े से नहीं कर

पाती हैं, जितने खुले और बेशर्मा तरीके से बीसवीं सदी की फ्रासीवादी और नात्सी सत्ताओं ने किया था, जिसके ऐतिहासिक कारणों पर हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं। इसलिए समाज में मौजूद फ्रासीवादी गिरोहों के जरिये फ्रासीवाद इस कमी को अपने आतंक के अनौपचारिक राज्य को स्थापित करके पूरा करने का प्रयास करता है। मिसाल के तौर पर, मोदी सरकार जो कई सारे काम आधिकारिक तौर पर नहीं कर सकती है, उन्हें समाज में मौजूद फ्रासीवादी ताकतों द्वारा, जैसे कि बजरंग दल, दुर्गा वाहिनी, विश्व हिन्दू परिषद्, या यहाँ तक कि भाजपा के ही कुछ साधु-सन्त सांसदों और विधायकों द्वारा करवाया जाता है। और जब फ्रासीवादी पार्टी सत्ता में नहीं भी रहती है तो समाज में मौजूद फ्रासीवादी गिरोह मजदूर-आन्दोलन को तोड़ने वाली ताकतों और पूँजीपति वर्ग के भाड़े के गुण्डा-गिरोहों की भूमिका को निभाते हैं। जो भी लोग देश में क्रान्तिकारी मजदूर आन्दोलन में सक्रिय हैं वे जानते हैं कि किसी प्रकार हर हड़ताल या मजदूर संघर्ष के दौरान स्थानीय फ्रासीवादी गुण्डा-गिरोह उनके खिलाफ काम करते हैं।

एक अन्तिम नुस्ते पर चर्चा करके हम अगले उपशीर्षक की ओर आगे बढ़ेंगे। भारत और साथ ही दुनिया में कुछ वामपन्थी विश्लेषक और संगठन हैं जिनका मानना है कि भारत में मोदी सरकार का आना और तमाम क्रिस्म की भगवा मुहिमों का देश में हावी होना किसी फ्रासीवादी उभार का परिचायक नहीं है। उनमें से कुछ का मानना है कि मौजूदा सरकार एक धुर दक्षिणपन्थी प्रतिक्रियावादी सरकार है जिसमें फ्रासीवाद के तत्व हैं। कुछ अन्य का मानना है कि यह 'नवउदारवादी पूँजी की प्रतिक्रियावादी तानाशाही' है। संघ परिवार और मोदी सरकार को सीधे फ्रासीवादी न मानने या अर्द्ध-फ्रासीवादी मानने के पीछे एक अनैतिहासिक नज़रिया काम करता है। यह नज़रिया बीसवीं सदी के फ्रासीवादी और नात्सी आन्दोलनों और सत्ताओं से आज के फ्रासीवादी उभार का सादृश्य निरूपण करता है और जब उसे उस सादृश्य निरूपण के आधार पर तमाम असमानताएँ मिलती हैं या कुछ अधूरी तुलनाएँ मिलती हैं, तो वह इस नतीजे पर पहुँचता है कि मौजूदा फ्रासीवादी उभार वास्तव में फ्रासीवादी उभार नहीं है या 'पर्याप्त रूप से फ्रासीवादी उभार' नहीं है। या फिर अतीत के उदाहरणों के आधार पर फ्रासीवाद की एक बेहद संकीर्ण परिभाषा तैयार की जाती है और जो फ्रासीवादी उभार उस परिभाषा की सभी शर्तों को पूरा नहीं करता, उसे फ्रासीवादी उभार नहीं माना जाता। हमारे दृष्टिकोण से यह पूरा नज़रिया इस बात को नहीं समझता कि सर्वहारा वर्ग की राजनीति के साथ-साथ पूँजीपति वर्ग की प्रतिक्रियावादी राजनीति भी ऐतिहासिक परिवर्तनों से होकर गुजरती है; वह भी अपने अतीत से

सबक लेती है और नये ऐतिहासिक सन्दर्भ में नये रूपों राजनीतिक, विचारधारात्मक और सांगठनिक रूपों को जन्म देती है। **वाल्टर बेंजामिन** के शब्दों का इस्तेमाल करें तो फ्रासीवादी राजनीति भी 'रिडेम्प्टिव एक्टिविटी' (redemptive activity) करती है। अगर इस ऐतिहासिक नज़रिये से फ्रासीवादी राजनीति और संगठन में आये बदलावों की समीक्षा न करें और अपने विश्लेषण को सादृश्य निरूपणों पर आधारित कर दें तो न तो फ्रासीवादी राजनीति के इतिहास में निरन्तरता के पहलुओं की पहचान की जा सकती है और न ही विच्छेद के पहलुओं की। इसलिए सर्वहारा वर्ग के दृष्टिकोण से किये जाने वाले विश्लेषण को जहाँ फ्रासीवादी राजनीति में आये तमाम परिवर्तनों को सही ऐतिहासिक सन्दर्भ में रखकर उनकी व्याख्या करनी चाहिए, वहीं उसे इन परिवर्तनों से विस्मित होकर फ्रासीवादी राजनीति को पहचानने से इंकार नहीं करना चाहिए।

पूँजीवादी आर्थिक संकट और फ्रासीवादी उभार के आर्थिक नियतत्ववादी विश्लेषण की सीमाएँ

कई यान्त्रिक और आर्थिक नियतत्ववादी विश्लेषक पूँजीवादी आर्थिक संकट और फ्रासीवादी उभार के बीच एक 'दो दूनी चार' का या समानुपातिकता का सम्बन्ध देखते हैं। ऐसे विश्लेषण आपको असमाधेय अन्तरविरोधों के ढेर में ले जाकर गिरा देते हैं। इस प्रकार के विश्लेषण ऐसे नतीजों पर पहुँचाते हैं कि आर्थिक संकट लगभग अनिवार्य रूप में फ्रासीवादी राजनीति के उदय में परिणत होते हैं। लेकिन ऐसा कोई भी दृष्टिकोण इस बात की व्याख्या नहीं कर पाता है कि आखिर आर्थिक संकट ने अतीत में और वर्तमान में वैश्विक चरित्र होने के बावजूद सभी देशों में सशक्त फ्रासीवादी आन्दोलनों और सत्ताओं को जन्म क्यों नहीं दिया? यह सच है कि आर्थिक संकटों ने लगभग हर देश में किसी न किसी प्रकार की पूँजीवादी प्रतिक्रिया को पालने-पोसने का काम किया। **लेकिन हर पूँजीवादी प्रतिक्रिया को फ्रासीवाद का नाम नहीं दिया जा सकता है।** मिसाल के तौर पर, सैनिक हुण्टाएँ और अन्य प्रकार तानाशाह सत्ताएँ भी कई देशों में संकट के दौर में अस्तित्व में आयीं। कड़्यों को बिखरे हुए फ्रासीवादी समूहों का समर्थन भी प्राप्त था। लेकिन वे सत्ताएँ अपने आप में फ्रासीवादी सत्ताएँ नहीं थीं। अपने विश्लेषण की तमाम गम्भीर सीमाओं के बावजूद इतालवी कम्युनिस्ट और बाद में संशोधनवादी **पामिरो तोग्लियाती** की यह चेतवनी बिल्कुल सही है कि कम्युनिस्टों में हर प्रकार की प्रतिक्रियावादी पूँजीवादी सत्ताओं को फ्रासीवादी करार

दे देने की प्रवृत्ति होती है जो बेहद घातक होती है क्योंकि यह सर्वहारा वर्ग को एक कारगर फ़ासीवाद-विरोधी रणनीति बनाने की आज्ञा नहीं देती है।

फ़ासीवादी प्रतिक्रिया अन्य प्रकार की पूँजीवादी प्रतिक्रियाओं जैसे कि सैन्य तानाशाही या अन्य प्रकार की संसदीय तानाशाहियों से इस मायने में भिन्न होती है कि यह टटपुँजिया वर्गों के एक प्रतिक्रियावादी, कट्टरतावादी सामाजिक आन्दोलन के रूप में अस्तित्व में आती है। यह बड़ी पूँजी की नम तानाशाही को स्थापित करती है हालाँकि इसका सामाजिक आधार टटपुँजिया वर्गों, सफेद कॉलर के मजदूरों, लम्पट टटपुँजिया और लम्पट मजदूर वर्ग के बीच होता है। इसलिए आर्थिक संकट आम तौर पर पूँजीवादी प्रतिक्रिया को जन्म देता है और यह पूँजीवादी प्रतिक्रिया कई किस्म के रूप में सामने आ सकती है, जिसमें से फ़ासीवाद केवल एक रूप है। निकोस पुलान्तज़ास ने इसी बात को इस रूप में कहा है कि उदार पूँजीवादी जनवाद के अलावा तीन प्रकार की अपवादस्वरूप पैदा होने वाली पूँजीवादी राज्यसत्ताएँ या पूँजीपति वर्ग के अधिनायकत्व के तीन अपवादस्वरूप रूप होते हैं: फ़ासीवादी राज्यसत्ता, सैन्य तानाशाही और बोनापार्टवादी सत्ता।

बहरहाल, आर्थिक संकट और फ़ासीवादी उभार के बीच समानुपातिक आर्थिक रिश्ता कायम करने वाले विश्लेषण की सीमाओं को समझने के लिए यह समझना ज़रूरी है कि आर्थिक संकट किस प्रकार प्रतिक्रियावादी सम्भावना को जन्म देता है; किस प्रकार प्रतिक्रियावादी सम्भावना के साथ ही एक ऐतिहासिक रूप से प्रगतिशील सम्भावना भी आर्थिक संकट के एक परिणाम के तौर पर सामने आती है; किस प्रकार प्रतिक्रियावादी सम्भावना हर-हमेशा फ़ासीवादी प्रतिक्रिया में परिणत नहीं होती है; और किसी प्रकार क्रान्तिकारी सम्भावना के वास्तविकता में तब्दील न होने पर अलग-अलग प्रकार की विशिष्ट राजनीतिक-ऐतिहासिक स्थितियों की मौजूदगी के कारण अलग-अलग किस्म की पूँजीवादी प्रतिक्रियाओं की सम्भावनाएँ वास्तविकता में तब्दील हो सकती हैं। इसके लिए पूँजीवादी राज्य के प्रकार्यों और उनकी पूर्ति की शर्तों को समझना ज़रूरी है।

पूँजीवादी राज्यसत्ता का सबसे अहम कार्य होता है पूँजीवादी समाज के उत्पादन सम्बन्धों के राजनीतिक व वैधिक रूपों को रेखांकित करना, उनकी हिफ़ाज़त करना और पूँजीपति वर्ग के सामूहिक वर्ग हितों को संगठित करना और उन्हें “राष्ट्रीय हितों” के रूप में पेश करना। जब पूँजीवादी राज्यसत्ता यह कार्य करने में अक्षम होती है तब पूँजीवादी राज्य का संकट पैदा होता है। आर्थिक संकट के दौर में मुनाफ़े की खतरनाक हदों तक गिरती दरों और आपसी गलाकाटू

प्रतिस्पर्द्धा के कारण पूँजीपति वर्ग अपनी राज्यसत्ता के जरिये राजनीतिक तौर पर संगठित हो पाने में कई बार असफल हो जाता है। इसके कारण वह अपने वर्ग हितों को “राष्ट्र” के हितों के तौर पर जनता के सामने पेश करने में भी असफल हो जाता है। परिणामतः पूँजीवादी राज्यसत्ता और पूँजीवादी शासक वर्ग अपना सामाजिक आधार खोने लगते हैं। पूरी पूँजीवादी व्यवस्था का वर्चस्व खण्डित होने लगता है; दूसरे शब्दों में पूँजीपति वर्ग के शासन की वैधता संकट में पड़ जाती है। उदार पूँजीवादी राज्यसत्ता को जिस प्रकार का और जिन कारणों से एक सामाजिक आधार प्राप्त होता है वह संकट के दौर में पूँजीवादी संचय के लिए एक बाधा बन जाता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार के, विशेष तौर पर, पहले कार्यकाल के कल्याणकारी लोकरंजकतावाद के दौरान जो झुनझुने जनता को थमाये गये थे (मसलन, ग्रामीण रोजगार गारण्टी अधिनियम, सूचना अधिकार क़ानून, शिक्षा का अधिकार इत्यादि) उन दिखावटी झुनझुनों का खर्च उठाने में भी संकट के दौर में भारतीय पूँजीवादी राज्य अक्षम था; इन खर्चीले झुनझुनों की मौजूदगी के कारण भारतीय पूँजीपति वर्ग और उसकी राज्यसत्ता के सामने कई प्रकार के संकट उत्पन्न हो रहे थे। ऐसे में, पूँजीपति वर्ग की आपसी प्रतिस्पर्द्धा भी एक ऐसी दिशा में विकसित हो रही थी, जिसके कारण उसके राजनीतिक तौर पर संगठित होने और अपने वर्ग हितों को “राष्ट्र” के हितों के तौर पर पैकेज करने के कार्यभार का निपटारा होना मुश्किल होता जा रहा था। विशालकाय घोटालों का घटित होना केवल इस संकट की एक अभिव्यक्ति मात्रा था। ऐसे में, पूँजीपति वर्ग के सामूहिक वर्ग हितों को कोई ऐसी राज्यसत्ता ही संगठित कर सकती है, जिसकी पूँजीपति वर्ग से सापेक्षिक स्वायत्तता अपेक्षाकृत ज़्यादा हो; जो पूँजीपति वर्ग को वह सामाजिक आधार मुहैया करा सके, जिसे पूँजीपति वर्ग संकट के दौर में आपसी अन्तरविरोधों के कारण खोने लगता है। दक्षिणपन्थी लोकरंजकता के विभिन्न संस्करणों की ज़मीन एक ऐसे दौर में ही पैदा होती है।

एक ऐसी स्थिति में ही हमारे देश में दक्षिणपन्थी लोकरंजकता के विभिन्न संस्करण तैयार हुए हैं या मज़बूत हुए हैं, जिनमें से एक था ‘आम आदमी पार्टी’ का धुर दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावाद, जिसे सीधे तौर पर फ़ासीवादी तो नहीं करार दिया जा सकता, लेकिन निश्चित तौर पर इसमें फ़ासीवादी तत्वों की मौजूदगी से इंकार भी नहीं किया जा सकता है। दूसरा था भारत के क्लासिकीय फ़ासीवादी संघ परिवार और भाजपा की राजनीति और प्रतिक्रियावादी आन्दोलन का उभार। हमने पहले भी किसी और जगह इंगित किया है कि इसमें से पहले वाली राजनीतिक धारा यानी ‘आम

आदमी पार्टी' की राजनीति कम-से-कम इसी रूप में मौजूद नहीं रह सकती है, जिस रूप में वह आज मौजूद है। या तो 'आम आदमी पार्टी' अपने 'विशिष्ट बिक्री गुण' को खोकर किसी भी आम पूँजीवादी पार्टी में तब्दील हो जायेगी (जिस सूत्र में वह अन्ततः विसर्जित ही होगी) या फिर वह विसर्जित होकर भाजपा और संघ परिवार के फ़्रासीवादी उभार में ही इज़ाफ़ा करने का काम करेगी। जो भी हो यह आराम से कहा जा सकता है कि इन दोनों धुर-दक्षिणपन्थी उभारों में ज़्यादा स्थायी और टिकाऊ उभार संघ परिवार की फ़्रासीवादी राजनीति और आन्दोलन का उभार ही है।

बहरहाल, भारतीय पूँजीपति वर्ग द्वारा मोदी के विकल्प का चुनाव एक राजनीतिक फ़ैसला था न कि शुद्धतः आर्थिक फ़ैसला। हालाँकि राजनीति और आर्थिक पहलुओं के बीच कोई चीन की दीवार नहीं होती है। जैसा कि **लेनिन** ने कहा था, 'राजनीति अर्थशास्त्र की सर्वाधिक सान्द्र अभिव्यक्ति होती है।' निश्चित तौर पर, यह राजनीतिक फ़ैसला आर्थिक संकट से प्रेरित था। लेकिन यह कहना अतिशयोक्ति होगा कि पूँजीपति वर्ग केवल यही फ़ैसला ले सकता था। अभी पूँजीवादी दायरे के भीतर भी अन्य प्रतिक्रियावादी विकल्प मौजूद थे जिनका भारतीय पूँजीपति वर्ग चुनाव कर सकता था। वास्तव में, अगर हम आर्थिक नीतियों की बात करें तो संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार के दूसरे कार्यकाल की नीतियों और मौजूदा मोदी सरकार की नीतियों में परिमाणात्मक अन्तर ही मौजूद है, हालाँकि मोदी सरकार अपने श्रम-विरोधी एजेण्डे को ज़्यादा आक्रामक और खुले तरीके से लागू कर रही है और किसी भी प्रकार के प्रतिरोध के भीषण दमन के लिए ज़्यादा प्रतिबद्ध है। मगर आतंकवाद-रोधी क़ानून, ऑपरेशन ग्रीन हण्ट, श्रम क़ानूनों में सुधार से लेकर नर्म केसरिया लाइन, साम्राज्यवाद के साथ समझौते कर देश के संसाधनों की खुली लूट की छूट देने तक के मामले में कांग्रेस-नीत संप्रग गठबन्धन किसी भी रूप में भाजपा सरकार से ज़्यादा पीछे नहीं था। **लेकिन आर्थिक संकट का असर उन पूँजीपति वर्गों में ज़्यादा तेज़ी से भयाक्रान्तता का माहौल तैयार करता है जिनका आर्थिक सन्तुलन ज़्यादा नाजुक हो और जिनका जनवादी चरित्र या तो अनुपस्थित हो या फिर न होने की हद तक कमज़ोर और क्षणभंगुर हो। भारत के पूँजीपति वर्ग के बारे में ये दोनों ही बातें लागू होती हैं।** इसलिए यह संकट के दबाव में जल्दी भयाक्रान्त होता है, इसमें जल्दी भगदड़ मचती है, यह जल्दी अपने राजनीतिक संगठन व एका को खो बैठता है और इसीलिए यह कहीं जल्दी फ़्रासीवादी विकल्प को चुनने की ओर अग्रसर होता है। साथ ही, भारतीय समाज के टटपूँजिया वर्गों के फ़्रासीवादी रूपान्तरण की सम्भावना-सम्पन्नता भी आज के यूरोपीय देशों के

टटपुँजिया वर्ग की अपेक्षा कहीं ज़्यादा है। इसलिए फ़्रासीवाद भारत के पूँजीपति वर्ग को ज़्यादा तेज़ी के साथ अपने टटपुँजिया उभार के ज़रिये तात्कालिक तौर पर एक सामाजिक आधार मुहैया करा सकता है। इस रूप में भारत में फ़्रासीवादी उभार के कुछ विशिष्ट राजनीतिक और ऐतिहासिक कारण हैं जिन्हें समझना बेहद ज़रूरी है और केवल आर्थिक संकट के उपोत्पाद के रूप में उसका चित्रण हर-हमेशा बेहद सीमित होगा और आज के दौर में जो राजनीतिक सन्धि-बिन्दु उपस्थित है, उसकी कारणात्मक व्याख्या नहीं कर पायेगा।

इस सन्दर्भ में पूँजीवादी व्यवस्था के तहत राज्यसत्ता और राजनीति की इस सापेक्षिक स्वायत्तता को समझना बेहद ज़रूरी है। हर वर्ग समाज में राज्यसत्ता का कार्य होता है उस समाज के उत्पादन सम्बन्धों को क्रान्ती जामा पहनाना और उसकी हिफ़ाज़त करना या उसे क्रायम रखना। लेकिन पूँजीवादी समाज अपने से पहले के समाजों से इस मायने में भिन्न होता है कि यह आर्थिक शोषण पर आधारित होता है, आर्थिकेतर उत्पीड़न पर नहीं। यहाँ आर्थिक प्रक्रियाओं को सुचारू रूप से चलाने के लिए किसी प्रत्यक्ष राजनीतिक हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होती है, जैसा कि सामन्तवाद में होता है। इसलिए पूँजीवादी राज्यसत्ता और पूँजीवादी राजनीति पूँजीवादी समाज में जारी उत्पादन व आर्थिक गतिविधियों से सापेक्षिक रूप से स्वायत्त होते हैं, हालाँकि अन्तिम विश्लेषण में किसी भी पूँजीवादी समाज में पूँजीवादी राज्यसत्ता को पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों, मुनाफ़े और पूँजी संचय के जारी रहने को सुनिश्चित करना होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो अन्तिम विश्लेषण में पूँजीवादी राज्यसत्ता को पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के पुनरुत्पादन को सुनिश्चित करना होता है। लेकिन पूँजीवादी राज्यसत्ता यह कार्य वर्चस्व की अपनी प्रणाली के द्वारा करती है। पूँजीपति वर्ग केवल अपनी राज्यसत्ता के द्वारा ही एक वर्ग के तौर पर राजनीतिक रूप से संगठित होता है, या कहें कि अपने वैयक्तिक पूँजीवादी हितों से ऊपर उठकर अपने सामूहिक पूँजीवादी वर्ग हितों की मंज़िल तक पहुँचता है। राज्यसत्ता जब भी पूँजीपति वर्ग के वैयक्तिक सदस्यों के साथ अपनी निकटता को छिपा नहीं पाती तो यह उसकी भारी असफलता होती है और उसकी वैधता को कमज़ोर करती है। दूसरे शब्दों में, पूँजीवादी राज्यसत्ता अगर पूँजीपति वर्ग के वैयक्तिक सदस्यों से दूरी को प्रदर्शित करने में असफल होगा तो वह पूँजीपति वर्ग के हितों को राजनीतिक तौर पर संगठित कर पाने और उनकी नुमाइन्दगी कर पाने की क्षमता खोता जायेगा। वैयक्तिक पूँजीपतियों से दूरी को प्रदर्शित करके ही पूँजीवादी राज्यसत्ता पूँजीपति वर्ग के सामूहिक वर्ग हितों को संगठित कर सकती है और उसे

“राष्ट्रीय हित” के तौर पर जनता के बीच पेश कर वैधता अर्जित कर सकती है, और इसके लिए पूँजीवादी राज्यसत्ता को कई बार पूँजीपति वर्ग के वैयक्तिक सदस्यों की इच्छा के विपरीत कार्य भी करना होता है। यह पूँजीवादी राज्यसत्ता का सबसे अहम कार्य होता है।

इसी के साथ पूँजीवादी राज्यसत्ता का दूसरा सबसे अहम कार्य जुड़ा हुआ है। यह दूसरा कार्यभार है मजदूर वर्ग व अन्य शासित मेहनतकश वर्गों को विसंगठित रखना, उन्हें लगातार वैयक्तिक या आणविकीकृत (atomized) व्यक्तियों के रूप में बनाये रखना। दूसरे शब्दों में कहें तो उन्हें ‘नागरिक’ के रूप में, बुर्जुआ “राष्ट्र” के एक अंग या सदस्य के रूप में उत्पादित व पुनरुत्पादित करना (बड़े विस्मय की बात है कि सर्वहारा राजनीति का अगुवा होने का दावा करने वाला एक अर्थवादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी संगठन ‘नागरिक’ नाम से अपना मुखपत्र निकालता है, जो कि उसकी अधकचरी और दरिद्र ऐतिहासिक समझदारी को दिखलाता है; नागरिकता का पूरा विमर्श ही वास्तव में बुर्जुआ जनवादी क्रान्तियों के दौर में पैदा हुआ था और आज इस विमर्श की कोई विशिष्ट प्रगतिशील सम्भावना शेष नहीं रह गयी है)।

पूँजीवादी राज्य को पूँजीवादी आर्थिक सम्बन्धों के क्रान्ती औपचारिकीकरण और उनके सांगठनिक ढाँचे को तैयार करने और पूँजीवादी उत्पादन को सम्भव बनाने के लिए अवसरंचनात्मक ढाँचा तैयार करने के अलावा **संकटों को टालने के लिए आर्थिक विनियमन करने, श्रम और पूँजी के बीच के अन्तरविरोधों को खतरनाक हदों तक विकसित होने से रोकने के लिए राजकीय हस्तक्षेप द्वारा उन्हें विनियमित करने और साथ ही कल्याणकारी नीतियों और जुमलों के जरिये और साथ ही राष्ट्रीय कट्टरवाद के जरिये अपने शासन की खातिर जनता की सहमति का निर्माण भी करना होता है।** इनमें से विशेष तौर पर बाद के तीन कार्यों को पूरा करने के लिए उसे कभी-कभी पूँजीपति वर्ग के बहुलांश की इच्छाओं की अवहेलना भी करनी पड़ती है। लेकिन पहले दो कार्यों के लिए उसे पूँजीपति वर्ग के प्रत्यक्ष सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। इन सारे प्रकार्यों के निष्पादन के लिए पूँजीवादी राज्यसत्ता को आर्थिक संसाधनों के साथ ही साथ न सिर्फ जनता की सहमति की आवश्यकता पड़ती है, बल्कि पूँजीपति वर्ग के भी प्रत्यक्ष सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। ज़ाहिर है, इसके लिए अर्थव्यवस्था में लगातार वृद्धि, यानी कि स्वस्थ व सतत् पूँजीवादी मुनाफ़े की, और साथ ही सामाजिक जीवन स्तर में बेहतरी की आवश्यकता होती है जो कि जनता के बीच सहमति का निर्माण

कर सके और पूँजीपति वर्ग के सहयोग को सुनिश्चित कर सके। लेकिन आर्थिक संकट के दौर में राज्यसत्ता के पास ये सारी सहूलियतें नहीं रह जाती हैं। आर्थिक संकट के दौरों में जनता के व्यापक जनसमुदायों के बीच सहमति के निर्माण की प्रक्रिया को पूँजी संचय को जारी रखते हुए चलाना बेहद मुश्किल होता जाता है। दूसरे शब्दों में, पूँजीपति वर्ग के पूँजी संचय को सुनिश्चित करना और जनता के बीच पूँजीवादी शासन की वैधता को बरकरार रखना एक साथ असम्भव हो जाता है। विशेष तौर पर, अगर किसी मज़दूर सुधारवादी मज़दूर आन्दोलन का दबाव हो तो आर्थिक संकट का असर पूँजीपति वर्ग पर और भी ज़्यादा ज़बरदस्त होता है, जैसा कि इटली और जर्मनी में हुआ। ऐसे में, पूँजीपति वर्ग की प्रतिक्रिया का फ़्रासीवादी रूप लेने की सम्भावना ज़्यादा प्रबल होती है। अगर मज़दूर वर्ग की राजनीति क्रान्तिकारी विकल्प को न अपनाकर सुधारवादी, अर्थवादी, संशोधनवादी और ट्रेड यूनियनवादी विकल्प को अपनाती है, तो वास्तव में वह फ़्रासीवादी उभार और प्रतिक्रिया को बढ़ावा देने का ही काम करती है। ऐसी सुधारवादी मज़दूर राजनीति न तो पूँजीवादी व्यवस्था के आगे जाने की बात करती है और न ही पूँजीवादी व्यवस्था के लिए साँस लेने की जगह छोड़ती है, जिसका नतीजा होता है पूँजीवादी प्रतिक्रिया जो कि फ़्रासीवादी रूप भी ले सकती है।

फ़्रासीवादी उभार और टटपूँजिया वर्गों की भूमिका का प्रश्न

हमने प्रस्तुत पुस्तिका में लिखा है कि फ़्रासीवादी उभार का प्रमुख सामाजिक आधार तमाम टटपूँजिया वर्ग होते हैं। हमने यह भी स्पष्ट किया है कि पूँजीवादी लूट और मुनाफ़े के कारण उजड़ते हुए टटपूँजिया वर्ग में फ़्रासीवादी प्रचार का शिकार होने की सम्भावना होती है; बर्बाद होता हुआ टटपूँजिया वर्ग यदि अपनी बर्बादी के कारणों को नहीं समझता तो फिर फ़्रासीवाद उसके सामने एक मिथ्या शत्रु खड़ा करने में सफल होता है और यह मिथ्या शत्रु होता है मज़दूर वर्ग और उसका आन्दोलन और साथ ही धार्मिक, नस्लीय, जातीय या किसी भी क्रिस्म की अल्पसंख्यक आबादी, जिसे 'बाहरी', 'अन्य', 'भिन्न' आदि के रूप में चित्रित करके एक ख़तरे के तौर पेश किया जा सके। इस वर्ग के भीतर एक क्रिस्म के अन्धराष्ट्रवाद को भड़काना, तानाशाही के लिए समर्थन पैदा करना और वास्तव में अपने ही आर्थिक और राजनीतिक हितों के खिलाफ़ जाते हुए फ़्रासीवादी बर्बरता की हिमायत करने और उसका उपकरण बनने

की सम्भावनासम्पन्नता मौजूद होती है। साथ ही, हमने यह भी स्पष्ट किया था कि सामाजिक-जनवादियों यानी संसदीय वामपन्थियों के अर्थवाद और सुधारवाद के कारण भी मजदूर आन्दोलन एक राजनीतिक रवैया नहीं अपना पाता। इसके कारण वह निम्न मध्यवर्ग के विभिन्न संस्तरों को अपने साथ लाने का प्रयास नहीं करता, जिसके कारण ये वर्ग फ़ासीवादी प्रचार के समक्ष अरक्षित होते हैं। एक प्रकार से चाहे क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के नेतृत्व में हो या फिर ग़द्दार संशोधनवादियों के नेतृत्व में, अर्थवादी व ट्रेडयूनियनवादी मजदूर आन्दोलन फ़ासीवाद को इस बात की इजाज़त दे देता है कि वह टटपुंजिया वर्गों की फ़ासीवादी गोलबन्दी कर उसे मजदूर आन्दोलन के विरुद्ध एक प्रति-सन्तुलनकारी शक्ति या प्रतिभार (बटखरे) के रूप में इस्तेमाल करे। यह स्पष्ट करना ज़रूरी है कि अर्थवाद और ट्रेडयूनियनवाद की यह ग़लती केवल संसदीय वामपन्थियों तक नहीं सीमित है बल्कि क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन में भी इस प्रकार के अर्थवाद का असर है। जैसा कि लेनिन ने लिखा था, ‘अर्थवाद राजनीतिक प्रश्न उठा पाने में अक्षमता की प्रवृत्ति का नाम होता है।’ आज देश में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन यदि मध्यवर्ग व निम्न मध्यवर्ग के विभिन्न स्तरों तक कोई पहुँच रखता है तो वह मुख्य रूप से कुछ विश्वविद्यालय परिसरों और विशेष तौर पर कुछ कुलीन विश्वविद्यालय परिसरों तक सीमित है। एक व्यापक निम्न मध्यवर्गीय और अर्द्धमजदूर बनने की सीमा पर खड़ी आम ग़रीब आबादी है जिसमें क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन की कोई विशेष पकड़ नहीं है। इस आबादी के बीच या तो संघ परिवार के विभिन्न फ़ासीवादी संगठन काम कर रहे हैं और उन्हें ‘हिन्दू राष्ट्र’ के मिथ्या समाधान के लिए सहमत करने का प्रयास कर रहे हैं या फिर इन वर्गों में साम्राज्यवादियों के टुकड़ों पर पलने वाले तमाम एन.जी.ओ. संगठन काम कर रहे हैं और इन वर्गों में सुधारवाद के ज़रिये भिक्षावृत्ति पैदाकर उनकी क्रान्तिकारी सम्भावनाओं पर चोट पहुँचा रहे हैं। साम्राज्यवाद-पोषित एन.जी.ओ. राजनीति और पतित समाजवादी राजनीति के अवैध सम्बन्धों से पैदा होने वाली ‘आम आदमी पार्टी’ की राजनीति भी इन्हीं वर्गों को निशाना बना रही है।

मगर क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन इन वर्गों में अपने क्रान्तिकारी संगठनों को खड़ा करने के काम में अभी काफ़ी पीछे है और इसे क्रदम-क्रदम पर इसकी क्रीमत भी चुकानी पड़ती है। मुम्बई के मजदूर आन्दोलन के ध्वंस में शिवसेना एक अहम भूमिका निभाने में कामयाब रही तो इसके दो प्रमुख कारण थे: पहला, शिवसेना ने तमाम आम मेहनतकश आबादी के रिहायशी इलाकों में ‘लॉयल्टी नेटवर्क’, मित्र मण्डल, युवा मण्डल, जिम आदि बनाने के ज़रिये अपना सामाजिक आधार तैयार

किया जबकि मजदूर वर्ग का आन्दोलन ट्रेडयूनियनवादी फ्रेमवर्क से बाहर नहीं निकल सका और वहाँ तक अपनी पहुँच नहीं बना सका; दूसरा, शिवसेना ने निम्न मध्य वर्ग के एक अच्छे-खासे हिस्से की मराठी कट्टरवाद के जुमले के ज़रिये फ़्रासीवादी प्रतिक्रियावादी गोलबन्दी करने में सफलता पायी क्योंकि कम्युनिस्ट आन्दोलन ने इन वर्गों में क्रान्तिकारी प्रचार और उद्वेलन को पर्याप्त महत्व नहीं दिया। इसलिए क्रान्तिकारी मजदूर आन्दोलन के लिए एक अहम सबक यह है कि उसे टटपुँजिया वर्गों के विशेष तौर पर निम्नतर संस्तरों के बीच सतत् राजनीतिक प्रचार करना होगा और संस्थाबद्ध हस्तक्षेप करते हुए उन्हें संगठित करना होगा; उनके सामने यह स्पष्ट करना होगा कि उनके जीवन की अनिश्चितता और असुरक्षा के लिए वास्तव में पूँजीवादी व्यवस्था जिम्मेदार है; उनके बीच सुधार कार्यों व सांस्कृतिक कार्यों की निरन्तरता बनानी होगी। यह समझना बेहद अहम है कि उनके बीच इस प्रकार के कार्यों को **संस्थाबद्ध रूप (institutional form)** देना होगा। मिसाल के तौर पर, नौजवानों व बच्चों के पुस्तकालय, जिम, खेल क्लब आदि बनाने होंगे, मेडिकल कैम्प, सफ़ाई अभियान जैसे कार्यक्रम आयोजित करने होंगे, अपनी जनता डिस्पेंसरी व जनता क्लिनिक खोलने होंगे, मृतक वाहन सेवा आदि शुरू करनी होगी और इसी प्रकार के अगणित कार्य करने होंगे। और सबसे अहम बात यह कि इन वर्गों के विभिन्न हिस्सों, जैसे कि युवाओं, स्त्रियों, छात्रों व नागरिकों के जनसंगठन बनाने होंगे और उन्हें उनकी आर्थिक व सामाजिक माँगों के लिए संघर्ष करने के लिए शिक्षित-प्रशिक्षित करना होगा। लेकिन केवल आर्थिक मुद्दों तक हमें अपने प्रचार को सीमित नहीं रखना होगा, बल्कि जनसमुदायों के भीतर मौजूद उन प्रवृत्तियों और मूल्यों-मान्यताओं के विरुद्ध मित्रतापूर्ण संघर्ष चलाना होगा, जोकि उन्हें फ़्रासीवादी राजनीति के समक्ष अरक्षित बनाती हैं, विशेष तौर पर पितृसत्ता-विरोधी व स्त्र मुक्ति का संघर्ष और जाति उन्मूलन के लिए सर्वहारा वर्गीय कार्यदिशा के साथ जुझारू संघर्ष। **केवल इसी रास्ते से हम फ़्रासीवादियों के विरुद्ध समाज में अपनी अवस्थितियाँ बाँध सकते हैं और उनसे लड़ सकते हैं।**

लेकिन इतना ही समझना काफ़ी नहीं है। टटपुँजिया वर्गों के हरेक हिस्से को इन सारे प्रयासों के ज़रिये भी मजदूर वर्ग के पक्ष में नहीं जीता जा सकता है। और इसमें चिन्तित होने वाली भी कोई बात नहीं है! टटपुँजिया वर्ग कोई एकाश्री निकाय नहीं है और इसके तमाम संस्तर होते हैं। मजदूर वर्ग और पूँजीपति वर्ग से सापेक्षिक दूरी के अनुसार इनके राजनीतिक वर्ग चरित्र में परिवर्तन होता है। पूँजीवादी लूट से इसके कुछ संस्तर उजड़ते हैं तो एक छोटा-सा हिस्सा सामाजिक पदानुक्रम में सीढ़ियाँ

चढ़ता भी जाता है। फ्रासीवाद जिस हद तक उजड़ते हुए टटपुँजिया वर्ग का मिथकीय या रूमानी उभार है वह उसी हद तक सामाजिक रूप से ऊपर की ओर गतिमान टटपुँजिया वर्ग का आन्दोलन भी है। और उजड़ता हुआ टटपुँजिया वर्ग अगर फ्रासीवादी उभार का आधार बनता है तो इसका एक अहम कारण तो क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों और मज़दूर आन्दोलन की विफलता भी है, जैसा कि हमने ऊपर प्रदर्शित किया। मगर सामाजिक पदानुक्रम में ऊपर की ओर चढ़ते टटपुँजिया वर्ग का फ्रासीवाद का सामाजिक अवलम्ब बनना ज़्यादा स्वाभाविक है और क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट प्रचार को चाहे जितनी भी सटीकता और कुशलता के साथ अंजाम दिया जाये, इस वर्ग के एक हिस्से को ही जीता जा सकता है और उस हिस्से के छोटा होने की सम्भावना ही ज़्यादा होगी। हमने अपनी पुस्तिका में इस पहलू को सन्तोषजनक रूप से स्पष्ट नहीं किया था, क्योंकि यह यथार्थ का प्रमुख पहलू नहीं है। लेकिन आज के परिदृश्य में फ्रासीवादी उभार के तमाम पहलुओं को समझने के लिए हमें इस नुक्ते को स्पष्ट करने की आवश्यकता महसूस हो रही है। प्रमुख पहलू यही है कि उजड़ते हुए टटपुँजिया वर्ग फ्रासीवादी प्रतिक्रिया का सामाजिक आधार बनते हैं क्योंकि समूचे टटपुँजिया वर्गों में ये उजड़ते हुए वर्ग बहुसंख्या होते हैं। लेकिन फिर भी इस प्रमुख पहलू पर सारी सच्चाई को अपचयित करने देने के अपने नुकसान भी हैं। अगर दूसरे गौण पहलू को नहीं समझा जाता है तो टटपुँजिया वर्गों में क्रान्तिकारी प्रचार और उद्वेलन की उपयुक्त रणनीति नहीं तैयार की जा सकती है।

यह सच है कि टटपुँजिया वर्गों का एक अच्छा-खासा हिस्सा पूँजीवादी संचय की प्रक्रिया में अनिश्चितता और सामाजिक-आर्थिक असुरक्षा के गड्ढे में धकेल दिया जाता है। यदि उनके बीच व्यापक और सघन पूँजीवाद-विरोधी क्रान्तिकारी प्रचार न हो तो उसका एक बड़ा हिस्सा इस फ्रासीवादी प्रचार को मानने को तैयार होता है कि उसके जीवन की अनिश्चितता के लिए मज़दूर वर्ग को मिले हुए “विशेषाधिकार” (सुरक्षात्मक श्रम क़ानून, न्यूनतम मज़दूरी, अन्य कल्याणकारी नीतियाँ आदि) ज़िम्मेदार हैं क्योंकि इनके कारण “राष्ट्र” का विकास नहीं हो पा रहा है, देश पूरी दुनिया में प्रतिस्पर्द्धात्मक नहीं हो पाता है, आर्थिक वृद्धि की दर कम हो जाती है, वगैरह। मोदी सरकार आजकल इस प्रकार का प्रचार ज़ोर-शोर से कर रही है। यह बात टटपुँजिया वर्ग के विशेष तौर पर ऊपरी हिस्सों और उद्यमी तबके पर लागू होती है। हालाँकि यह टटपुँजिया वर्ग किसी भी रूप में तकनोलॉजी, आधुनिकीकरण और उद्योगों का विरोधी नहीं होता है, मगर फिर भी यह संघ परिवार के काल्पनिक आधुनिकता-विरोध की ओर काफ़ी आकर्षित होता है। चूँकि इस वर्ग के पास देखने

के लिए कोई भविष्य नहीं होता है या चूँकि इसे भविष्य का सपना दिखाने वाली ताकतें मौजूद नहीं होतीं इसलिए इसे किसी कल्पित मिथकीय अतीत के चित्र बहुत रमणीय लगते हैं, जैसे कि किसी “रामराज्य” या किसी भी क्रिस्म के प्राचीन हिन्दू राज्य की तस्वीर। इन वर्गों में पूँजीवादी प्रचार के प्रभावितों का एक और कारण भी होता है। इनमें से कई पूँजीपति या उद्यमी बनने के सपने भी पालते रहते हैं। निम्न मध्यवर्ग का वह हिस्सा विशेष तौर पर उद्यमी बन जाने के इस सपने या कहें भ्रम का शिकार होता है जो कि पेशेवर के तौर पर काम नहीं करता, यानी कि जो किसी और नियोक्ता के पास नौकरी नहीं करता और अपना छोटा-मोटा कोई काम करता है, जैसे कि कोई वर्कशॉप या दुकान आदि चलाना। इस हिस्से को हमेशा यह लगता है कि वह भी एक दिन समृद्ध पूँजीपति बन जायेगा! इन लोगों को धीरूभाई अम्बानी जैसे के ‘नीचे से ऊपर उठने’ की कहानी बहुत अपील करती है! यह बात दीगर है कि इस वर्ग का बिरला ही कोई ऊपर चढ़कर पूँजीपति बन पाता है! इनमें से अधिकांश कभी इस स्थिति में ही नहीं आ पाते हैं। मगर फिर भी अपने छोटे-मोटे धंधे का मालिक होने के कारण इनके भीतर मालिक बनने का भ्रम, सपना और मानसिकता मौजूद होती है। इस सपने के सच न हो पाने के कारण के तौर पर वे हमेशा मजदूरों को देखते हैं, जो कि “आलसी और कामचोर” होते हैं; ऐसा सोचने का कारण यह होता है कि ऐसे बेहद छोटे उद्यमी भी कई बार एक-दो मजदूर काम पर रखते हैं। इस वर्ग को उदार पूँजीवादी संसदीय जनवाद के विरुद्ध भड़का कर “राष्ट्र-विकास” हेतु, “रामराज्य-पुनर्स्थापना” हेतु फ्रांसीवादी तानाशाही और एक “मजबूत नेता”, “छप्पन इंच छाती वाले प्रधानमन्त्री” के लिए तैयार करना अपेक्षाकृत आसान होता है! अपनी सामाजिक अवस्थिति से ही यह किसी भी प्रकार के प्रतिक्रियावादी प्रचार के सामने कहीं ज्यादा निहत्था होता है। भारत में ऐसा टटपुँजिया उद्यमी वर्ग कोई छोटा नहीं है और इसको क्रान्तिकारी अवस्थिति पर जीतना सबसे मुश्किल होता है और इसका एक अच्छा-खासा हिस्सा अक्सर फ्रांसीवादी उभार का एक सामाजिक आधार बनता है। इस पूँजीपति बनने के आकांक्षी उद्यमी टटपुँजिया वर्ग के मुक़ाबले किसी अन्य मालिक को अपना श्रम बेचने वाले टटपुँजिया वर्ग के क्रान्तिकारी अवस्थिति पर आने की सम्भावनासम्पन्नता कहीं ज्यादा होती है और क्रान्तिकारी शक्तियों को उन्हीं पर अपने प्रयासों को केन्द्रित करना चाहिए।

टटपुँजिया वर्ग का एक दूसरा छोटा-सा हिस्सा ऐसा भी होता है जो कि सामाजिक पदानुक्रम में ऊपर की सीढ़ियाँ चढ़ रहा होता है, जो कि पूँजीवादी लूट का एक छोटा लाभ प्राप्तकर्ता होता है। छोटे ठेकेदारों, जॉबरो, दलालों,

मोटी तनख्वाहें पाने वाले पढ़े-लिखे शिक्षित मध्यवर्गीय युवाओं (जैसे कि आई.टी., बी.पी.ओ. सेक्टर आदि में काम करने वाली आबादी), अच्छी तनख्वाहों वाली सरकारी नौकरी करने वाले मध्यवर्ग को पूँजीवादी संचय और विकास का लाभ भी प्राप्त होता है। उसे आधुनिकीकरण व उद्योगीकरण से भी फायदा मिलता है। इन वर्गों की राजनीतिक चेतना, या कहें भावनाएँ, पूँजीवादी व्यवस्था की अस्थिरता से काफ़ी डावाँडोल होती है। उसे हर ऐसी चीज़ से नफ़रत होती है जो कि उसके जीवन की प्रीतिकर स्थिरता या कहें ठहराव को अस्थिर करती हुई नज़र आती है। मिसाल के तौर पर, अगर वह अपनी बालकनी से मज़दूरों के किसी जुलूस को भी देखता है तो घबरा जाता है; उसे एकदम असम्बद्ध तरीके से तत्काल अपनी समृद्ध और सम्पत्ति पर खतरा महसूस होता है और साथ ही उसे अपने परिवार और “उसकी स्त्रियों” पर भी खतरा महसूस होता है। यहीं से उसकी प्रतिक्रिया पैदा होती है। उसे लगता है कि मज़दूरों पर मज़बूती से लगाम कसने के लिए उदार पूँजीवादी जनवाद नाक्राफ़ी है और एक तानाशाह होना चाहिए जो इन सबके पेंच टाइट करके रखे! विशेष तौर पर आर्थिक संकट के दौर में इस खाती-पीती टटपुँजिया आबादी के बीच इस प्रकार के विचारों की ज़बरदस्त अपील होती है। अगर आप तमाम सामाजिक मीडिया की वेबसाइटों पर मोदी-समर्थकों की एक पूरी प्रोफ़ाइल तैयार करें, तो आप पायेंगे कि उनमें से करीब 90 प्रतिशत लोग इसी वर्ग और इन्हीं पेशों से आते हैं। अपनी प्रतिक्रिया में यह वर्ग जल्द ही सामान्यीकरण कर लेता है और इसकी प्रतिक्रिया जल्द ही पूरी तरह से अन्धी और निरंकुश हो जाती है। मिसाल के तौर पर, यह वर्ग जल्द ही मुखर तौर पर स्र-विरोधी, दलित-विरोधी, दमित राष्ट्रीयता-विरोधी, आदि भी हो जाता है, हालाँकि ऐसा बन जाने की सुष्ठु सम्भावना उसमें हमेशा से ही मौजूद रहती है। ये ही लोग हैं जो कविता कृष्णन, अभिनेत्र खुशबू और श्रुति सेठ के विरुद्ध ट्विटर व फेसबुक जैसी वेबसाइटों पर भयंकर अश्लील और गन्दी टिप्पणियाँ करते हुए नरेन्द्र मोदी का गुणगान करते हैं। इस वर्ग का कोई व्यक्ति पूँजीवाद-विरोधी क्रान्तिकारी पक्ष के साथ आ सकता है मगर एक वर्ग के तौर पर यह किसी सूत्र में क्रान्तिकारी पक्ष के साथ नहीं आ सकता है।

टटपुँजिया वर्ग के ये दो हिस्से ऐसे हैं जो कि क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन के मित्र बनने की क्षमता नहीं रखते हैं और नैसर्गिक तौर पर इनमें प्रतिक्रिया का आधार बनने की सम्भावना ज़्यादा होती है, यानी कि टटपुँजिया वर्ग का ऊपरी हिस्सा और निम्न पूँजीवादी उद्यमी आबादी, यानी, ‘पूँजीपति बनने के आकांक्षी’ टटपुँजिया आबादी। इसलिए यह भी समझने की आवश्यकता है कि केवल एक मिथ्या चेतना

का शिकार उजड़ता हुआ टटपूँजिया वर्ग ही फ़्रासीवादी उभार का सामाजिक आधार नहीं बनता, बल्कि सामाजिक रूप से ऊपर की ओर गतिमान और पूँजीवादी लूट का लाभ प्राप्तकर्ता बनने वाला टटपूँजिया वर्ग भी फ़्रासीवादी उभार का ज़बरदस्त सामाजिक आधार बनता है। फ़्रासीवाद केवल उजड़ते टटपूँजिया वर्ग का प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन नहीं है, बल्कि इस आर्थिक तौर पर उभरते टटपूँजिया वर्ग का भी प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन है। सच कहें तो यह उभरता हुआ टटपूँजिया वर्ग सचेतन तौर पर इस फ़्रासीवादी प्रतिक्रिया का सामाजिक आधार बनता है और टटपूँजिया वर्गों के रूमानी उभार का नेतृत्व भी इसी के पास होता है। यह खाता-पीता टटपूँजिया वर्ग मिथ्या वर्ग भावना से कम अपने नैसर्गिक वर्ग हितों से ज़्यादा प्रेरित होता है, जबकि उजड़ता हुआ टटपूँजिया वर्ग वास्तव में अपने असली वर्ग हितों के प्रति अनभिज्ञ होता है और इस अज्ञान के कारण ही वह फ़्रासीवादी उभार के साथ खड़ा होता है। इसीलिए उजड़ता हुआ टटपूँजिया वर्ग या दूसरे शब्दों में कहें तो निम्न मध्यवर्गीय आबादी और विशेषकर आम मेहनतकश निम्न मध्यवर्गीय आबादी के भीतर क्रान्तिकारी पक्ष के साथ आने की सम्भावना ज़्यादा होती है बशर्ते कि क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन अपने सतत् प्रचार और उद्वेलन के ज़रिये इस वर्ग को अपने पक्ष में लेने के लिए रचनात्मक, नये और व्यावहारिक तरीकों और रूपों का इस्तेमाल करे और अर्थवादी रवैये को छोड़ कर एक क्रान्तिकारी राजनीतिक रवैया अख़्तियार करे।

मज़दूर वर्ग के कौन-से हिस्से फ़्रासीवाद का आधार बन सकते हैं?

कई मार्क्सवादी विश्लेषणों में यह प्रवृत्ति पायी गयी है कि वे फ़्रासीवादी आन्दोलनों की मज़दूर वर्ग के भीतर पकड़ को कम करके दिखलाते हैं। हमने मौजूदा पुस्तिका में संक्षेप में इस बात पर चर्चा की थी कि मज़दूर वर्ग के भी कुछ हिस्सों में फ़्रासीवादी राजनीति का असर होता है और वे किस प्रकार फ़्रासीवादी उभार का एक उपकरण बन बैठते हैं। फिर भी हमें लगता है कि इस पर थोड़ा और विस्तार में जाने की आवश्यकता है क्योंकि यह मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए एक तात्कालिक महत्व रखता है और चुनौती पेश करता है। इसे न समझने के कारण पहले ही काफ़ी नुक़सान हो चुका है और आगे चलकर और भी ज़्यादा नुक़सान होगा।

हमने पुस्तिका में दिखलाया था कि किस प्रकार संघ परिवार से जुड़े हुए 'भारतीय मजदूर संघ' द्वारा मजदूरों के बीच पूँजीवादी राष्ट्रवाद का प्रचार किया जाता है और किस तरह से विशेष तौर पर सफेद कॉलर वाले मजदूरों (जो कि अपने आपको 'कर्मचारी' कहलवाना पसन्द करते हैं!) के बीच फ़्रासीवादी का आधार तैयार होता है। कुछ वर्षों पहले भारतीय मजदूर संघ का माकपा से सम्बद्ध ट्रेड यूनियन संघ 'सीटू' को पीछे छोड़ते हुए सबसे बड़ी यूनियन बन जाना सफेद कॉलर के मजदूरों के बीच फ़्रासीवादी राजनीति की बढ़ती दखल को ही प्रदर्शित करता है। और यह कोई चौंकाने वाली बात भी नहीं है। अतीत में भी मजदूर वर्ग के इस हिस्से का एक अंग फ़्रासीवादी उभार का आधार बन चुका है। आइए कुछ ठोस आँकड़ों पर निगाह डालें और फिर फ़्रासीवाद का आधार बनने वाले मजदूर तबके का करीबी से विश्लेषण करें।

1930 में नात्सी पार्टी की सदस्यों में से 26.3 प्रतिशत मजदूर थे। यह आँकड़ा 1932 में बढ़कर 32.5 प्रतिशत हो गया। इटली में तो फ़्रासीवादी आन्दोलन ने मजदूर आन्दोलन के भीतर जड़ जमाने से ही शुरुआत की थी। हंगरी के 'एरो क्रॉस' नामक फ़्रासीवादी संगठन की भी मजदूर आबादी के एक हिस्से में अच्छी पकड़ थी। बताने की ज़रूरत नहीं है कि इसके लिए फ़्रासीवादी राजनीति ने इटली और जर्मनी दोनों ही देशों में मजदूरों के इलाकों में कुछ कारपोरेटवादी उपक्रम भी चलाये थे, जैसे कि मजदूरों के लिए सुरक्षा फण्ड पूल का निर्माण करना; ज़रूरत पड़ने पर कुछेक मजदूरों को ऋण देना, फ़्रासीवादी संगठन के चहेते मजदूरों के समुदाय (जाति, क्षेत्र, भाषा, आदि) के कुछेक लोगों को नौकरियाँ दिलवा देना आदि। शिवसेना ने भी महाराष्ट्र में कुछ इलाकों में पकड़ बनाने के लिए उन इलाके के कुछ विशिष्ट समुदायों के कुछेक लोगों को किन्हीं कम्पनियों या उपक्रमों में बन्दूक की नोक पर नौकरी दिलवाने का काम किया था, जिससे कि उस पूरे समुदाय में ही उसका आधार तैयार होता था। **ज़ाहिर है, ऐसे तरीकों से मजदूर आबादी को बेरोज़गारी या ग़रीबी से निजात नहीं मिल जाती है। बस एक भ्रम तैयार होता है और समुदायगत चेतना में बँधे मजदूर, दूसरे शब्दों में कहें तो राजनीतिक चेतना की कमी के शिकार मजदूर ऐसे फ़्रासीवादी संगठनों का समर्थन करते हैं और उनमें से कुछ उनके पैदल सैनिक बनने को भी तैयार हो जाते हैं।** भारत में भी भाजपा और संघ परिवार के अन्य अनुषंगी संगठन इन कारपोरेटवादी तरीकों को अपनाते हैं। कारपोरेटवाद की सोच मुसोलिनी ने इटली में लागू की थी जिसका मक़सद था मजदूर वर्ग और पूँजीपति वर्ग के बीच सहकार की बात करना और उनके अन्तरविरोधों को विभिन्न तरीकों से कुन्द करना। इसके लिए मजदूरों के प्रतिनिधियों और पूँजीपतियों के

प्रतिनिधियों को फ्रासीवादी पार्टी की मध्यस्थता में साथ बिठाया जाता था। हालाँकि इस प्रकार के सहकार का अन्त हमेशा ऐसे समझौतों या सौदों में होता था जिसमें मज़दूर वर्ग को पूँजीपति वर्ग की शर्तों को स्वीकार करना पड़ता था। कहने की आवश्यकता नहीं है कि फ्रासीवादी ताक़तें मज़दूरों के बीच अपने आधार को तैयार करने के लिए मज़दूरों के बीच मौजूद कूपमण्डूकतापूर्ण विचारों, धार्मिक ढोंग, ढकोसले और पाखण्ड और हर प्रकार की पिछड़ी हुई धार्मिक व जातिगत चेतना का भी इस्तेमाल करती हैं। इसलिए विशेष तौर पर सफेद कॉलर वाले मज़दूरों का एक हिस्सा फ्रासीवादी उभार का सामाजिक आधार बनता है। लेकिन साथ ही मज़दूर आबादी के कुछ अन्य हिस्से भी होते हैं जिनमें फ्रासीवादी उभार का आधार बन बैठने की सम्भावना होती है।

टिम मेसन नामक एक मार्क्सवादी अध्येता ने नात्सी जर्मनी का अध्ययन करते हुए दिखलाया था कि मज़दूर वर्ग के कौन-से हिस्सों में फ्रासीवादी प्रचार के समक्ष कमज़ोर पड़ने की प्रवृत्ति और फ्रासीवाद का आधार बनने की सम्भावना सबसे ज़्यादा होती है। मेसन ने दिखलाया है कि ठेका, दिहाड़ी या अस्थायी प्रकृति के रोज़गार में काम करने वाले नये युवा और सतत् गतिमान या अस्थिर मज़दूर आबादी में, जिन्हें किसी भी क्रिस्म के मज़दूर संगठन या ट्रेड यूनियन संघर्ष का कोई अनुभव नहीं होता, फ्रासीवादी राजनीति के पकड़ बनाने की पर्याप्त सम्भावना होती है। मेसन के अनुसार इसका कारण यह है कि यह आबादी राजनीतिक चेतना से सबसे ज़्यादा वंचित होती है। लेकिन आज के दौर में इसमें थोड़ा बदलाव आया है। हमारा मानना है कि आज के दौर में इस वर्ग में राजनीतिक बनने और ज़्यादा तेज़ी से व्यवस्था-विरोधी राजनीतिक वर्ग चेतना हासिल करने की क्षमता (सम्भावना-सम्पन्नता) सबसे ज़्यादा होती है। वास्तव में, विशेष तौर पर 1970 के दशक के बाद के दौर में समूचे अनौपचारिक/असंगठित मज़दूर वर्ग के राजनीतिक चरित्र में कुछ अहम बदलाव आये हैं और इसे पहले की तरह वर्ग चेतना के अभाव, राजनीतिक चेतना की कमी, आदिम चेतना या पिछड़ेपन से नहीं पहचाना जा सकता है। लेकिन यह बात आज भी सच है कि उनमें किसी भी क्रिस्म के क्रान्तिकारी प्रचार व संगठन के अभाव में उनमें आज भी यह सम्भावना-सम्पन्नता मौजूद है कि वे समुदाय, जाति, धर्म आदि के आधार पर किसी फ्रासीवादी गोलबन्दी का हिस्सा बन जायें। मगर निश्चित तौर पर पहले के दौर के मुकाबले इस सम्भावना में कमी आयी है।

टिम मेसन के अनुसार मज़दूर वर्ग का वह दूसरा हिस्सा जिसमें फ्रासीवादी राजनीति का आधार बनने की सम्भावना होती है, वह है 'वर्दी वाले मज़दूर' जो कि

रेलवे, पोस्ट व टेलीग्राफ, आदि में काम करते हैं। इनमें बैंक व बीमा सेक्टर में काम करने वाली, बड़े सरकारी दफ्तरों में अच्छे वेतन के साथ काम करने वाली एक मजदूर आबादी भी शामिल है। तीसरा हिस्सा उन मजदूरों का है जो कि छोटे व्यावसायिक सेक्टर में काम करते हैं। ऐसे मजदूर अक्सर अकेले काम करते हैं या बेहद छोटे समूहों में काम करते हैं और इस वजह से इनमें वर्ग चेतना के विकसित होने की गति बेहद धीमी होती है और अवरुद्ध होती रहती है। टिम मेसन के अनुसार चौथा और आखिरी हिस्सा है लम्पट सर्वहारा का जिसमें वर्ग चेतना की नितान्त अभाव होता है, कई बार गरीबी और अमानवीकरण के कारण आपराधिक और बर्बरता की प्रवृत्तियाँ होती हैं। इन्हीं गुणों के कारण फ्रासीवादी ताकतें मजदूर आबादी के इस हिस्से का इस्तेमाल का विनियोजन कर पाती हैं। **लेकिन ऐसा नहीं है कि इस आबादी को संगठित करने के प्रयास नहीं किये जा सकते हैं। वास्तव में, मजदूर वर्ग के एक अच्छे-खासे हिस्से में फ्रासीवादी राजनीति कम्युनिस्टों की असफलता और गलत कार्यपद्धति के कारण ही जगह बना पाती है।** जैसा कि टिम मेसन ने दिखलाया है कि अनौपचारिक/असंगठित मजदूर वर्ग के एक हिस्से में नात्सी पार्टी ने जर्मनी में अपना आधार बनाया था और इसका बहुत बड़ा कारण था जर्मन सामाजिक जनवादी आन्दोलन और ट्रेड यूनियन आन्दोलन का संगठित/औपचारिक मजदूर वर्ग तक सीमित रह जाना।

आज यह अनौपचारिक/असंगठित मजदूर वर्ग कुल मजदूर वर्ग का 93 प्रतिशत है और यह मजदूर वर्ग 1930 के दशक के असंगठित मजदूर वर्ग के समान पिछड़ा नहीं है। इस पूरे वर्ग में आज भारत के फ्रासीवादियों ने आधार बनाने के नये तरीके निकाले हैं। जागरण, चौकी आदि जैसे धार्मिक कार्यक्रमों का आयोजन कराकर धर्म और पुरानी धार्मिक परम्पराओं के आधार पर एक समुदाय की रचना करना; इसके अलावा, दुर्गा पूजा, सरस्वती पूजा आदि के आयोजन के लिए मित्र मण्डलों का निर्माण करना, आदि। इसके साथ ही संघ परिवार पुराने कारपोरेटवादी तरीकों का इस्तेमाल भी कर रहा है और उन्हें उन्नत भी कर रहा है। मिसाल के तौर पर, तमाम मजदूर इलाकों में 'सेवा भारती' के नाम से तमाम सुधारवादी और एन.जी.ओ.-मार्क उपक्रम चलाये जा रहे हैं। इनमें महिलाओं को सिलाई-कढ़ाई सिखाने आदि से लेकर बच्चों को पढ़ाने तक के कार्य किये जा रहे हैं। इसके अलावा एक अन्य उदाहरण है जिसे मजदूर इलाकों में कई 'कमेटी डालने' के नाम से जाना जाता है। ये वास्तव में एक 'फण्ड पूल' होता है जिसका प्रयोग मजदूर आबादी के जीवन की आर्थिक अनिश्चितता में कुछ कमी लाने के लिए किया जाता है, हालाँकि इससे भ्रम ज़्यादा

पैदा होता है और वास्तव में मजदूरों के जीवन में कोई विशेष फ़र्क नहीं आता। ज़ाहिर है, इन कार्रवाइयों के साथ-साथ लोगों की चेतना का फ़ासीवादीकरण करने का कार्य भी किया जाता है।

लेकिन यहाँ सबसे अहम बात यह है कि मजदूर वर्ग के इन संस्तरों में फ़ासीवादी ताक़तें आम तौर पर इसी लिए सामाजिक आधार बनाने में सफल होती हैं क्योंकि वहाँ क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ताक़तें या तो पहुँच ही नहीं पातीं या फिर उनकी उपस्थिति जिस रूप में होनी चाहिए उस रूप में नहीं होती। जर्मनी में सामाजिक जनवादी शक्तियों के साथ-साथ कम्युनिस्टों की भी एक भारी ग़लती यह थी कि संगठित मजदूर आबादी के बाहर मजदूर वर्ग को संगठित करने के उनके प्रयास नगण्य थे। अफ़सोस की बात यह है कि अधिकांश देशों में इतिहास से कम्युनिस्ट ताक़तों ने कोई सबक नहीं लिया है। अभी भी उनकी ताक़तों का बड़ा हिस्सा संगठित मजदूर आबादी के बीच ही लगा हुआ है, जो कि पूरे मजदूर वर्ग का अब छोटा सा हिस्सा रह गया है। भारत के भीतर भी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट संगठनों की बड़ी ताक़त या तो मजदूर आबादी से ही दूर हैं क्योंकि वे भारत को एक अर्द्धसामन्ती अर्द्धऔपनिवेशिक देश मानते हैं और अपने इस पुराने पड़ चुके कार्यक्रम में बदलाव करने को ही मार्क्सवाद-लेनिनवाद से ग़द्दारी मानते हैं। ऊपर से वे यह भी नहीं समझते कि नवजनवादी क्रान्ति की मंज़िल में भी मजदूर वर्ग ही नेतृत्वकारी ताक़त होता है; किसान वर्ग केवल मुख्य ताक़त होता है। इसके अलावा, मोदी सरकार द्वारा हाल ही में किये गये जाति सर्वेक्षण के दौरान पता चला है कि गाँव की आबादी का भी आधे से ज़्यादा गैर-कृषि रोज़गार में लगा हुआ है और आबादी का जो हिस्सा कृषि में लगा भी है उसमें से अधिकांश ज़मीन के मालिक नहीं हैं और खेतिहर मजदूर हैं! ऐसे में, नवजनवादी क्रान्ति का कार्यक्रम किस रूप में प्रासंगिक है? ‘जो ज़मीन को जोते-बोए वह ज़मीन का मालिक होए’ नारा किस रूप में प्रासंगिक है? और तो और ताज़्जुब की बात यह है कि नवजनवादी क्रान्ति को मानने वाले तमाम “वामपन्थी” दुस्साहसवाद और क्रान्तिकारी आतंकवाद की लाइन के शिकार ये संगठन गाँवों में खेतिहर आबादी में भी अपनी पकड़ अधिकांश प्रदेशों में खो चुके हैं। अब कुल मिलाकर उनका आधार मध्य भारत के कुछ जनजातीय क्षेत्रों में रह गया है, जहाँ ‘आदिम संचय’ की प्रक्रिया के जरिये कारपोरेट पूँजीवाद जनजातीय आबादी को उजाड़ रहा है। इनका मानना है कि भारत का पूँजीपति वर्ग एक दलाल पूँजीपति वर्ग है। ऐसे में उन्हें यह नहीं मानना चाहिए कि भारत में फ़ासीवाद का उभार हो रहा है। दलाल पूँजीपति वर्ग प्रतिक्रियावादी होता है

और उसका प्रतिक्रियावाद कई रूप ले सकता है। लेकिन दलाल पूँजीपति वर्ग प्रकृति से ही इस बात में अक्षम होता है कि उसका प्रतिक्रियावाद एक फ़्रासीवादी सामाजिक आन्दोलन का रूप ले सके। फ़्रासीवाद औद्योगिक और वित्तीय बड़े पूँजीपति वर्ग की सेवा करने वाला टटपुँजिया वर्ग का प्रतिक्रियावादी रूमानी उभार होता है। ऐसा प्रतिक्रियावादी रूमानी उभार किसी दलाल या कठपुतली पूँजीपति वर्ग के नेतृत्व में नहीं हो सकता है। नवजनवादी क्रान्ति की लाइन पर अटके हुए इन कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के लिए फ़्रासीवादी उभार की विवेचना करने का अर्थ है असमाधेय और मज़ाकिया अन्तरविरोधों के गड्ढे में जा गिरना। ख़ैर, इन तमाम नवजनवादी क्रान्ति मानने वालों और 'टाइम कैप्सूल' में कैद रह गये कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के बारे में जितना कम कहा जाये उतना अच्छा है।

लेकिन इससे भी ज़्यादा आश्चर्य की बात तो यह है कि समाजवादी क्रान्ति मानने वाले तमाम क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट संगठन भी ऐसे हैं जिनका मानना है कि कम्युनिस्टों को उन्नत और बड़े उद्योगों में लगे संगठित मज़दूरों पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए क्योंकि वही मज़दूर आबादी का उन्नत हिस्सा है! यानी कि उनके अनुसार 93 प्रतिशत असंगठित/अनौपचारिक मज़दूर आबादी उन्नत नहीं है, पिछड़ी हुई है, वर्ग चेतना से लैस नहीं है, वगैरह! यह वास्तव में कम्युनिस्ट आन्दोलन का एक पूर्वाग्रह है जो अतीत के एक खास दौर में पैदा हुआ था। वैसे तो यह पूर्वाग्रह उस दौर में भी निहायत ग़लत था मगर आज तो यह भयंकर रूप से नुक़सानदेह है। आज की असंगठित/अनौपचारिक मज़दूर आबादी पहले के समान नहीं है। यह वर्ग चेतना से लैस है या उसमें वर्ग चेतना से लैस होने की सम्भावनासम्पन्नता मौजूद है; यह आबादी क्रान्तिकारी राजनीतिक वर्ग चेतना की दिशा में अपेक्षाकृत ज़्यादा सहजता से विकसित हो सकती है क्योंकि यह एक वर्ष में ही कई बार कई मालिकों के मातहत काम करती है और इसलिए किसी एक मालिक को अपने शत्रु के तौर पर नहीं देखती, बल्कि मालिकों के पूरे वर्ग को अपने शत्रु के तौर पर देखती है। यह आबादी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में राज्यसत्ता के दमनकारी निकायों का भी सामना करती है और इसके अन्दर नैसर्गिक तौर पर एक व्यवस्था-विरोधी भावना होती है। यह आबादी उन्नत मशीनों व तकनोलॉजी पर कार्य करने अनुभव रखती है और साथ ही बहुकुशल होती है। इस करोड़ों-करोड़ की और ज़बरदस्त क्रान्तिकारी सम्भावनाओं से लैस अनौपचारिक/असंगठित मज़दूर आबादी को "पिछड़ा", "आदिम" आदि मानना भयंकर भूल है। इसलिए भी यह भयंकर भूल है कि अगर क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन इस व्यापक मज़दूर आबादी को संगठित

नहीं करता तो निश्चित तौर पर इसका एक हिस्सा फ़ासीवाद के पाले में जायेगा और फ़ासीवादी ताक़तों के उपकरण में तब्दील होगा। इसलिए इस मज़दूर आबादी के बीच ट्रेड यूनियन आन्दोलन खड़ा करने के साथ-साथ क्रान्तिकारी सुधार कार्य और क्रान्तिकारी सांस्कृतिक कार्य को संस्थाबद्ध रूप से करना आज क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन के सामने एक अस्तित्व का प्रश्न बन गया है।

इस अस्तित्व के प्रश्न के समाधान में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट संगठनों में व्याप्त एक और प्रवृत्ति भी भारी बाधा बनती है। यह प्रवृत्ति है स्वतःस्फूर्ततावाद और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद की प्रवृत्ति। कई ऐसे संगठनों का तर्क है कि मज़दूर आन्दोलन के प्रतिरोध की नयी रणनीतियों को निकालने का काम मज़दूर वर्ग स्वयं करेगा और क्रान्तिकारी पार्टी का कार्य महज उन नयी रणनीतियों को थोड़ा और सुसंगत रूप देना होगा! यह एक पुछल्लावाद (tailism) की प्रवृत्ति है और आज के दौर में जबकि मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी हिरावल पार्टी के संस्थाबद्ध हस्तक्षेप और भी ज़्यादा शिद्दत के साथ ज़रूरत है, उस समय इस प्रकार के विचार ख़ास तौर पर नुक़सान पहुँचा रहे हैं। मारुति मज़दूर आन्दोलन में मज़दूरों के बीच 'सहयोग केन्द्र' चलाने वाले एक संगठन के ज़रिये ऐसे रुझान का हावी होना इस आन्दोलन की असफलता का सबसे बड़ा कारण बना। बजाय आन्दोलन को सचेतन तौर पर राजनीतिक नेतृत्व देने के यह संगठन उसे कभी खाप पंचायतों तो कभी संशोधनवादियों की ट्रेड यूनियनों के गलियारों में घुमाता रहा और अन्ततः उसे थका कर हरा दिया।

बहरहाल, मज़दूर वर्ग के इन विभिन्न हिस्सों के बीच फ़ासीवादी ताक़तों द्वारा आधार बनाने के प्रयासों को विफल करने और उनके बीच क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन का आधार तैयार करने के लिए क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन को अपने पुराने पड़ चुके विश्लेषण को और पूर्वाग्रहों को त्यागना होगा और नये रचनात्मक तरीक़े से मज़दूर वर्ग के बीच क्रान्तिकारी कार्य को अंजाम देना होगा। और इस पूरे कार्य में अनौपचारिक/असंगठित मज़दूर वर्ग के बीच में विशेष ज़ोर दिये जाने की ख़ास अहमियत है।

फ़ासीवाद और किसान आबादी

भारत के फ़ासीवादी कई मामलों में अपने जर्मन व इतालवी पिताओं से ज़्यादा सयाने साबित हुए हैं। मगर कई मामलों में वे उनसे काफ़ी पीछे भी साबित हुए हैं। उनमें से एक मामला है इस बात की ज़रूरत को समझना कि भारत में फ़ासीवादी उभार

को थोड़ा टिकाऊ बनाने के लिए टटपुँजिया ग्रामीण आबादी व किसान आबादी में पकड़ बनाना बेहद ज़रूरी है। बीसवीं सदी में यूरोप में कई देशों में फ़्रासीवादी आन्दोलन पैदा हुआ। लेकिन हर जगह वह विजयी नहीं हो सका। आनुभविक तौर पर देखें तो हम पाते हैं कि जिन देशों में भी फ़्रासीवादी आन्दोलन टटपुँजिया किसान आबादी और ग्रामीण पूँजीपति वर्ग के ठीक-ठाक हिस्से में पकड़ नहीं बना सका, वहाँ-वहाँ वह एक राष्ट्रीय पैमाने का आन्दोलन बनने में असफल रहा। मिसाल के तौर पर, फिनलैण्ड कालापुआ आन्दोलन (1929-32) और पैट्रियोटिक नेशनल मूवमेण्ट (1932-44)। यही हाल स्वीडन और नॉर्वे के फ़्रासीवादी आन्दोलनों का हुआ। जर्मनी और इटली में फ़्रासीवादी आन्दोलन के सफल होने का एक बहुत बड़ा कारण था उसका कुलकों और युंकरों, यानी कि धनी किसानों और पूँजीवादी भूस्वामियों के साथ मज़बूत गठजोड़।

भारत में संघ परिवार की राजनीति की गाँवों में पकड़ ऐतिहासिक तौर पर कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकांश क्षेत्रों में बेहद कमज़ोर रही है। इसका एक कारण तो यह है कि भारत में फ़्रासीवादी नेतृत्व स्वयं इस बात को समझने में काफी समय तक असफल रहा। तो दूसरी ओर इसका दूसरा कारण यह भी है कि भारत में एक विशिष्ट किस्म की कुलक राजनीति का वर्चस्व भी इसमें आड़े आता रहा, जो कभी कांग्रेस के करीब रही, कभी समाजवादियों के करीब तो कभी इनसे बराबर दूरी बनाकर कुछ समय के लिए अपनी स्वायत्तता बनाये रही। लेकिन चरण सिंह-ब्राण्ड कुलक राजनीति का अब भारतीय राजनीति के परिदृश्य में कोई विशेष स्थान नहीं रह गया है। इसके ऐतिहासिक और राजनीतिक कारण हैं। नवउदारवादी नीतियों के दौर में संरक्षण करने के लिए उसके पास बहुत-सी सहूलियतें रह नहीं गयी हैं! नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के दौर में अधिशेष विनियोजन में ग्रामीण पूँजीपति वर्ग के हिस्से में सापेक्ष गिरावट आयी है। भारतीय राजनीति के दृश्यपटल से इस क्लासिकीय कुलक राजनीति के प्रस्थान के साथ एक खाली जगह पैदा हुई है। संघ परिवार के विचारकों ने इस दफ़ा अपनी कमी को पकड़ा है और इस खाली जगह को भरने के योजनाबद्ध षड्यन्त्र को अंजाम देना शुरू किया है।

गत चुनावों में भाजपा-नीत राजग गठबन्धन के विजय का एक बहुत बड़ा कारण उत्तर प्रदेश और बिहार में हुई सीटों की बढ़ोत्तरी था। अगर हम उत्तर प्रदेश और बिहार में हुई बढ़ोत्तरी को हटा दें तो हम पाते हैं कि भाजपा के लिए सामान्य बहुमत तक पहुँचना भी मुश्किल हो जाता। उत्तर प्रदेश में ग्रामीण क्षेत्रों में साम्प्रदायिक तनाव फैलाकर फ़्रासीवादी गोलबन्दी करना और विशेष तौर

पर पश्चिमी उत्तर प्रदेश और हरियाणा के जाट-बहुल क्षेत्रों के साम्प्रदायिकीकरण के काम को योजनाबद्ध तरीके से अंजाम देना भाजपा के लिए काफ़ी फ़ायदेमन्द रहा। किसान राजनीति करने वाली तमाम ताकतें आज कुलक वर्ग और धनी किसान वर्ग को अधिशेष में हिस्सा बढ़ाने में कोई विशेष सहायता नहीं कर सकती हैं; साथ ही, तमाम क्रिस्म की राजकीय सहायता जो कुलक व धनी किसान वर्गों को उपलब्ध थी, उनमें भी लगातार कटौती हुई है। यह सच है कि किसान आबादी को पूँजीवादी राज्य द्वारा आज जो भी थोड़ा-बहुत दिया जा रहा है वह सब कुलकों और धनी किसानों को ही मिलता है। मगर यह भी सच है कि वित्तीय, औद्योगिक और वाणिज्यिक पूँजीपति वर्ग को मिल रहे तोहफ़ों की तुलना में यह कुछ ख़ास नहीं है। निश्चित तौर पर, इसमें हमें ज़्यादा चिन्तित होने की ज़रूरत नहीं है क्योंकि यह बड़े और छुटभैये लुटेरों का आपसी झगड़ा है।

कृषि व कृषि-सम्बन्धित क्षेत्रों में कारपोरेट घरानों के प्रवेश के साथ भी पुराने पूँजीवादी भूस्वामियों और साथ ही धनी काश्तकार किसान वर्ग के एक छोटे-से हिस्से का तो कारपोरेट सहयोजन हो गया, मगर दूसरे हिस्से को अपने ग्रामीण वर्चस्व के लिए खतरा महसूस हो रहा है। आज भारतीय कृषि जिस पूँजीवादी संकट का शिकार है, वह असुरक्षा और अनिश्चितता के माहौल को और भी बढ़ा रहा है। नतीजतन, एक अलग रूप में उच्च मध्यम और धनी काश्तकार किसानों और साथ ही पूँजीवादी भूस्वामियों के बीच भी फ़्रासीवादी प्रतिक्रिया की ओर आकृष्ट होने की ज़मीन पैदा हुई। वैसे भी इस वर्ग में हमेशा से ही एक फ़्रासीवादी सम्भावनासम्पन्नता थी, जिसका इस्तेमाल समय-समय पर समाजवादी व अन्य ब्राण्ड की कुलक राजनीति ने किया था। इस सम्भावना को हम गाँवों में मौजूद खाप पंचायतों और अन्य ऐसे निकायों में साफ़ तौर पर देख सकते हैं। अब इसी सम्भावना को वास्तविकता में तब्दील करने का कार्य संघ परिवार और भाजपा की राजनीति कर रही है। ये ग्रामीण पूँजीपति और टटपूँजिया वर्ग अपनी वर्ग प्रवृत्ति से ही जनवाद-विरोधी, आधुनिकता-विरोधी (मगर आधुनिक!), ग़रीब-विरोधी, जातिवादी, पितृसत्तावादी और निरंकुश हैं। इन सारी प्रवृत्तियों के फ़्रासीवादी विनियोजन में संघ परिवार और भाजपा को बहुत ज़्यादा मेहनत नहीं करनी पड़ेगी। एक तरह से कह सकते हैं कि इन प्रतिक्रियावादी वर्गों की यह सम्भावना-सम्पन्नता वस्तुतः कई दशकों से फ़्रासीवादी विनियोजन की ही प्रतीक्षा कर रही थी! क्लासिकीय कुलक राजनीति के प्रस्थान के साथ यह प्रतीक्षा समाप्त हो गयी।

इसलिए आज यह समझना भी बेहद अहम हो गया है कि अगर गाँवों

में हम फ़्रासीवादी गोलबन्दी और आन्दोलन के बरक्स ग्रामीण ग़रीबों के क्रान्तिकारी संगठन नहीं खड़े करते, तो आने वाले समय में हम एक भयंकर संकट के सामने खड़े होंगे। बल्कि इस कार्यभार में पहले ही कुछ देर हो चुकी है। अभी से ही गाँवों नौजवानों के क्रान्तिकारी संगठन, जातितोड़क संगठन, ग्रामीण मज़दूरों की यूनियन, खेतिहर मज़दूरों की यूनियन बनाने के साथ-साथ ग़रीब और परिधिगत किसानों के संगठन भी बनाने होंगे। ताज़ा आँकड़े बता रहे हैं कि ये वर्ग आज गाँवों में बहुसंख्यक हैं। मगर वे स्वयं ही क्रान्तिकारी गोलबन्दी नहीं कर सकते हैं। वहाँ क्रान्तिकारी अभिकर्ता की और भी ज़्यादा ज़रूरत है। ऐसे में, क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों को गाँवों भी अपने क्रान्तिकारी जनसंगठनों का नेटवर्क तैयार करने और अपना व्यापक सामाजिक आधार बनाने पर कार्य करना होगा और इसमें ज़रा भी देर नहीं करनी होगी।

फ़्रासीवादी प्रचार की विशिष्टता और उसके सटीक जवाब की चुनौती

जैसा कि हमने ऊपर देखा, फ़्रासीवादी प्रचार और गोलबन्दी के आम तौर पर और राष्ट्रीय तौर पर सफल होने के पीछे तमाम क्रिस्म के शहरी और ग्रामीण टटपुँजिया वर्गों में इसकी सफलता अनिवार्य रही है और आज भी अनिवार्य है। मगर हम जिन वर्गों की बात कर रहे हैं वे बेहद भिन्न प्रकृति और प्रवृत्तियों के हैं; उनकी आकांक्षाएँ, उनके वर्ग हित, उनकी संस्कृति आपस में एकदम तुलनीय नहीं प्रतीत होती। **वर्गों के इस वैविध्यपूर्ण समुच्चय में फ़्रासीवादी राजनीति अपना आधार किस प्रकार तैयार करती है? फ़्रासीवादी संगठन अपने प्रचार को किस प्रकार इन विभिन्न प्रकार के वर्गों के बीच प्रभावी बनाते हैं?** निश्चित तौर पर, इसमें कुछ भूमिका इन वर्गों के वस्तुगत चरित्र और प्रकृति की भी है। मसलन, तमाम टटपुँजिया वर्गों और विशेष तौर पर तमाम क्रिस्म के लम्पटीकृत वर्गों, चाहे वह टटपुँजिया वर्ग हों या फिर मज़दूर वर्ग, में अपने वर्ग हितों को समझ पाने की क्षमता ठीक अपनी सामाजिक-आर्थिक अवस्थिति के कारण बेहद कम होती है, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं। इन वर्गों के बीच एक मिथ्या शत्रु को तैयार करना, इसकी प्रतिक्रियावादी गोलबन्दी करना और इसे पूँजीपति वर्ग की नग्न और बर्बर तानाशाही का उपकरण बनाना अपेक्षाकृत आसान होता है। मगर सिर्फ़ इस वस्तुगत प्रकृति को समझना पर्याप्त नहीं है क्योंकि इन्हीं वर्गों के एक अच्छे-खासे हिस्से को क्रान्तिकारी प्रचार से जीता भी जा सकता

है। इसलिए फ़्रांसीसीवादी प्रचार की विशिष्टता और उसकी कार्यप्रणाली को समझना उसे निष्फल बनाने के लिए बेहद ज़रूरी है।

इस बाबत जो बात सबसे अहम है वह यह है कि हम फ़्रांसीसीवादी प्रचार की एक स्वच्छन्द प्रकार की अनुकूलनीयता (adaptability) या लचीलेपन को समझें। क्रान्तिकारी प्रचार कार्य का मक़सद होता है आम मेहनतकश जनता के बीच पूँजीवादी व्यवस्था और उनकी ज़िन्दगी की दुर्वस्था के सच को उजागर करना। ऐसा 123 प्रचार तर्क और विज्ञान पर आधारित ही हो सकता है क्योंकि उसे एक वस्तुगत यथार्थ को सामने लाना है। वह सिद्धान्तहीन नहीं हो सकता है। न ही वह विज्ञान और तर्क से रिक्त हो सकता है। वह व्यवहारवादी तरीके से किसी भी चीज़ का और हर चीज़ का इस्तेमाल नहीं कर सकता है। लेकिन फ़्रांसीसीवादी प्रचार कार्य के सामने ऐसी कोई बाध्यता नहीं होती है। उसे जनता के सामने एक मिथ्या शत्रु पैदा करना होता है; उसे जनता को एक अन्धभक्ति (fetish) की राजनीतिक वस्तु प्रदान करनी होती है जिससे कि जनता अपने जीवन के हालात के सच्चे कारणों और उसके लिए ज़िम्मेदार ताक़तों को न समझ पाये। यह 'फेटिश' उसे नात्सी पार्टी ने यहूदी-विरोध व अन्य अल्पसंख्यकों के विरोध के रूप में दी, भाजपा और संघ परिवार की राजनीति यह 'फेटिश' उसे मुसलमान व इस्लाम के प्रति नफ़रत के रूप में देते हैं, फ़्रांसीसी फ़्रांसीसीवादी इस 'फेटिश' को प्रवासी-विरोध के रूप में पेश करते हैं। जब पूरी फ़्रांसीसीवादी राजनीतिक प्रचार ही मिथकों को सामान्य बोध (Common Sense) के रूप में स्थापित करने और मिथ्या चेतना तैयार करने पर आधारित होता है, तो ज़ाहिर है उसके हाथ दाँव-पेच के लिए ज़्यादा खुले होते हैं। उसे किसी भी क्रिस्म के सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं होती। **प्रतिक्रियावादी व्यवहारवाद ही उसका सिद्धान्त होता है।** वैसे हर प्रकार की व्यवहारवादी राजनीति में, चाहे वह ड्यूईवादी या अम्बेडकरवादी राजनीति का "प्रगतिशील व्यवहारवाद" (?) ही क्यों न हो, दक्षिणपन्थी रास्ता पकड़ लेने की सम्भावना हमेशा मौजूद होती है। आज अम्बेडकरवादी राजनीति जिस नंगे तरीके से शासक वर्गों की गोद में बैठी है वह अम्बेडकर की राजनीति से कोई प्रस्थान या विचलन नहीं है, जैसा कि तमाम उदार अम्बेडकरवादी और विशेष तौर पर वामपन्थी अम्बेडकरवादी सोचते हैं। यह अम्बेडकर की व्यवहारवादी राजनीति का तार्किक निर्वाण है। ऐसी व्यवहारवादी राजनीति अपने उद्गम से ही इस संयोग (contingency) पर निर्भर थी कि उसके शीर्ष पर कौन है। हो सकता है कि अम्बेडकर जैसे किसी नेता की मौजूदगी में वह दक्षिणपन्थी प्रतिक्रियावाद तक नहीं जाये,

मगर इस प्रकार की व्यवहारवादी राजनीति में अपने आपमें ऐसा कुछ नहीं है जो उसे धुर दक्षिणपन्थ के साथ खड़ा होने से रोक दे।

बहरहाल, फ़ासीवादी राजनीति की सबसे अहम ख़ासियत होती है उसकी स्वच्छन्द, बल्कि मार्क्सवादी विश्लेषक ज्यॉफ एली के शब्दों का प्रयोग करें तो, कामुक क्रिस्म की अनुकूलनीयता (promiscuous adaptability)। यह हर चीज़ को फ़ासीवादी राजनीति के हितों के अनुसार सहयोजित कर सकती है क्योंकि इसे प्रतिक्रियावादी व्यवहारवाद के अलावा किसी सिद्धान्त से बँधे होने की आवश्यकता नहीं होती है। एक ऐसे क्रिस्म का प्रचार अनगिनत क्रिस्म के आकारहीन और दिशाहीन सामाजिक असन्तोषों को अपने में समेट लेने की क्षमता होती है। कारण यह है कि फ़ासीवादी प्रचार वास्तव में एक साथ इन तमाम अस्पष्ट सामाजिक असन्तोष के शिकार वर्गों को हरेक चीज़ देने, मगर वास्तव में, कुछ भी नहीं देने का वायदा करते हैं। फ़ासीवादी विचारधारा और राजनीति अपनी इस प्रचार पद्धति के ज़रिये एकदम असमान प्रकार के, असम्बद्ध प्रकार के और अक्सर आपस में अन्तरविरोधी क्रिस्म के असन्तोषों, आकांक्षाओं और सपनों को एक सर्वसमावेशी या कहें सर्वसत्तावादी क्रिस्म के लोकरंजक राजनीतिक ढाँचे में सम्मिलित कर लेते हैं। यह क्षमता एक हद तक हर दक्षिणपन्थी लोकरंजक राजनीति में होती है, जैसे कि 'आम आदमी पार्टी' की राजनीति। मिसाल के तौर पर, कुछ समय पहले तक दिल्ली के टटपुँजिया व्यापारियों, धनी व्यापारियों व दुकानदारों, ठेकेदारों, प्रापर्टी डीलरों के साथ-साथ छोटी-मोटी नौकरी करने वाली निम्न मध्यवर्गीय आबादी, झुग्गीवासियों, लम्पट सर्वहारा आबादी और यहाँ तक कि औद्योगिक मजदूर वर्ग के भी एक हिस्से को यह लग रहा था कि आम आदमी पार्टी का "भ्रष्टाचार-विरोधी धर्मयुद्ध" उन सबकी सभी समस्याओं का समाधान कर देगा! लेकिन इस प्रकार के यूटोपियाई राजनीति के मुकाबले संघ परिवार का प्रतिक्रियावादी यूटोपिया ज़्यादा मज़बूत है क्योंकि वह शुद्ध रूप से फन्तासी है! फ़ासीवादी प्रचार सच्चाई से जितना दूर और जितना रूमानी फन्तासी के करीब होता है, उतना प्रभावी होता है। इसी के ज़रिये वह जनसमुदायों विशेषकर टटपुँजिया जनसमुदायों के भीतर मौजूद प्रतिक्रियावादी सम्भावना को वास्तविकता में तब्दील कर सकता है। यही कारण है कि भाजपा की राजनीति भारतीय पूँजीवादी राजनीति की कहीं ज़्यादा स्थायी परिघटना है, बनिस्बत 'आम आदमी पार्टी' की राजनीति के जिसे कालान्तर में या तो विसर्जित हो जाना है या फिर यह छोटी नाली अन्त में संघ परिवार की राजनीति के बड़े गन्दे नाले में आकर मिलने वाली है।

ख़ैर, मूल बात यह है कि फ़्रासीवादी राजनीति की प्रचार पद्धति में यह ख़ासियत होती है कि यह एकदम अतुलनीय अस्पष्ट व आकारहीन सामाजिक असन्तोषों, आकांक्षाओं और सपनों को एक सर्वसत्तावादी और सर्वसमावेशी आमूलगामी यूटोपिया में सम्मिलित कर लेती है या सोख लेती है। नात्सी पार्टी का यूटोपिया जर्मन जनता/नस्ल का एक शुद्ध श्रेष्ठ विचारधारात्मक समुदाय था और भाजपा और संघ परिवार के लिए यह हिन्दुत्ववादी शासन या “रामराज्य” है। (‘विचारधारात्मक’ इस रूप में कि वास्तव में ऐसा कोई समुदाय कभी नहीं था और इसे विशेष वर्ग हितों के मद्देनजर काल्पनिक और मिथकीय तौर पर गढ़ा जाता है) यहाँ अतीत के और परम्परा के आविष्कार और मिथकीकरण को और फिर इन मिथकों को सामान्य बोध के तौर पर अत्यधिक दुहरावपूर्ण प्रचार के द्वारा स्थापित करने की प्रक्रिया को समझना बेहद ज़रूरी है। यह अनायास नहीं है कि भारत की फ़्रासीवादी ताक़तें ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों, विज्ञान, कला, साहित्य, सिनेमा आदि में भगवा मिथकीकरण की एक पूरी प्रक्रिया चला रहे हैं। यह प्रक्रिया एक शुद्ध श्रेष्ठ विचारधारात्मक हिन्दू समुदाय के निर्माण के लिए आवश्यक है। यह कोई अलग-थलग घटना नहीं है। न ही यह फ़्रासीवादी अपनी अज्ञानता मात्रा के कारण कर रहे हैं। फ़्रासीवादियों के साथ इतिहास में भी अपने दौर की कुछ श्रेष्ठ मेधाएँ थीं और आज भी हैं। इनमें तमाम वैज्ञानिक भी हैं, कलाकार भी हैं। ऐसे में, हमें कला और विज्ञान के क्षेत्र में किये जा रहे भगवा मिथकीकरण को सम्पूर्ण फ़्रासीवादी राजनीतिक एजेण्डे के अंग के तौर पर समझना चाहिए। तभी इन प्रयासों का सफल विरोध किया जा सकता है। आज एन.सी.ई.आर.टी., इतिहास अनुसन्धान परिषद्, भारतीय फ़िल्म व टेलीविजन संस्थान, आदि के साथ जो दुराचार संघ परिवार कर रहा है, वह भी केवल अज्ञान या पिछड़ेपन के कारण नहीं है। यह समूचे फ़्रासीवादी राजनीतिक एजेण्डा का अभिन्न अंग है।

अब प्रश्न यह उठता है कि कम्युनिस्ट प्रचार फ़्रासीवादी प्रचार के इस ख़तरनाक क्रिस्म के लचीलेपन का मुक़ाबला किस प्रकार करे? ज़ाहिर है, जो बात कोई भी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट स्वतः ही समझ सकता है वह यह है कि कम्युनिस्टों को हमेशा जनता के जनसमुदायों को उनके जीवन की ठोस भौतिक, सामाजिक और आर्थिक माँगों के लिए लगातार गोलबन्द और संगठित करना चाहिए, उन्हें यह समझाना चाहिए कि उनके जीवन में ये समस्याएँ क्यों हैं और उनके लिए कौन ज़िम्मेदार है। लेकिन क्या इतना ही काफ़ी है? नहीं! हमारे विचार में इस सन्दर्भ में सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन की पूरी अवधारणा को समझना

बेहद जरूरी है।

क्रान्तिकारी शक्तियों को आज सर्वहारा वर्ग और जनता के संघर्षों के गौरवशाली अतीत से सघनता के साथ और रोचक तरीके से परिचित कराया जाना चाहिए। जनता के विभिन्न हिस्सों में प्राचीन भारत की तमाम प्रगतिशील और भौतिकवादी परम्पराओं का प्रचार करना चाहिए। **प्राचीन भारत, यानी कि हमारे देश के सुदूर अतीत पर फ़ासीवादियों को अपना एकाधिकार या दावा स्थापित नहीं करने देना चाहिए।** वास्तव में, प्राचीन भारत के सच्चे इतिहास को देखें तो उस पर फ़ासीवादी दावा स्थापित होने योग्य ज़्यादा चीज़ें संघ परिवार को मिलेंगी भी नहीं! यही कारण है कि प्राचीन भारत की तमाम प्रगतिशील और भौतिकवादी परम्पराओं का भी संघ परिवार विकृतिकरण करके उसे अपने एजेण्डा में शामिल करने का प्रयास करता रहता है। मिसाल के तौर पर, योग की परम्परा। जब योग दिवस मनाने की नौटंकी चल रही थी तो बहुत से मार्क्सवादियों ने योग की पूरी परम्परा और आनुभविक विज्ञान के भगवा विनियोजन पर प्रश्न खड़ा करने और उसे बेनकाब करने की बजाय योग पर ही प्रश्न करना या उसका मखौल बनाना शुरू कर दिया। यह तरीका वास्तव में भगवा ताक़तों को ही फायदा पहुँचा रहा था। साथ ही, मध्यकालीन भारत और आधुनिक भारत की ऐसी कई जनपक्षधर परम्पराएँ, बुद्धिजीवी, लेखक, वैज्ञानिक हैं जिनकी प्रगतिशील विरासत से भारत का आम जनमानस अपरिचित है। हम अगर उन्हें अपने सर्वहारा पुनर्जागरण का अंग नहीं बनाते, उन्हें अपने क्रान्तिकारी सांस्कृतिक प्रचार और कार्य का अंग नहीं बनाते तो वास्तव में फ़ासीवादी ताक़तों को समूचे भारतीय अतीत के ही भगवा विनियोजन का अवसर देते हैं। साथ ही, हमें इस सर्वहारा पुनर्जागरण का अंग महज़ भारत की अतीत की प्रगतिशील और जनपक्षधर परम्पराओं को नहीं बनाना चाहिए, बल्कि पूरी दुनिया की भौतिकवादी, प्रगतिशील और जनपक्षधर परम्पराओं, कला, साहित्य और विज्ञान को भी इसका एक हिस्सा बनाना चाहिए। सर्वहारा पुनर्जागरण का यही अर्थ है – दुनिया भर में जनता की प्रगतिशील और भौतिकवादी परम्पराओं और व्यक्तित्वों से और इन परम्पराओं और व्यक्तित्वों के पश्चगामी और प्रतिक्रियावादी ताक़तों के विरुद्ध संघर्ष से जनता के जनसमुदायों का परिचय कराना। **यह हमारे अतीत के विषय में जनता के बीच एक ऐसी समझदारी विकसित कर सकता है जो कि उन्हें किसी कल्पित गौरवशाली अतीत की ओर देखते रहना या अतीतग्रस्त रहना नहीं बल्कि भविष्य की ओर देखना और एक बेहतर भविष्य का निर्माण करने के बारे में सिखाये।** निश्चित तौर पर, इस कार्य में बच्चों के मोर्चे की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका

है, जोकि पीढ़ी निर्माण के कार्य के लिए अनिवार्य है। साथ ही, इस कार्य को अंजाम देने के लिए क्रान्तिकारी साहित्य के प्रकाशन, क्रान्तिकारी नाट्य व संगीत मण्डली, फ़िल्म प्रोडक्शन हाउस, फ़िल्म क्लब समेत सामुदायिक रेडियो जैसे माध्यमों तक का इस्तेमाल करना होगा।

ज़ाहिर है कि केवल अतीत की इस तार्किक और वैज्ञानिक पेशगी से ही हमारे कार्यभार पूरे नहीं होते। भविष्य के सारे सवालों का जवाब अतीत की भौतिकवादी और प्रगतिशील परम्पराओं में भी नहीं मिल सकता है। भविष्य और वर्तमान के प्रश्नों के जवाब को तभी पूर्ण किया जा सकता है, जबकि उसमें नये के तत्व की भी पहचान सही तरीके से की जाये। इतिहास अपने आपको हूबहू दुहराता नहीं है, बल्कि हर बार उच्चतर स्तर पर दुहराता है। इसलिए नये के तत्व की पहचान ज़रूरी है। आज पूरी पूँजीवादी व्यवस्था जिस अन्तकारी संकट का शिकार है और इस मरणासन्न हालत में वह जिस प्रकार की सड़ी चीज़ें पैदा कर रही है उसे केवल अतीत के सन्दर्भ से नहीं समझा जा सकता है। इसलिए आज की साम्राज्यवादी-पूँजीवादी दुनिया के एक वैज्ञानिक-तार्किक विश्लेषण की ज़रूरत है जिससे कि इसकी ऐतिहासिकता को भी समझा जा सके, यानी कि निरन्तरता के तत्व को, और इसकी समकालीनता को भी समझा जा सके, दूसरे शब्दों में, परिवर्तन के तत्व को। यह दूसरा कार्यभार **सर्वहारा प्रबोधन** का कार्यभार है। निश्चित तौर पर, इस कार्यभार के लिए उन सभी माध्यमों के उपयोग की आवश्यकता होगी जिनकी हमने ऊपर चर्चा की है। साथ ही, मज़दूर वर्ग के एक राजनीतिक अख़बार की विशेष तौर पर आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त, छात्रों-युवाओं के बीच, स्त्रियों के बीच, युवा व ईमानदार बुद्धिजीवियों के बीच प्रचार हेतु भी तमाम मुखपत्रों की आवश्यकता होगी। इन तमाम मुखपत्रों को ज़्यादा से ज़्यादा बारम्बारता के साथ नियमित तौर पर निकालना सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन के कार्यभार को पूरा करने के लिए अनिवार्य है।

लेकिन सिर्फ़ इस व्यापक कार्यभार को समझ लेना पर्याप्त नहीं है। यह तो सामान्य राजनीतिक कार्यभार या यूँ कहें कि पहुँच (approach) और पद्धतिशास्त्र (methodology) के विषय में कुछ मोटी बातों को समझने के समान है। इसके अतिरिक्त, आज फ़्रासीवादी राजनीति की प्रचार पद्धति को निष्फल करने के लिए बहुत से अन्य पहलुओं को समझना अनिवार्य है। लेनिन की राजनीतिक पद्धति पर लिखते हुए एक जगह हंगेरियाई कम्युनिस्ट **ग्यॉर्गी लूकाच** ने लिखा था कि लेनिन के राजनीतिक व्यवहार से कम्युनिस्टों के सीखने के लिए जो अहम बात निकलती है वह यह है कि सर्वहारा राजनीतिज्ञ को अपने राजनीतिक वर्चस्व को स्थापित करने

और फिर उसकी हिफाजत करने की प्रक्रिया में दाँव-पेच में कभी भी अपने हाथ नहीं बाँधने चाहिए; उसे अपने दोनों हाथ खुले रखने चाहिए! दूसरे शब्दों में, सर्वहारा राजनीति को सिद्धान्त के मसलों को रणनीति के मसलों से और रणनीति के मसलों को रणकौशल के मसलों से गड़ड़-मड़ड़ नहीं करना चाहिए। चाहे वह मज़दूर आन्दोलन का प्रश्न हो, किसी ट्रेड यूनियन संघर्ष का प्रश्न हो, युवा मोर्चे पर किसी अभियान या आन्दोलन का प्रश्न हो या किसी भी अन्य मोर्चे पर ठोस ज़मीनी कार्रवाइयों का मसला हो, यदि कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी नेतृत्व में हैं तो उन्हें ठोस ज़मीनी कार्रवाइयों में फ़ासीवादी और अन्य प्रतिक्रियावादी ताक़तों से निपटने में ठोस व्यावहारिकता का परिचय देना चाहिए। ज़मीनी संघर्ष के दाँव-पेच में अपने हाथ किसी भी रूप में बाँधने नहीं चाहिए। यह एक बुनियादी शिक्षा है जो हमें विशेष तौर पर लेनिन के राजनीतिक व्यवहार से लेनी चाहिए।

तीसरी अहम बात जिसे समझना हमें ज़रूरी लगता है वह यह है कि किसी भी क्रिस्म की राजनीति का प्रचार किस हद तक प्रभावी होगा इसका निर्धारण करने वाला एक बहुत बड़ा कारक सामाजिक आधार होता है। जिस ताक़त का सामाजिक आधार जितना व्यापक और जितना गहरा होता है, उसके प्रचार की प्रभाविता और जनता के बीच उसकी स्वीकार्यता भी उतनी ही ज़्यादा होती है। फ़ासीवादी ताक़तें इस चीज़ पर पर्याप्त ज़ोर देती हैं कि वे तमाम निम्न मध्यवर्गीय और साथ ही मज़दूर इलाक़ों में अपने सामाजिक आधार को विस्तारित करें। इसके लिए वे तमाम संस्थाओं का निर्माण करते हैं, मसलन, मित्र मण्डल, पूजा समितियाँ, जिम आदि। अगर इतिहास में जायें तो हम पाते हैं कि रिहायशी इलाक़ों में सामाजिक आधार विकसित करने के लिए सुधार कार्य और सांस्कृतिक कार्य की परम्परा वास्तव में कम्युनिस्टों की थी; फ़ासीवादियों ने यह चीज़ उनसे ही सीखी थी। यह अनायास नहीं है कि इटली में फ़ासीवादी आन्दोलन का संस्थापक बेनितो मुसोलिनी पहले इतालवी समाजवादी पार्टी का सदस्य था। मगर अफ़सोस की बात है कि कम्युनिस्ट अपनी इस शानदार कार्यशैली को भूल गये और फ़ासीवादियों ने लगभग सभी देशों में और विशेष तौर पर हमारे देश में इस कार्यशैली को मज़बूती से अपना लिया। इस सूरत को बदले बग़ैर हम फ़ासीवाद के प्रतिरोध के कार्यभार को शायद ही पूरा कर पायें। कई दृष्टिकोणों और कई ज़रूरतों से हमें मज़दूरों और निम्न मध्यवर्गीय रिहायशी इलाक़ों में संस्थाबद्ध रूप से सुधार कार्य और सांस्कृतिक कार्य करने होंगे। जब क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी का तमाम मज़दूर बस्तियों और निम्न मध्यवर्गीय इलाक़ों में मज़बूत सामाजिक आधार होगा, तभी उनके क्रान्तिकारी प्रचार की प्रभाविता भी दूनी-चौगुनी

होगी। इसके बिना, सही तर्क और सही विज्ञान के बावजूद उसकी प्रभाविता को अधिकतम बनाना सम्भव नहीं होगा।

इसके अलावा, अन्य कई सहज समझे जाने वाले कारक हैं जिनका हम जिक्र नहीं कर रहे हैं। मिसाल के तौर पर, हरेक फ़्रासीवादी प्रचार के विरुद्ध क्रान्तिकारी ताकतों को प्रचार करना चाहिए और उसकी असत्यता को जनता के बीच उधाड़कर रख देना चाहिए। फ़्रासीवादियों के बीच व्याप्त अनैतिकता और भ्रष्टाचार को लगातार बेनकाब करना चाहिए क्योंकि फ़्रासीवादियों को अपनी राजनीति को सफल बनाने के लिए हमेशा एक आभा-मण्डल (aura) की आवश्यकता होती है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि पूरी की पूरी फ़्रासीवादी राजनीति दरअसल राजनीति का सौन्दर्यीकरण करती है। दूसरे शब्दों में फ़्रासीवादी राजनीति हमेशा अपने आपको स्वच्छता, नैतिकता, शुद्ध के पर्याय के तौर पर पेश करती है क्योंकि तभी किसी गौरवशाली और शुद्ध-बुद्धि अतीत पर उसका वैध दावा हो सकता है। इसीलिए आज व्यापम, ललित-गेट आदि जैसे खुलासों से फ़्रासीवादियों को काफ़ी नुक़सान पहुँच रहा है और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ कहीं न कहीं अपने आपको अपने चुनावी फ़्रण्ट भाजपा से इन मामलों में अलग दिखलाने का प्रयास कर रहा है। क्योंकि अगर मुख्य सिक्का ही पिट गया तो फ़्रासीवादी राजनीति का बड़ा भारी नुक़सान हो जायेगा। इसलिए जो भी लानत-मलामत होनी है वह भाजपा और उसके चन्द नेताओं की होनी चाहिए और ऐसा दिखना चाहिए कि संघ स्वयं भी भाजपा के नेतृत्व पर पार्टी को भ्रष्टाचारियों से शुद्ध करने के लिए दबाव डाल रहा है। यह भी फ़्रासीवादियों के प्रचार के अदभुत रूप से लचीले होने की ही निशानी है। हालाँकि, आज यह लचीलापन बहुत प्रभावी सिद्ध नहीं हो पा रहा है। इसलिए सर्वहारा शक्तियों को फ़्रासीवादियों की इस कोर ताक़त पर लगातार चोट करनी चाहिए; इसके लिए पर्चे, लेख, नाटक, गीत आदि तैयार किये जाने चाहिए और इन संघियों की नैतिकता, चाल-चेहरा-चरित्र की पोल लगातार खोलते रहना चाहिए। ये चोटें इनके लिए बड़ी दर्दनाक होती हैं! फ़्रासीवादी प्रचार की विशिष्टता और उसे निष्प्रभावी बनाने के विषय में इस संक्षिप्त चर्चा के बाद हम कम्युनिस्ट आन्दोलन द्वारा अतीत में फ़्रासीवाद के विरुद्ध संघर्ष की रणनीति और रणकौशल के बारे में संक्षेप में चर्चा करेंगे और साथ ही उससे आज की फ़्रासीवाद-विरोधी रणनीति और रणकौशल के बारे में कुछ आम नतीजे निकालने का प्रयास करेंगे। हमने मौजूदा पुस्तिका में कुछ ठोस कार्यभारों को पहले ही रेखांकित किया है। उसी आम दिशा में आगे बढ़ते हुए हम फ़्रासीवाद-विरोधी वर्ग मोर्चे के विषय में कुछ परिवर्तनों की ओर ध्यानाकर्षित करना चाहेंगे।

फ़्रांसीवाद्-विरोधी संघर्ष की रणनीति व आम रणकौशल तथा वर्ग मोर्चे के विषय में अतीत में कम्युनिस्ट आन्दोलन की समझदारी और मौजूदा हालात में हुए परिवर्तनों का प्रश्न

प्रथम विश्वयुद्ध और बोलशेविक क्रान्ति के बाद जब इटली और जर्मनी में फ़्रांसीवादी राजनीति का उभार हुआ तो दुनिया भर में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की ओर से इस नयी परिघटना की कई व्याख्याएँ सामने आयीं। उनमें कई भिन्नताएँ थीं मगर वे कुछ बुनियादी बिन्दुओं पर सहमत थीं। उनमें से एक महत्वपूर्ण बिन्दु यह था कि फ़्रांसीवादी राजनीति का जन्म पूँजीवाद के एकाधिकारी चरण या इजारेदारी के चरण का नतीजा है। इसका कारण यह है कि इजारेदार पूँजीवाद के दौर में, या दूसरे शब्दों में साम्राज्यवाद के दौर में पूँजीपति वर्ग के लिए हर प्रकार के मजदूर अधिकार, जनवादी अधिकार का दमन एक अनिवार्यता बन जाती है; आर्थिक कट्टरपन्थ राजनीतिक कट्टरपन्थ को जन्म देता है। लेकिन ज़ाहिर है कि इजारेदार पूँजीवाद आम तौर पर पूँजीवादी प्रतिक्रिया को जन्म देता है, जिसमें से फ़्रांसीवादी प्रतिक्रिया केवल एक रूप है और एक अहम मायने में वह अन्य पूँजीवादी प्रतिक्रियाओं से भिन्न है, यानी कि इस अर्थ में यह एक प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन होता है जिसका मुख्य तौर पर टटपुँजिया वर्गों में आधार होता है। आरम्भिक कम्युनिस्ट विश्लेषण में इस बात की पहचान की गयी थी कि फ़्रांसीवाद का सामाजिक आधार मुख्य तौर पर टटपुँजिया वर्गों के भीतर होता है। इन विश्लेषणों में फ़्रांसीवाद के गुणों तौर पर सैन्यवाद और अन्धराष्ट्रवाद की भी पहचान की गयी थी और साथ ही यह तथ्य भी इंगित किया गया था कि फ़्रांसीवाद मजदूर वर्ग के तमाम श्रम अधिकारों को नष्ट करने के अलावा आम तौर पर जनवादी और नागरिक अधिकारों को भी छीनता है। लेकिन यह स्पष्ट तौर पर रेखांकित किया गया था एक धुर दक्षिणपन्थी, मानवतावाद-विरोधी पूँजीवादी प्रतिक्रिया के तौर पर इसका प्रमुख निशाना मजदूर वर्ग और कम्युनिस्ट होते हैं।

1921 से 1928 के बीच कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल की नीति इसी समझदारी से तय हो रही थी। उस समय कोमिण्टर्न ने मजदूर वर्ग के संयुक्त मोर्चे (United Front of the Working Class) की कार्यदिशा का अनुमोदन किया था। इस कार्यदिशा के अनुसार कम्युनिस्ट शक्तियाँ सामाजिक-जनवादियों के साथ फ़्रांसीवाद-विरोधी संयुक्त मोर्चा तो बना सकती थीं, मगर साथ ही उनका यह कार्यभार भी पूरे ज़ोर के साथ रेखांकित किया गया था कि उन्हें मजदूर वर्ग के आन्दोलन में सामाजिक-जनवाद

की गद्दार भूमिका को विशिष्ट रूप से बेनकाब करना चाहिए और उनके सुधारवाद पर चोट करनी चाहिए। 1924 में कोमिण्टर्न की पाँचवीं कांग्रेस में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी पार्टियों ने सामाजिक-जनवाद की फ्रासीवादी उभार में भूमिका को सटीक तौर पर चिन्हित किया था और कहा था कि ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और एक-दूसरे के पूरक हैं। इस दिशा में आगे बढ़ते हुए 1928 की कोमिण्टर्न कांग्रेस में सामाजिक-जनवादियों को पहली बार **सामाजिक फ्रासीवादी** कहा गया। इस समय तक फ्रासीवादी उभार में मज़दूर आन्दोलन में सुधारवादी संशोधनवादियों के असर की भूमिका स्पष्ट तौर पर दिखने लगी थी और कोमिण्टर्न में इसकी सही पहचान की जा रही थी। लेकिन 1928 तक आधिकारिक नीति के अन्तर्गत सामाजिक-जनवादियों के साथ फ्रासीवाद-विरोधी मोर्चा बनाने और साथ में मज़दूर आन्दोलन में उसके खिलाफ़ संघर्ष करने की नीति, यानी कि मज़दूर वर्ग के संयुक्त मोर्चे की नीति को स्वीकार किया गया था।

1930-34 के दौरान पूरे यूरोप में फ्रासीवादी ताकतें तेज़ी से मज़बूत हुईं जर्मनी में नात्सी पार्टी सत्ता में आ चुकी थी। इसी बीच पहली बार **‘पापुलर फ्रण्ट’** की सोच सामने आने लगी थी। कोमिण्टर्न की सातवीं कांग्रेस 1935 में हुई। इस कांग्रेस में उदार पूँजीवादी जनवाद और फ्रासीवादी तानाशाही में अन्तर किया गया और इसे पूँजीवादी अधिनायकत्व के दो रूपों के तौर पर देखा गया। इसमें फ्रासीवादी तानाशाही को धुर दक्षिणपन्थी प्रतिक्रियावादी तानाशाही और पूँजीपति वर्ग के सबसे कट्टरवादी, प्रतिगामी हिस्से की आतंकवादी तानाशाही का नाम दिया गया। **ग्यॉर्गी दिमित्रोव** ने दलील पेश की कि चूँकि फ्रासीवाद कई देशों में सत्ता में आ चुका है, इसलिए इस समय मज़दूर वर्ग के पास तात्कालिक विकल्प समाजवादी जनवाद और पूँजीवादी जनवाद नहीं है, बल्कि उदार पूँजीवादी जनवाद और फ्रासीवादी तानाशाही है। नतीजतन, इस समय कम्युनिस्ट शक्तियों को व्यापक फ्रासीवाद-विरोधी पापुलर फ्रण्ट का निर्माण करना चाहिए। उस समय दूसरे इण्टरनेशनल, यानी पीले इण्टरनेशनल की पार्टियों और साथ ही कोमिण्टर्न की पार्टियों के साझा मोर्चे का आह्वान किया गया और साथ ही इस मोर्चे में अन्य सभी फ्रासीवाद-विरोधी ताकतों को शामिल करने की बात की गयी। इसके अलावा, इस मोर्चे के अन्तरराष्ट्रीय चरित्र पर विशेष तौर पर बल दिया गया। लेकिन साथ ही दिमित्रोव ने यह भी रेखांकित किया कि यह आम नीति है और इसकी कोई भी यान्त्रिक व्याख्या नुकसानदेह हो सकती है। साथ ही, उन्होंने आगाह किया कि फ्रासीवादी उभार के कई विविध रूप अस्तित्व में आये हैं और उनमें से कुछ

औपनिवेशिक और अर्द्धऔपनिवेशिक समाजों में भी अस्तित्व में आये हैं। उनके विरुद्ध संघर्ष की रणनीति स्वतन्त्र जाँच-पड़ताल के बाद ही बनायी जा सकती है क्योंकि तभी उनकी विशिष्टता की पहचान हो सकती है। कोमिण्टर्न की इसी कार्यदिशा की रोशनी में आने वाले कई वर्षों तक कम्युनिस्टों ने अपनी फ़्रासीवाद-विरोधी रणनीति तैयार की। हंगरी में **ग्यॉर्गी लूकाच** ने भी फ़्रासीवाद-विरोधी जनमोर्चे (Anti-Fascist People's Front) के निर्माण की बात की जिसका मक़सद होगा जनता की जनवादी तानाशाही की स्थापना जो कि साम्राज्यवाद के युग में बुर्जुआ शासन के तहत अस्तित्व में आ ही नहीं सकती है। लेकिन ऐसी व्यवस्था का वर्ग चरित्र बुर्जुआ जनवादी ही होगा क्योंकि लूकाच के अनुसार हंगरी में कृषि क्षेत्र में मुख्य कार्य बुर्जुआ भूमि सुधार का ही था।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद भी विश्व के कम्युनिस्ट आन्दोलन में **पॉपुलर फ़्रण्ट** की नीति आम तौर पर स्वीकृत नीति बन गयी। समय बीतने के साथ यह कम्युनिस्टों के बीच एक आकाशवाणी के समान सत्य के तौर पर स्थापित हो गया कि फ़्रासीवाद-विरोधी कम्युनिस्ट रणनीति हर-हमेशा **पॉपुलर फ़्रण्ट** की ही होगी! हमारे विचार में यह एक अनैतिहासिक नज़रिये को अपनाने के कारण हुआ है। कम्युनिस्ट आन्दोलन में भी हमेशा से पॉपुलर फ़्रण्ट की नीति ही स्वीकार्य नीति नहीं रही है। जैसा कि हमने ऊपर प्रदर्शित किया, विशेष तौर पर 1921 से 1928 के दौर में मज़दूर वर्ग के संयुक्त मोर्चे की रणनीति को अपनाया गया था। पॉपुलर फ़्रण्ट की रणनीति केवल तब अपनायी गयी जब यूरोप के तमाम देशों में मज़दूर आन्दोलन निर्णायक तौर पर परास्त हो चुका था और जर्मनी और इटली में फ़्रासीवादी सत्ता मज़बूती से स्थापित हो चुकी थी और एक भयंकर नरसंहार और विनाश का खतरा पूरी मानवता के सिर पर था। **उस दौर में भी वास्तव में किस हद तक बुर्जुआ और सामाजिक-जनवादी ताक़तों ने ऐसे पॉपुलर फ़्रण्ट में सक्रिय और प्रभावी भागीदारी की, यह शोध का विषय हो सकता है।** सरसरी निगाह से देखा जाये तो फ़्रासीवाद का विरोध सबसे बहादुरी और प्रभाविता के साथ करने में कम्युनिस्टों के बाद अगर किसी शक्ति का नाम आता है तो वे अराजकतावादी थे, जिन्होंने 133 सशस्त्र तौर पर कई स्थानों पर फ़्रासीवादियों से ज़बरदस्त टक्कर ली। कई जगहों पर कम्युनिस्ट और अराजकतावादी साथ में फ़्रासीवादियों के खिलाफ़ लड़े। सामाजिक-जनवादी ताक़तें ज़्यादातर स्थानों पर आत्मसमर्पण की मुद्रा में थीं और कहीं-कहीं ही कुछ सशस्त्र प्रतिरोध कर रही थीं। इसलिए उस दौर में भी पॉपुलर फ़्रण्ट में वास्तव में उदार बुर्जुआ या सामाजिक-जनवादी ताक़तों की औपचारिक ही भूमिका

थी, न कि वास्तविका वास्तविक तौर पर अधिकांश जगहों पर क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट और अराजकतावादी ही फ़्रासीवादी ताक़तों के विरुद्ध लड़ रहे थे। बहरहाल, फिर भी पॉपुलर फ्रण्ट की नीति अगर अराजकतावादी शक्तियों को भी साथ लेने की निगाह से देखा जाये, तो सही थी। कम-से-कम तात्कालिक तौर पर, यही उस समय की कमोबेश व्यावहारिक नीति प्रतीत होती है।

मगर आज के दौर में क्या पॉपुलर फ्रण्ट की नीति क्या फ़्रासीवाद के खिलाफ़ संघर्ष की आम रणनीति हो सकती है? हमारे विचार में यह मुश्किल है। इसका कारण यह है कि 1934-35 के दौर से आज पूँजीवाद और पूरी पूँजीवादी दुनिया बहुत आगे निकल आयी है। उस दौर में सामाजिक-जनवादी शक्तियों में जो कुछ प्रगतिशील बचा था, वह भी आज कितना बचा है, यह देखना पड़ेगा। वास्तव में, रूस और चीन में सत्ता में आने और रहने के बाद भी पूरे सामाजिक-जनवाद के चरित्र में और ज़बरदस्त प्रतिक्रियावादी परिवर्तन हुए हैं। क्या आज चीन की सामाजिक-फ़्रासीवादी और धीरे-धीरे विश्व पूँजीवाद में अपनी वर्चस्वकारी स्थिति को स्थापित करने की प्रक्रिया में व्यस्त चीनी बुर्जुआजी से यह उम्मीद की जा सकती है कि वह किसी फ़्रासीवाद-विरोधी मोर्चे में वास्तविक (औपचारिक नहीं!) और सक्रिय (जुबानी जमाखर्च नहीं!) वाली भूमिका निभायेगी? क्या आज माकपा और भाकपा जैसी शक्तियों से यह उम्मीद की जा सकती है कि वे भारत में फ़्रासीवादी उभार के खिलाफ़ नपुंसक क्रिस्म का प्रतीकवाद करने के अलावा कोई जुझारू भूमिका निभायेंगे? अगर ऐसा करना होता तो क्या 2002 के गुजरात नरसंहार के खिलाफ़ ही ये सामाजिक-जनवादी पार्टियाँ पूरे देश में आम हड़ताल का आह्वान नहीं कर सकती थीं, क्योंकि सबसे बड़ी ट्रेड यूनियनमें इन्हीं के पास हैं? ये ताक़तें आज बुर्जुआ चुनावी खेल में इस कदर डूबी हुई हैं और पूँजीपति वर्ग के साथ इनका समेकन 1930 के दशक की तुलना में इतना बढ़ गया है कि ये फ़्रासीवादी उभार के विरुद्ध कोई भी जुझारू क़दम उठाने की क्षमता खो बैठी हैं। कुल मिलाकर इन संशोधनवादी पार्टियों से जुड़े या उनके करीब पड़ने वाली कुछ मार्क्सवादी बुद्धिजीवी हैं जो कि फ़्रासीवादी उभार के इतिहास और जन्मकुण्डली को खोलने में एक सराहनीय भूमिका निभाते हैं। लेकिन विडम्बना की बात है कि उनकी ये रचनाएँ भी आम तौर पर अंग्रेज़ी में होती हैं और इनको भी जनता के बीच जनता की भाषा में ले जाने का कार्य आम तौर पर स्वतन्त्र मार्क्सवादी या फिर क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टियाँ और समूह ही करते हैं। संक्षेप में, ये तमाम उदार पूँजीवादी और सामाजिक-जनवादी ताक़तें वह थोड़ी-बहुत क्षमता भी खो चुके हैं, जो कि 1930

के दशक में इन्हें 'पॉपुलर फ्रण्ट' जैसे किसी फ़ासीवाद-विरोधी मोर्चे में शामिल होने के योग्य बनाती थी। आज के दौर में ये जिन भी फ़ासीवाद-विरोधी मोर्चों में शामिल भी होते हैं, उनमें भी ये उसकी धार को कुन्द करने, कुछ उदारवादी रवैया अपनाने की वकालत करने, कायरता प्रदर्शित करने और हर प्रकार की जुझारू कार्रवाई से बचने के प्रयास में लगे रहते हैं। इस रूप में ये ताकतें आज ऐसे मोर्चे की शक्ति को कमजोर ही करती हैं।

इस परिवर्तन का कारण क्या है? सामाजिक जनवाद वास्तव में एक टटपुंजिया पूँजीवादी विचारधारा ही है। इसका सामाजिक आधार भी वास्तव में टटपुंजिया वर्गों के बीच ही होता है; यह दीगर बात है कि यही टटपुंजिया वर्ग संकट के दौर में फ़ासीवाद का आधार बन जाते हैं। कारण यह है कि सामाजिक जनवादी राजनीति पूँजीवाद की समृद्धि के दौरों में और सामान्य दौरों में इन्हीं वर्गों को मिली हुई सहूलियतों की हिफ़ाज़त करने का काम करती हैं। लेकिन जब संकट के दौर में व्यवस्था इतना अधिशेष उत्पन्न नहीं करती जिससे कि इन सहूलियतों का खर्च उठाया जा सके, तो सामाजिक-जनवाद के समझ नहीं आता है कि वह क्या करे! नग्न रूप से नवउदारवादी होना उसके लिए सम्भव नहीं होता क्योंकि इससे वह अपने बचे-खुचे वोटर भी खो देगा और वैसे भी बुर्जुआ राजनीति के उस खेमे में पहले ही माँग से ज़्यादा आपूर्ति है; न ही वह क्रान्तिकारी रास्ते को अपना सकता है! दूसरे शब्दों में कहें तो सामाजिक-जनवाद मन्दी और राजनीतिक संकट से घिरी पूँजीवादी व्यवस्था से निपटना नहीं जानता क्योंकि क्रान्तिकारी रास्ता उसकी कल्पना के सीमान्त के दूसरी ओर होता है। नतीजतन, वही वर्ग जो सहूलियतें मिलने तक सामाजिक-जनवाद का आधार होता है, इन सहूलियतों के कम होने या ख़त्म होने पर आम तौर पर पूँजीवादी प्रतिक्रिया और विशिष्ट तौर पर फ़ासीवादी प्रतिक्रिया का सामाजिक आधार बनता है।

खैर, हम अभी जिस तथ्य की ओर ध्यानाकर्षित करना चाहते हैं वह यह है कि सामाजिक-जनवाद का सामाजिक आधार हमेशा से ही पूँजीवादीकृत मज़दूर 135 वर्ग (सफ़ेद कॉलर वाले कुलीन मज़दूर), टटपुंजिया वर्ग (मँझोले किसान, छोटे उद्यमी व व्यवसायी आदि) और पेशेवर मध्यवर्ग का एक हिस्सा होता है। 1930 के दशक में इन वर्गों में कुछ प्रगतिशील सम्भावना बची थी। दूसरे शब्दों में मज़दूर वर्ग के आन्दोलन के लिए खाते-पीते मध्यवर्ग की प्रासंगिकता एक हद तक बची हुई थी। लेकिन आज भूमण्डलीकरण और नवउदारवाद के दौर में यह वर्ग मज़दूर वर्ग के साथ अपनी ऐतिहासिक ग़दारी को अंजाम दे चुका है। आज इसके कुछ

सदस्य मजदूर आन्दोलन के साथ आ सकते हैं, या ज्यादा से ज्यादा इसका एक बेहद छोटा-सा हिस्सा मजदूर आन्दोलन के साथ आ सकता है। मूलतः और मुख्यतः खाता-पीता मध्यवर्ग मजदूर वर्ग के साथ अपना विश्वासघात कर चुका है। मध्यवर्ग के चरित्र में आये इस बदलाव के कारण इसकी पूरी ऐतिहासिक भूमिका में भी परिवर्तन आया है। आज के दौर में पूँजीवादी व्यवस्था ने खाते-पीते मध्यवर्ग के एक अच्छे-खासे हिस्से को तमाम क्रिस्म की सुविधाओं और ऋण-वित्तपोषित उपभोग की नीति द्वारा सहयोजित कर लिया है। इसका अधिकांश हिस्सा संकट के दौर में बर्बाद होने पर भी मजदूर वर्ग के साथ नहीं आता, बल्कि फ़्रासीवाद का ही आधार बनता है क्योंकि इसकी आकांक्षाएँ मूलतः पूँजीवादी हो चुकी हैं।

खाते-पीते मध्यवर्ग के चरित्र में आये इन ऐतिहासिक परिवर्तनों के फलस्वरूप और साथ ही रूस और चीन में सामाजिक-जनवादी सत्ताओं के सामाजिक फ़्रासीवाद के पूर्ण रूप से अनावृत्त होने के ऐतिहासिक अनुभवों के बाद सामाजिक-जनवाद के चरित्र में भी अहम बदलाव हुए हैं। आज उनमें वह प्रगतिशीलता भी नहीं बची रह गयी है जो कि एक फ़्रासीवाद-विरोधी पॉपुलर फ्रण्ट के स्थायी और भरोसेमन्द मित्र बनने के लिए एक अनिवार्य पूर्वशर्त है। आज अन्य उदार पूँजीवादी ताक़तों में भी किसी में यह राजनीतिक पुंसत्व नहीं रह गया है कि वह फ़्रासीवादी उभार का सक्रिय और जुझारू तौर पर मुक़ाबला करने के लिए आगे आये। **ऐसे में, कुछ मुद्दों या घटनाओं पर ऐसी ताक़तों के साथ संयुक्त गतिविधि करना एक बात हो सकती है और इसमें कोई गुरेज़ भी नहीं होना चाहिए। मगर सकारात्मक तौर पर ऐसा कोई फ़्रासीवाद-विरोधी मोर्चा बनाना हो तो निश्चित तौर पर क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ताक़तों को स्वयं अपनी ताक़त और प्रयासों पर ज्यादा भरोसा करना चाहिए;** वैसे तो भारत में उस प्रकार ऐसे अराजकतावादी समूह या संगठन पाये नहीं जाते हैं जो कि जुझारू तरीके से फ़्रासीवादियों के खिलाफ़ संघर्ष करने को तैयार हों (जैसे कि बीसवीं सदी 136 के पूर्वार्द्ध में और आज भी यूरोप के तमाम देशों में पाये जाते हैं), मगर फिर भी अगर ऐसे अराजकतावादी समूह हों तो उनके साथ फ़्रासीवाद-विरोधी मोर्चा बनाया जा सकता है।

दूसरे शब्दों में कहे तो आज फ़्रासीवाद-विरोधी पॉपुलर फ्रण्ट की कार्यदिशा कितनी कारगर होगी इस पर इतिहास ने कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न-चिन्ह खड़े कर दिये हैं। पॉपुलर फ्रण्ट की सोच पर आज प्रश्न इसलिए भी खड़े हो गये हैं कि आज उदार पूँजीपति वर्ग के पूरे चरित्र में भी कुछ बुनियादी बदलाव आये हैं। इज़ारेदार पूँजीवाद जिस तेज़ी से लेनिन के समय से कहीं ज्यादा परजीवी,

अनुत्पादक, सट्टेबाज और जुआखोर बना है, उसी गति से तथाकथित उदार पूँजीपति वर्ग की सारी उदारता, बची-खुची जनवादी स्फिरित जाती रही है। हम यह प्रश्न भी पूछ सकते हैं कि आज मजदूर वर्ग के आन्दोलनों के दमन और उसके अधिकारों को छीने जाने की बात करें तो क्या दुनिया भर के देशों के उदार पूँजीपति वर्ग उन देशों के फ्रासीवादियों से क्या ज्यादा पीछे ठहरते हैं? यह उदार पूँजीपति वर्ग 1930 के दशक में भी कोई ज्यादा प्रगतिशील नहीं रह गया था, मगर आज तो इसकी प्रगतिशीलता की बात एक अच्छा राजनीतिक चुटकुला हो सकती है। साथ ही, आज के फ्रासीवादी उभार के जवाब में क्या किसी उदार पूँजीवादी जनवाद के लिए लड़ना सम्भव है? दूसरे शब्दों में, क्या उदार पूँजीवादी जनवाद जैसी कोई चीज अब अस्तित्वमान है? उन्नत दुनिया तक में इस उदार पूँजीवादी जनवाद कितना उदार और कितना जनवादी रह गया है, इस पर गहरे सवालिया निशान लग रहे हैं। ऐसे में, फ्रासीवादी उभार के समक्ष आज मजदूर वर्ग के पास विकल्प उदार पूँजीवादी जनवाद नहीं बल्कि समाजवाद है। इसलिए कोई व्यक्ति किसी भी वर्ग से क्रान्ति का मित्र और फ्रासीवाद का विरोधी हो सकता है मगर “उदार” पूँजीपति वर्ग के किसी भी हिस्से को फ्रासीवाद-विरोधी मोर्चे में शामिल करने की बात करना आज कितना अर्थपूर्ण होगा, इस पर सोचना पड़ेगा।

यही बात राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग पर भी लागू होती है, जो कि अब इतिहास की संग्रहालय की वस्तु बन चुका है! दुनिया के किसी भी देश में आज बुर्जुआ वर्ग का कौन-सा हिस्सा जनता के साथ है? कोई नहीं! बुर्जुआ वर्ग के हरेक हिस्से को आज सत्ता में कम या ज्यादा भागीदारी हासिल है। अपनी भागीदारी के हिस्से को बढ़ाने के लिए उनमें परस्पर प्रतिस्पर्द्धा और अन्तरविरोध होना और हमारे द्वारा उन अन्तरविरोधों का लाभ उठाने के दाँव-पेच अलग मसला हैं, मगर अपने इन तमाम अन्तरविरोधों के बावजूद मेहनतकश गरीब जनता के विरुद्ध वे एक हैं।

एक उदाहरण से हम अपनी बात स्पष्ट करना चाहेंगे। हमने देखा था कि जब दिल्ली में इस सहस्राब्दी की शुरुआत में प्रदूषण के नाम पर छोटे उद्योग-धन्धे आदि दिल्ली से बाहर किये जा रहे थे या बन्द किये जा रहे थे और उसके बाद जब खुदरा व्यापार में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की बात हो रही थी तो हमारे देश के नवजनवादी क्रान्ति मानने वालों ने किस प्रकार अपना मखौल बनाया था। **मतलब, एक मजरेदार दृश्य उपस्थित हुआ था!** नवजनवादी क्रान्ति मानने वाले कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी इस तथाकथित “राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग” (छोटे मालिक, उद्यमी, दुकानदार आदि) के पीछे यह चिल्लाते हुए भाग रहे थे कि ‘हम तुम्हारे असली हिमायती

हैं’, तो दूसरी ओर यह “राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग” भाजपा के तमाम स्वदेशी की बात करने वाले मंचों के पीछे यह कहते हुए भाग रहा था कि ‘तुम तो हमारे थे!’, मगर भाजपा देशी-विदेशी बड़े पूँजीपतियों के पीछे भाग रही थी कि ‘हम तुम्हारे असली नुमाइन्दे हैं!’ और यह देशी-विदेशी बड़ी पूँजी देश की मेहनत और कुदरत को खुले हाथों से लूटने के लिए भाग रही थी! मतलब पूरा दृश्य मज़ेदार था!

आज किसी फ़ासीवाद-विरोधी पॉपुलर फ़्रण्ट के लिए उदार पूँजीपति वर्ग या राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग के पीछे भागना ऐसा ही मजाकिया दृश्य उपस्थित कर सकता है। ये वर्ग आज अपने तरह से हर प्रकार की प्रतिक्रिया के साथ खड़े हैं और संकट के कारण पैदा होने वाली अनिश्चितता हर दिन उन्हें विभिन्न प्रकार के प्रतिक्रियावादियों की बाँहों में धकेल रही है। वे अपनी हर प्रकार की जनवादी सम्भावना से आज लगभग रिक्त हो चुके हैं और इस रूप में फ़ासीवाद से लड़ने की शक्ति और पुंसत्व और कुछ भी नया पैदा करने की उर्वरता वे खो चुके हैं।

हमारे विचार में पिछले सात-आठ दशकों में और विशेष तौर पर पिछले पाँच दशकों में उदार पूँजीपति वर्ग और खाते-पीते मध्य वर्ग के चरित्र में कुछ बुनियादी बदलाव आये हैं और राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग इतिहास के रंगमंच पर अपनी ‘कैमियो’ भूमिका निभाकर प्रस्थान कर चुका है। हमारा मानना है कि भूमण्डलीकरण के दौर के परजीवी, सट्टेबाज़, खोखले और मरणासन्न इज़ारेदार पूँजीवाद के इस दौर में हमें एक नये रूप और नये अर्थ में मज़दूर वर्ग के संयुक्त मोर्चे की बात करनी चाहिए। नये रूप और नये अर्थ में इसलिए कि अब सामाजिक-जनवादी/सामाजिक फ़ासीवादी ताकतों के साथ फ़ासीवाद-विरोध के कार्य में कोई रणनीतिक मोर्चा बनेगा, इसकी गुंजाइश कम ही है; आज उनके साथ मुद्दा-आधारित फ़ासीवाद विरोधी मोर्चे बन सकते हैं, मगर कोई दीर्घकालिक फ़ासीवाद-विरोधी मोर्चे में भाकपा, माकपा आदि जैसी ताकतों को शामिल करना पूरे उद्देश्य को ही बेकार कर देगा। लेकिन निश्चित तौर पर ऐसे फ़ासीवाद-विरोधी मोर्चे में समाज के तमाम जेनुइन और जुझारू जनवादी, प्रगतिशील व सेक्युलर तत्वों को शामिल करने की पुरज़ोर कोशिश की जानी चाहिए। आज ऐसे किसी मोर्चे के अभाव में ये तत्व या तो निराश हैं या फिर विकल्पहीनता में सामाजिक-जनवादियों व संशोधनवादियों की प्रतीकात्मक कवायदों का हिस्सा बनते हैं। लेकिन अगर मज़दूर वर्ग का फ़ासीवाद-विरोधी संयुक्त मोर्चा खड़ा किया जाये तो इन तत्वों को साथ लिया सकता है।

हमें जिस प्रकार के मज़दूर वर्ग के संयुक्त मोर्चे की आज फ़्रासीवाद के प्रतिरोध हेतु ज़रूरत है उसमें कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शक्तियों का एकजुट होना एक अहम ज़रूरत है। इसके अतिरिक्त विशेष तौर पर अनौपचारिक क्षेत्र व असंगठित क्षेत्र के विराटकाय मज़दूर वर्ग को फ़्रासीवाद के विरुद्ध एकजुट करने की आवश्यकता है; दूसरी सबसे बड़ी आवश्यकता है भारत के विशाल निम्न मध्यवर्ग को एकजुट करना और उन्हें फ़्रासीवाद के हथ्थे न चढ़ने देना; याद रहे कि इस निम्न मध्यवर्ग को एक अच्छा-खासा हिस्सा अर्द्धमज़दूर जैसा ही है और उसकी नैसर्गिक एकता खाते-पीते मध्यवर्ग के साथ नहीं बल्कि मज़दूर वर्ग के साथ बनती है। तीसरा अहम कार्य होगा जाति-विरोधी जुझारू जनसंघर्षों को और साथ ही पितृसत्ता-विरोधी स्त्र संघर्षों को इस मोर्चे का अंग बनाना; आज इन संघर्षों की शक्ति और सम्भावनासम्पन्नता में वृद्धि हुई है और इन संघर्षों के नेतृत्व को सर्वहारा शक्तियों को अपने हाथ में लेकर उसे अम्बेडकरवादी राजनीति के जंजाल से निकालना चाहिए और साथ ही स्त्र संघर्षों को बुर्जुआ नारीवाद के गर्त से बाहर निकालना चाहिए। कभी भूलना नहीं चाहिए कि दलितों और स्त्रियों के भी सबसे जुझारू और लड़ाकू संघर्ष क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के नेतृत्व में हुए हैं न कि विभिन्न प्रकार के सुधारवादियों, व्यवहारवादियों, अम्बेडकरवादियों और बुर्जुआ नारीवादियों के नेतृत्व में। क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट शक्तियों को एक बार फिर से इन मोर्चों पर अपने वर्चस्व को स्थापित कर इन संघर्षों को एक सही क्रान्तिकारी दिशा में मोड़ने का प्रयास करना चाहिए। लेकिन यह तो एक आम कार्यभार है जिस पर हर सूरत में कम्युनिस्टों को काम करना ही होगा। जब तक ऐसा नहीं भी होता है, तब तक भी 'जेनुइन' जाति-विरोधी संघर्षों और पितृसत्ता-विरोधी संघर्षों को फ़्रासीवाद-विरोधी मोर्चे में शामिल करना चाहिए जो ईमानदार और जुझारू अराजकतावादी विचारधारा को मानने वाले लोग हैं (हालाँकि ऐसे समूह भारत में बिरले ही मिलते हैं!) वे भी फ़्रासीवाद-विरोधी संघर्ष के ज़्यादा टिकाऊ और सशक्त मित्र बन सकते हैं। लेकिन चूँकि ऐसे क्रान्तिकारी और सक्रिय अराजकतावादियों की परम्परा ही भारत में कमज़ोर है, इसलिए उनके बारे में ज़्यादा कुछ नहीं कहा जा सकता है। भारत में ज़्यादातर अराजकतावादी वस्तुतः निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवादी हैं; यानी बातें काफ़ी गर्म करते हैं, मगर व्यावहारिक तौर पर कुछ भी नहीं करते! विश्वविद्यालय परिसरों और अन्य कुलीन बौद्धिक दायरों से बाहर उनकी मौजूदगी नगण्य है। मगर फिर भी अगर ऐसे 'जेनुइन' अराजकतावादी समूह और संगठन हों

जिनकी मज़दूर-वर्गीय कार्यदिशा हो, तो फ़्रासीवाद-विरोधी संयुक्त मोर्चे में उन्हें शामिल होना चाहिए।

इसके अलावा, एक क्षेत्र जिसमें कि क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ताक़तें विशेष तौर पर कमज़ोर हैं, वह है ग्रामीण मज़दूर वर्ग (जिसमें कि खेतिहर और ग़ैर-खेतिहर मज़दूर दोनों ही शामिल हैं) के बीच अपने क्रान्तिकारी जनसंगठनों की मौजूदगी। यह फ़्रासीवाद-विरोधी मोर्चे के लिए आज विशेष तौर पर महत्वपूर्ण है। कुलक राजनीति के प्रस्थान के साथ फ़्रासीवाद ने गाँवों अपना मज़बूत वर्ग मित्र ढूँढ़ लिया है। अगर क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ताक़तें गाँवों में अपने वर्ग मित्रों को साथ लेकर वर्ग संघर्ष में उतरने को तैयार नहीं हैं, तो तमाम क्रिस्म की आदिम धारणाओं, वर्ग चेतना की कमी और जातिगत वर्चस्व के कारण ग्रामीण मज़दूरों का एक भी एक अच्छा-खासा हिस्सा धनी काश्तकार किसानों और पूँजीवादी भूस्वामियों के संगठनों का पुछल्ला बनकर फ़्रासीवादियों के पैदल सैनिकों की संख्या ही बढ़ायेगा। यह क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन के लिए प्राणान्तक सिद्ध हो सकता है। इस बात को समझने में अब ज़्यादा देर नहीं की जा सकती; हमारे पास क़तई वक़्त की कमी है।

जिन राजनीतिक ताक़तों और सामाजिक वर्गों को हम फ़्रासीवाद-विरोधी मज़दूर वर्ग के संयुक्त मोर्चे में शामिल करने की बात कर रहे हैं, वह आज समाज की भारी बहुसंख्या है। लेकिन इस बहुसंख्या को गोलबन्द और संगठित करने के लिए महज़ फ़्रासीवाद के इतिहास या उसकी सैद्धान्तिक परिभाषा को समझ लेना पर्याप्त नहीं होगा। हमें यह भी समझना होगा कि बीसवीं सदी में फ़्रासीवादी उभार की परिघटना आज इक्कीसवीं सदी में हूबहू दुहरायी नहीं जाने वाली है। फ़्रासीवादी उभार की विचारधारा और राजनीति में विश्व पूँजीवादी व्यवस्था और उसके संकट के चरित्र में आने वाले बदलावों के साथ जो बदलाव आये हैं, उन्हें समझना आज अनिवार्य है। इसके बिना, फ़्रासीवाद के प्रतिरोध के लिए मज़दूर वर्ग का क्रान्तिकारी आन्दोलन कोई रणनीति नहीं बना सकता है। मौजूदा पुस्तिका में फ़्रासीवादी उभार की परिघटना का विश्लेषण करते हुए हमने कुछ परिवर्तनों की ओर ध्यानाकर्षित करने का प्रयास किया था। मगर फिर भी हमें इस विश्लेषण में कुछ अहम छूटे हुए नुक्तों को जोड़ना मोदी सरकार और फ़्रासीवाद के इस नये उभार के समकालीन सन्दर्भ में ज़रूरी महसूस हुआ। ग़ौरतलब है कि यह पुस्तिका उस समय लिखी गयी थी जब कुछ अतिआशावादी निठल्ला वामपन्थी और साथ ही कुछ क्रान्तिकारी वामपन्थी फ़्रासीवाद को चुक गयी शक्ति करार दे रहे थे। हमने तब भी आग्रहपूर्वक कहा था कि ऐसा सोचना क्रान्तिकारी वाम

की भारी भूल सिद्ध होगा। 2014 के लोकसभा चुनावों में फ़ासीवादी शक्तियों की अभूतपूर्व जीत ने इस बात को सिद्ध भी किया। एक ऐसे दौर में हमने इस पुस्तिका के साथ यह पश्चलेख जोड़ा है और हम उम्मीद करते हैं कि इससे हम इस पुस्तिका में पेश अपनी समझदारी को और विस्तार के साथ व्याख्यायित कर पाये होंगे और साथ ही उसे विस्तार दे पाये होंगे।

(16 जुलाई, 2015)

परिशिष्ट

उन समझदारों के लिए सबक जो हमेशा हाशिये पर पड़े रहना चाहते हैं

समझदारों का गीत

हवा का रुख कैसा है, हम समझते हैं
हम उसे पीठ क्यों दे देते हैं, हम समझते हैं
हम समझते हैं खून का मतलब
पैसे की कीमत हम समझते हैं
क्या है पक्ष में विपक्ष में क्या है, हम समझते हैं
हम इतना समझते हैं
कि समझने से डरते हैं और चुप रहते हैं

चुप्पी का मतलब भी हम समझते हैं
बोलते हैं तो सोच-समझ कर बोलते हैं हम
हम बोलने की आज़ादी का
मतलब समझते हैं
टुटपूँजिया नौकरी के लिए
आज़ादी बेचने का मतलब हम समझते हैं
मगर हम क्या कर सकते हैं
अगर बेरोज़गारी अन्याय से
तेज़ दर से बढ़ रही है
हम आज़ादी और बेरोज़गारी दोनों के
खतरे समझते हैं
हम खतरों से बाल-बाल बच जाते हैं

हम समझते हैं
हम क्यों बच जाते हैं, यह भी हम समझते हैं।

.....

हम सरकार से दुखी रहते हैं
कि समझती क्यों नहीं
हम जनता से दुखी रहते हैं
कि भेड़ियार्थसान होती है

हम सारी दुनिया के दुख से दुखी रहते हैं
हम समझते हैं
मगर हम कितना दुखी रहते हैं यह भी
हम समझते हैं
यहाँ विरोध ही वाजिब क्रदम है
हम समझते हैं
हम क्रदम-क्रदम पर समझौते करते हैं
हम समझते हैं
हम समझौते के लिए तर्क गढ़ते हैं
हर तर्क गोल-मटोल भाषा में
पेश करते हैं, हम समझते हैं
हम इस गोल-मटोल भाषा का तर्क भी
समझते हैं

वैसे हम अपने को किसी से कम
नहीं समझते हैं
हर स्याह को सफ़ेद और
सफ़ेद को स्याह कर सकते हैं
हम चाय की प्यालियों में
तूफ़ान खड़ा कर सकते हैं
करने को तो हम क्रान्ति भी कर सकते हैं
अगर सरकार कमजोर हो
और जनता समझदार

लेकिन हम समझते हैं
कि हम कुछ नहीं कर सकते हैं
हम क्यों कुछ नहीं कर सकते हैं
यह भी हम समझते हैं।

– गोरख पाण्डेय

हाशिये पर खड़े लोगों के अपने दुःख होते हैं तो अपने सुख भी होते हैं। सवाल देखने के नजरिये और ज़ोर का होता है। हाल ही में, हाशिये पर खड़े वामपन्थी आन्दोलन से लम्बे समय से जुड़े रहे एक बुद्धिजीवी रवि सिन्हा ने हाशिये पर खड़े अपने अन्य बिरादरों के लिए भारत में साम्प्रदायिक फ़ासीवाद के उभार के बरक्स कुछ सबक पेश किये हैं (<http://nsi-delhi.blogspot.in/2014/05/lesson-forsaner-segments-of-margins.html> व हिन्दी अनुवाद 'समकालीन तीसरी दुनिया' के जून, 2014 के अंक में प्रकाशित)। लेकिन इन सबकों को पढ़ने के बाद ऐसा लगता है कि ये सबक हमेशा हाशिये पर ही कैसे खड़े रहें, इसका 'यूजर मैनुअल' है। यँ भी कह सकते हैं कि यह आज के सबसे ज़रूरी कार्यभारों को अनिश्चितकाल तक के लिए स्थगित कर देने का प्रस्ताव है।

इस लेख की एक विस्तृत आलोचना पेश करना हम कई कारणों से ज़रूरी समझते हैं, हालाँकि इस लेख में हाशिये पर खड़े (पड़े!?) लोगों का आवाहन किया गया है।

पहला कारण यह है कि यह लेख 'हाशिये' को काफ़ी आकर्षक बना देता है; नतीजतन, जो अभी हाशिये पर नहीं है और राजनीतिक मुख्य भूमि की ओर जा सकते हैं, या फिर जो हाशिये पर अपनी इच्छा या चुनाव से नहीं है या सम्भवतः हाशिये पर अपनी अवस्थिति के बारे में सचेत भी नहीं हैं; ऐसे सभी लोगों के लिए यह लेख 'हाशिये' को एक वांछनीय स्थान बना देता है। **दूसरा कारण** यह है कि 'हाशिये' को मनमोहक बनाने की प्रक्रिया में यह लेख इतिहास और विचारधारा दोनों के ही साथ बदसलूकी करता है। फ़ासीवाद के इतिहास और विचारधारा की इस 'समझदारों के पाठ' में जो समझदारी पेश की गयी है, उसे अधिकतम सम्भव उदारता के साथ लचर और बचकाना कहा जा सकता है। इसलिए कुछ अहम विचारधारात्मक और इतिहास-सम्बन्धी मुद्दों पर साफ़-नज़र होने के लिए भी हम इस लेख की आलोचना को ज़रूरी समझते हैं।

लेख में जो बातें कहीं गयीं हैं, उनकी क्रमानुसार या महत्वानुसार आलोचना की जा सकती है। चूँकि लेख में शैली और अन्तर्वस्तु की निरन्तरता कमोबेश बनी रही

है, इसलिए क्रम का निर्धारण महत्व से ही हुआ है। और पाठकों की सुविधा के लिए लेख में पेश मुद्दों के क्रम के अनुसार अपनी आलोचना रखना ही उचित होगा। चूँकि प्रकाशित हिन्दी अनुवाद में कुछ स्थानों पर हमें शुद्धता का अभाव महसूस हुआ इसलिए हम मूल अंग्रेजी लेख को ही अपने स्रोत के तौर पर इस्तेमाल कर रहे हैं। जहाँ कहीं भी हमने लेखक को उत किया है, वह हमारा अनुवाद है।

सबकों की पृष्ठभूमि की तैयारी : भाषा में अन्तर्निहित भूगोल और स्थलाकृति

*‘जब बदलाव करना सम्भव था
मैं आया नहीं: जब यह ज़रूरी था
कि मैं, एक मामूली सा शास्त्र, मदद करूँ,
तो मैं हाशिये पर रहा।’*

(बर्टोल्ट ब्रेष्ट, ‘सेण्ट जोन ऑफ़ दिन स्टॉकयाईस’)

लेखक मानता है कि उनका सरोकार उस हाशिये से नहीं है जो कि राजनीतिक मुख्यभूमि के दक्षिण में पड़ता है, बल्कि उस हाशिये से है जो कि इस मुख्यभूमि के वाम पक्ष में पड़ता है। लेखक चिन्तामग्न है कि पूरा का पूरा वाम अब इस हाशिये पर ही चला गया है। यद्यपि परम्परागत वाम इस बात को अभी स्वीकार नहीं कर सका है। लेखक यह भी मानता है कि स्वयं उसके जीवन का बहुलांश इस हाशिये पर बीता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस हाशिये पर नये वामपन्थी आगन्तुकों का वह एक बहुआयामी विडम्बना-बोध के साथ स्वागत कर रहा है। इस विडम्बना-बोध का एक आयाम तो यह है कि इसके नवागन्तुकों का एक बड़ा हिस्सा अब तक राजनीतिक मुख्यभूमि में था और अब दक्षिणपन्थ के उभार ने उसे हाशिये पर धकेल दिया है। और इसका दूसरा आयाम यह है कि लेखक इन नवागन्तुकों का स्वागत करते हुए भी यह जानता है कि हाशिये पर रहने के लम्बे अनुभव से लैस एक समझदार व्यक्ति (wise man) द्वारा दिये जा रहे सबकों पर ये नवागन्तुक कान नहीं देंगे! इससे पहले कि लेखक द्वारा प्रयोग में लायी गयी शब्दावली की राजनीति पर अपनी बात रखते हुए हम अपनी आलोचना की विधिवत् शुरुआत करें, पहले इस शब्दावली में अन्तर्निहित भूगोल (geography) और स्थलाकृति-विज्ञान (topography) को भी समझ लिया

जाये, विशेष तौर पर, राजनीतिक मुख्यभूमि और हाशिये को।

यहाँ राजनीतिक मुख्यभूमि संसद व विधानसभा प्रतीत होते हैं, हालाँकि ने लेखक ने सम्भवतः इरादतन इसके बारे में अस्पष्टता बनाये रखी है। समाज विज्ञान और आलोचनात्मक सिद्धान्त बहुत पहले ही बता चुका है कि चुप्पियों (silences) के भी अर्थ होते हैं, और अकसर वे 'टेक्स्ट' से भी अहम होते हैं। वस्तुतः, सामाजिक सिद्धान्त की किसी भी शाखा का असल मकसद शब्दों से ज़्यादा इन चुप्पियों को विकूटीकृत (decipher) करना होता है! बहरहाल, यहाँ राजनीतिक मुख्यभूमि का अर्थ संसद-विधानसभा ही प्रतीत होता है। क्योंकि संसदीय वाम के अतिरिक्त जो वाम है, वह तो पहले से ही हाशिये पर है! ऐसे में, जिन नवागन्तुकों के हाशिये में आगमन की बात की जा रही है, वह निश्चित तौर पर संसदीय वाम ही है, यानी भाकपा, माकपा, भाकपा (माले) लिबरेशन इत्यादि।

लेकिन हाशिये का अर्थ यहाँ केवल गैर-संसदीय वाम नहीं प्रतीत होता। बल्कि यह भूभाग उन शक्तियों का है जिनका समाज में कोई विशेष आधार या पकड़ नहीं है। पहले तो हाशिये पर वह वाम ही था जिसे आम तौर पर चलताउफ राजनीतिक शब्दावली में 'लेफ़्ट ऑफ़ सीपीएम' कहा जाता है। लेकिन अब दक्षिणपन्थी फ़्रासीवाद के इस नये उभार ने उस वाम को भी हाशिये पर पहुँचा दिया है जो 'सीपीएम या राइट ऑफ़ सीपीएम' हैं। ऐसे में, लेखक चिन्तित है। वह खुद के लम्बे समय से हाशिये पर ही रहने से उतना चिन्तित नहीं है, जितना कि इस बात से कि जो संसदीय वामपन्थी हाशिये पर नहीं थे वे भी हाशिये पर आ गये हैं और हाशिया 'ओवरक्राउडेड' हो गया है! फिर भी, वह भारी मन और भरे दिल से इन संसदीय वामपन्थियों का हाशिये पर खुली बाहों के साथ स्वागत भी कर रहे हैं! कम-से-कम लेखक के शब्दों के प्रयोग-व्यवहार या प्रयोग-धर्म से तो उनके राजनीतिक भूविज्ञान के यही अर्थ सम्प्रेषित होते हैं। क्योंकि उन्होंने राजनीतिक मुख्यभूमि और हाशिये की कोई विवादित सीमा-रेखा भी स्पष्ट नहीं की है। बहरहाल, यहाँ से हम अपनी आलोचना के पहले प्रमुख बिन्दु पर आ सकते हैं।

शब्दावली में निहित इस भूविज्ञान से एक बात स्पष्ट है: लेखक 'वाम' या 'वामपन्थ' को एक 'जेनेरिक' शब्द के रूप में इस्तेमाल करते हैं और इसका उग्रता के साथ तर्कपोषण करते हैं। 'समझदार लोगों' से लेखक का क्या तात्पर्य है, यह उन्होंने यह कहकर बताने से इंकार कर दिया है कि ऐसी कसौटियाँ निर्धारित करने का पाण्डित्य-प्रदर्शन उन्हें नहीं करना है! लेकिन बाद में वह अपने आपको ऐसे पाण्डित्य-प्रदर्शन से रोक नहीं पाये हैं और एक बेहद व्यापक पैमाना उन्होंने

पेश कर ही दिया है! इसमें वे सभी लोग हैं, जो कि उन “पागलों से भरी परिधि” में नहीं हैं जो कि संशोधनवादी वामपन्थ और क्रान्तिकारी मार्क्सवाद में फ़र्क करते हैं! इस बात को लेखक ने प्रहसनात्मक ढंग से कहा है: “जो बाकी सभी दूसरे लोगों पर संशोधनवाद, गद्दारी और इससे भी बुरे आरोप लगाकर ही ज़िन्दा रहते हैं!” स्पष्ट है कि अगर लेनिन या माओ ज़िन्दा होते तो वह भी लेखक के अनुसार इसी पागलपन की परिधि में आते! हम स्पष्ट कर दें कि **सवाल यहाँ यह नहीं है कि कोई क्रान्तिकारी मार्क्सवादी संशोधनवादियों के सैद्धान्तिकीकरणों से विचारधारात्मक तौर पर ‘इंगेज’ करेगा या नहीं!** सवाल यह है कि वह उनसे कोई बहस या संवाद इसलिए नहीं चलाता है कि वह उन्हें क्रान्तिकारी वाम का अंग मानता है या उनसे कोई उम्मीद रखता है! लेनिन या बाद में माओ ने अगर संशोधनवादियों से विचारधारात्मक संघर्ष चलाया तो इसका मक़सद क्रान्तिकारी मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों की हिफ़ाज़त और क्रान्तिकारी कतारों की शिक्षा थी। लेकिन यहाँ सभी क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों को जानबूझकर एक श्रेणी में रख दिया गया है: वे बचकाने लोग जो अपने सिवा बाकी सभी लोगों को संशोधनवादी, गद्दार आदि की संज्ञा देकर ज़िन्दा रहते हैं; वे बचकाने लोग जो मार्क्सवाद और संशोधनवाद के बीच के पुराने पड़ चुके फ़र्क की माला जपते रहते हैं, जबकि दूसरी ओर साम्प्रदायिक फ़्रासीवादी उभार सिर पर खड़ा है! निश्चित तौर पर, यह स्वर पराजयबोध और निराशा के गर्त में पड़े लोगों को वाक़ई ‘वाइज़ मैन’ का स्वर प्रतीत हो सकता है! लेकिन सच्चाई यह है कि ‘वाइज़ मैन’ के पास न तो फ़्रासीवाद की कोई ऐतिहासिक समझदारी है और न ही उसके प्रतिरोध को संगठित करने की रणनीतियों के बारे में। वह इस बात से भी नावाकिफ़ है कि इतिहास में फ़्रासीवादी उभार में योगदान करने वाले कारकों में एक अहम कारक रहा है सामाजिक-जनवादियों की गद्दारी और मज़दूर आन्दोलन को बुर्जुआ जनवादी विभ्रमों और वैधिकता (legality) का कैदी बनाये रखना।

बहरहाल, रवि सिन्हा ‘वामपन्थ’ और ‘वाम’ जैसे शब्दों के अपने इस प्रयोग-धर्म और उसके तर्क-पोषण के ज़रिये शेष लेख का स्वर और इसमें सिखाये गये “पाठों” की अन्तर्वस्तु निर्धारित कर देते हैं। लेखक कहता है कि किसी को अच्छा लगे या न लगे, उन्हें तो इन परिधिगत वामपन्थी पागलों को भी वाम में शामिल करना ही पड़ेगा और अफ़सोस की बात यह है कि उससे सरोकार रखे बिना, उसके विषय में चिन्तित हुए बिना भी नहीं रहा जा सकता है! लेकिन लेखक इस बात को लेकर आश्वस्त है कि ये पागल लोग उनके इस लेख में सिखाये गये पाठों को नहीं सीखेंगे और अन्त में इसे लेकर आपस में झोंटा-झुटव्वल करेंगे! इस कथन के पीछे का सन्देश यह है,

‘अगर तुमने मेरे द्वारा दिये गये सबक की आलोचना की तो मैं तुम्हें संकीर्ण हितवादी, स्वार्थी, झगड़ालू और बन्द-दिमाग बुलाऊँगा!’ बहरहाल, इस खतरे को उठाते हुए भी हम आलोचना के कार्यभार को पूरा करने के लिए आगे बढ़ते हैं।

16 मई को नरेन्द्र मोदी की लोकसभा चुनावों में अभूतपूर्व विजय के बारे में अपनी समझदारी को सामने रखते हुए लेखक शुरुआत करते हैं। **बुर्जुआ चुनावों की जीत-हार का यहाँ जो विश्लेषण पेश किया गया है, वह प्रतीतिगत यथार्थ को ही सारभूत यथार्थ के तौर पर देखता है।** लेखक की यह दलील निश्चित तौर पर कुछ वज्रन रखती है कि मोदी की जीत के बाद वामपन्थी खेमे (यहाँ हम भी ‘वामपन्थी’ शब्द का इस्तेमाल सिर्फ तात्कालिक स्पष्टता के लिए ‘जेनेरिक’ विशेषण के तौर पर कर रहे हैं!) में तमाम लोग ‘डिनायल मोड’ में चले गये थे। इससे मोदी की विजय से उनमें पैदा हुए मानसिक सदमे का अनुमान लगाया जा सकता है। इन लोगों की लेखक ने एक सही आलोचना पेश की है और कहा है कि यह मानना चाहिए कि इन चुनावों में धुर दक्षिणपन्थ को स्पष्ट तौर पर ज़बरदस्त जनादेश मिला है। लेकिन इसके बाद लेखक इस जनादेश के लिए जनता से थोड़ा नाराज़ से नज़र आते हैं! इस नाराज़गी को वह अभी थोड़ा छिपा रहे हैं। लेकिन लेख में आगे बढ़ते-बढ़ते उनका संयम जवाब दे जाता है। लेकिन बाद की बातों पर बाद में। यहाँ लेखक यह बताने की कोशिश करते हैं कि बुर्जुआ चुनावों में जनता ने नरेन्द्र मोदी को जो जनादेश दिया है वह जनता द्वारा अपनी इच्छा और विवेक का प्रकटीकरण था, हालाँकि उसमें कारपोरेट मीडिया व धनबल का भी हाथ है। इस बात से रवि सिन्हा वामपन्थियों (जो कि जनता पर अनालोचनात्मक भरोसा करते हैं!) के लिए यह सबक निकालते हैं : उन्हें जनता के विवेक पर अपनी अनालोचनात्मक आस्था के साथ इस बात का सामंजस्य बिठाना पड़ेगा कि आखिर उनकी महान जनता ने नरेन्द्र मोदी को जनादेश कैसे दे दिया!

बुर्जुआ चुनावों में विजय और पराजय का यह विश्लेषण, बहुत छूट देकर कहें तो, एक पस्तहिम्मत उदार निम्न-पूँजीवादी बुद्धिजीवी के हारे हुए दिल की कराह है। कोई भी मार्क्सवादी-लेनिनवादी व्यक्ति यह जानता है कि बुर्जुआ चुनावों में पूँजीपति वर्ग जनता से शासन करने की सहमति लेता है; इस मायने में यह वर्ग समाज का पहला शासक वर्ग है जो कि सहमति लेकर शासन करता है और इसीलिए उसके शासन का मूल आधार वर्चस्व है, महज़ प्रभुत्व नहीं; उसका शासन दिव्य रूप से प्रदत्त (divinely-ordained) नहीं होता। लेकिन हम यह भी जानते हैं कि बुर्जुआ समाज में यह ‘सहमति’ निर्मित होती है, ‘मैन्युफैक्चर’ की जाती है। इसलिए सीधे

यह कहना कि जनता ने 'अपने विवेक से' नरेन्द्र मोदी और संघ परिवार को जनादेश दिया है, कम-से-कम एक गम्भीर रूप से अधूरी बात तो मानी ही जायेगी। जनता अपने स्वतःस्फूर्त विवेक से इतिहास में पहले भी बर्बरों का साथ दे चुकी है, चाहे वह उन समाजों की जनता ही क्यों न हो जिन्हें लेखक आधुनिक समाज मानता है! जनता की स्वतःस्फूर्त चेतना ही यदि सर्वहारा चेतना होती तो सर्वहारा वर्ग के हिरावलों की आवश्यकता शायद ही पड़ती! बहरहाल, पहली बात तो यह है कि जनता 'अपने विवेक से' कभी प्रतिक्रियावाद के पक्ष में नहीं खड़ी होती है, ऐसा किसी विवेकवान वामपन्थी का मानना नहीं है। लेनिन ने कहीं लिखा था कि जनता अत्यधिक श्रान्ति की स्थिति में प्रतिक्रिया के पक्ष में जाकर खड़ी हो जाती है और इसके लिए मूल तौर पर स्वयं जन समुदायों को नहीं बल्कि उनके बीच क्रान्तिकारी शक्तियों की अनुपस्थिति को जिम्मेदार ठहराया जाना चाहिए। सर्वहारा विश्व-दृष्टिकोण, या मज़दूर वर्ग की राजनीतिक वर्ग चेतना मज़दूर वर्ग के ऐतिहासिक अनुभवों के समाहार से निःसृत होती है, जो समाहार मज़दूर वर्ग के सदस्य बिरले ही करते हैं। आम तौर पर, ऐसे लोग मध्य वर्गीय बौद्धिक जमातों से आते हैं। हम यहाँ कोई भी नयी बात नहीं कह रहे हैं। लेकिन चूँकि रवि सिन्हा भी यहाँ कोई नयी बात नहीं कह रहे हैं, बल्कि पुराने अवसादग्रस्त उदार बुर्जुआ 'ऑर्थोडॉक्सी' को ही नये पाण्डित्यपूर्ण शब्दों में पुनर्जीवित कर रहे हैं, इसलिए हम भी मार्क्सवाद-लेनिनवाद के विज्ञान द्वारा दिये गये जवाबों को ही प्रस्तुत करने को बाध्य हैं। यहाँ तमाम प्रयासों के बावजूद भारत की नालायक जनता से रवि सिन्हा की नाराज़गी टपक ही जाती है; लेकिन यह तो सिर्फ़ ट्रेलर है! कुल मिलाकर, इस पूरे हिस्से में बुर्जुआ चुनावों का एक बेहद सतही विश्लेषण है और जनता द्वारा नरेन्द्र मोदी को दिये गये जनादेश की भी एक अनालोचनात्मक समझदारी सामने आती है। इसके अलावा, जनता को कोई एक एकाशमीय, सजातीय प्रवर्ग के तौर पर पेश किया गया है। दूसरे शब्दों में, रवि सिन्हा के विश्लेषण से वर्ग दृष्टि पूर्ण रूप से अनुपस्थित है। इस पर हम आगे थोड़ा विस्तार से आयेंगे। साथ ही, इस पूरे विश्लेषण में जनता के राजनीतिक निर्णयों और कार्यवाइयों में अगुआ क्रान्तिकारी शक्तियों की उपस्थिति/अनुपस्थिति/अपर्याप्त उपस्थिति की भूमिका को एक चर राशि (variable) के तौर पर शामिल ही नहीं किया गया है। यह एक उदार बुर्जुआ रूपवादी (formalist) व प्रत्यक्षवादी (positivist) विश्लेषण है, जो विशेष तौर पर फ़्रासीवादी उभार का विश्लेषण करते हुए अक्सर हताशा और अवसाद अथवा अवसरवाद में ही समाप्त होता है।

नरेन्द्र मोदी की विजय के बाद लेखक हर बात को लेकर दुःखी भी नहीं है!

उनकी यह दलील दुरुस्त है कि नरेन्द्र मोदी की अगुवाई में भाजपा व संघ 149 परिवार अपनी निर्णायक विजय के बाद खुले और व्यापक दंगों की रणनीति नहीं अपनायेगा। हमारा भी मानना है कि अब गुजरात-2002 जैसे नरसंहार कराने की आवश्यकता नहीं है। न तो यह पूँजी के हितों के लिए बेहतर है और न ही बुर्जुआ जनवाद के विभ्रम को बरकरार रखने के लिए अच्छा है। बस मुसलमानों का घेड़ोकरण करके और एक प्रकार की अघोषित 'अपार्थाइड' की नीति के ज़रिये उनका हिन्दुओं से पार्थक्य स्थापित करना पर्याप्त होगा। लेखक का यह प्रेक्षण भी कमोबेश ठीक लगता है। लेकिन इसके बाद वह अपने पहले सबक पर जाते हैं और यह बताते हैं कि भारत में भगवा साम्प्रदायिक फ़ासीवादियों की कार्यपद्धति में सत्ता में आने के बाद यह बदलाव क्यों होगा, और यहीं से भयंकर दिक्कतें शुरू होती हैं। आइए, रवि सिन्हा के विश्लेषण और उनके तर्कों पर एक निगाह डालते हैं।

पहला सबक : आओ चलें संसद, विधानसभाओं और अदालतों की ओर!

“जो काम बल-प्रयोग से किया जाता है वह अच्छा नहीं होता। मैं उनमें से नहीं हूँ। अगर भूख और दरिद्रता के हालात ने बचपन में ही मुझे हिंसा सिखायी होती तो मैं भी उनमें से एक होता और कोई प्रश्न नहीं पूछता। लेकिन जैसा है वैसा है। इसलिए मुझे जाना चाहिए।”

(बेटॉल्ट ब्रेष्ट, 'दि रेज़िस्टिबल राइज़ ऑफ़ आर्तुरो उई')

रवि सिन्हा का मानना है कि फ़ासीवादियों के सत्ता में आने के बाद वे देश के सामाजिक ताने-बाने के साथ क्या करते हैं यह उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि यह कि वे “राज्य और उसकी संरचना के साथ क्या कर सकते हैं और क्या नहीं।” उनके अनुसार जो बात यहाँ वामपन्थियों के लिए आकाशवाणी के समान या सहज उपलब्ध तथ्य के समान नहीं है, काउण्टर-इण्ट्यूटिव (counter-intuitive) है, वह समझना ज़्यादा अहम है। बकौल रवि सिन्हा फ़ासीवादियों की बर्बर शक्ति का स्रोत समाज में है, लेकिन अपनी इस शक्ति के बूते वे राज्य की संरचनाओं को अपनी सामाजिक विचारधारा के अनुसार नहीं बदल सकते हैं। लेखक मानता है कि यह तर्क सामान्य बोध से समझा जा सकता है कि एक बार सत्ता में आने के बाद फ़ासीवादियों को पूँजीवादी राज्य सत्ता में अहम बदलाव करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि

यह राज्यसत्ता कारपोरेट हितों की सेवा करने के लिए पर्याप्त है। लेकिन सिर्फ़ इतना समझना लेखक के लिए पर्याप्त नहीं है क्योंकि यह एक अहम नुक़्ते को पकड़ने से चूक जाना होगा। उनके अनुसार यह नुक़्ता उस फ़र्क़ में अन्तर्निहित है जो कि एक प्रबुद्धि बुर्जुआ-जनवादी कल्याणकारी राज्य और एक हिटलर जैसी फ़ासीवादी तानाशाही के बीच होता है। रवि सिन्हा पूछते हैं कि क्या इस अन्तर के एक वामपन्थी के लिए कोई मायने नहीं हैं? उनके अनुसार “भारतीय राज्यसत्ता एक ऐसे समाज की गोद में बैठी है जो कई बार ऐसे लोगों को सत्ता में बिठा सकता है जो कि एक फ़ासीवादी-तानाशाहाना रास्ते को अख़्तियार करना पसन्द करेंगे।” लेकिन भारतीय संवैधानिक बुर्जुआ जनवादी राज्यसत्ता का धन्यवाद ज्ञापन करते हुए, बल्कि शुक्र मनाते हुए, वह इस बात पर राहत का अहसास करते हैं कि भारत में फ़ासीवादी सत्ता में काबिज़ होने के बावजूद अपनी चाहतों और विचारधाराओं के अनुसार यह सब नहीं कर पायेंगे! उनके अनुसार, इस पूरे विश्लेषण से वामपन्थियों के लिए जो पहला सबक़ निकलता है वह है भारतीय राज्यसत्ता और भारतीय समाज के बीच के पहेलीनुमा रिश्तों को समझना। उनके अनुसार, “आपको इस बात पर ग़ौर करना चाहिए कि समाज बर्बर शक्तियों को पैदा करता है और उन्हें राज्यसत्ता की ज़िम्मेदारी सौंपता है लेकिन राज्यसत्ता बर्बरों को सभ्य बनने के लिए और संवैधानिक ढाँचे के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य करती है। इतिहास ने एक अभी-तक-आधुनिक-नहीं-हुए-समाज के बीच से एक आधुनिक राजनीति को ढाला है। इस समाज का निर्माण करने वाली तमाम संस्कृतियाँ और प्रथाएँ आधुनिक राजनीतिक संरचना के साथ असुविधाजनक रूप से अस्तित्वमान हैं। और फिर भी राजनीतिक संरचना काफ़ी हद तक सुरक्षित है। बच्चा एक ऐसी माता के गोद में बैठा है जो बच्चे को कई बार अजनबी और यहाँ तक कि शत्रुतापूर्ण पाती है, लेकिन वह फिर भी बच्चे को अपनी गोद में लिए रहती है।”

यहाँ रवि सिन्हा ने भारत में राज्य और समाज के सम्बन्धों की एक समझदारी पेश करते हुए इससे अपना पहला सबक़ निकाला है। अगर मौजूदा हालात में नये फ़ासीवादी शासक वामपन्थियों के विरुद्ध अपना अभियान जारी करते हैं तो हमें क्या करना चाहिए? वह कहते हैं कि वामपन्थी कहेंगे कि हम जनता के बीच जायेंगे और उनकी शक्ति के बूते फ़ासीवादियों से लड़ेंगे; यह उनके अनुसार पूरी तरह से ग़लत नहीं होगा। लेकिन वह हिदायत देते हैं कि फिर फ़ासीवादी शक्तियाँ आप से भी ज़्यादा लोगों तक पहुँचेंगी! फिर आप क्या करेंगे? फिर वह एक ग़ज़ब

का उदाहरण देते हैं। वह कहते हैं कि अगर वामपन्थी पश्चिम बंगाल की सड़कों और खेतों पर तृणमूल कांग्रेस से नहीं लड़ पाये तो फिर अगर सारे वामपन्थी साथ भी आ जायें, जिसकी उम्मीद कम है, तो भी अन्धकार के इस नये राजकुमार से वे शहरों, बस्तियों, गाँवों और जंगलों में कैसे लड़ेंगे? वह भी तब जबकि नये राजकुमार को यूनानी देवताओं के समान जनसमुदायों की सराहना, डरों और प्रार्थनाओं से जीवन शक्ति मिलती है? इसलिए रवि सिन्हा के मुताबिक नये फ़्रासीवादी शासकों को जनता के बीच राजनीतिक संघर्ष करने के लिए न्यौता देने से पहले अच्छी तरह से सोच लेना चाहिए! रवि सिन्हा के अनुसार ज़्यादा बेहतर तरीका होगा कि वामपन्थी अपने आपको पहले से अस्तित्वमान राजनीतिक ढाँचे में यानी कि संसद, विधानसभाओं, अदालतों आदि में बचाने का प्रयास करें जिसमें कि वे संविधान और कानून की पूरी मदद ले सकते हैं। यहाँ पर वह मुकुल सिन्हा और तीस्ता सेतलवाड़ के साहसिक संघर्षों का उदाहरण देते हैं, जो कि अहमदाबाद की सड़कों पर नहीं हुआ बल्कि अदालतों में हुआ। बाद में वह एक कैविएट जोड़ते हैं, जिसे एक बेशर्म दलील पेश करने के बाद इज़्जत बचाने का प्रयास कहना ज़्यादा उचित होगा। वह कहते हैं कि हमें आधुनिक राज्यसत्ता और राजनीति व उनकी संरचनाओं से ज़्यादा उम्मीदें भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि जब बर्बर शक्तियाँ सत्ता में आती हैं तो वे इन संरचनाओं को भी अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं के अनुसार एक हद तक तोड़ती-मरोड़ती हैं, लेकिन फिर भी, उनके अनुसार, उनकी उपरोक्त दलील मूलतः और मुख्यतः सही ठहरती है।

अब आइए लेखक के पहले सबक में अन्तर्निहित इस पूरी तर्क पद्धति के गुणों और अवगुणों के आधार पर इसका मूल्यांकन करते हैं। हम यहाँ शुरुआत अपने नतीजों से नहीं करेंगे क्योंकि फिर इस बात की पूरी गुंजाइश होगी हमारी बात सुनने से पहले ही हाशिये पर खड़े या पड़े समझदार लोग हमें 'वाम की पागल परिधि' की संज्ञा दे दें! इसलिए हम लेखक द्वारा पेश की गयी दलीलों की एक क्रमबद्ध पड़ताल करेंगे और उससे उनकी तर्क पद्धति और विचारधारात्मक-राजनीतिक अवस्थिति को निःसृत करने का प्रयास करेंगे और देखने की कोशिश करेंगे कि यह तर्कपद्धति फ़्रासीवाद के इतिहास और विचारधारा की समस्याओं और उससे लड़ने की रणनीति और रणकौशलों के विषय में इतिहास के सबकों को किस हद तक समझ पाती है।

रवि सिन्हा ने भारत में राज्य और समाज के चरित्र के बीच एक विरोधाभास पेश किया है। उनके अनुसार भारतीय समाज अभी आधुनिक नहीं बना है,

जबकि कुछ विशिष्ट ऐतिहासिक कारणों से उसे एक आधुनिक बुर्जुआ उदार जनवादी संवैधानिक राज्य प्राप्त हुआ है। इसके लिए उन्होंने ऊपर बताया गये माँ और बच्चे वाले रूपक को पेश किया है (हालाँकि यह रूपक सटीकता के पैमाने पर दुरुस्त नहीं ठहरता है)। उनके अनुसार फ़्रासीवादियों की बर्बर शक्ति का स्रोत समाज में है क्योंकि समाज पुनर्जागरण, धर्म-सुधार आन्दोलन व प्रबोधन जैसे आन्दोलनों की अनुपस्थिति में प्राक्-आधुनिक रह गया है, जबकि राज्य और उसकी संरचनाएँ बुर्जुआ उदार जनवादी हैं व संवैधानिक नियम-कायदों से बँधी हुई हैं। इसी बुनियादी तर्क पर उन्होंने अपने सबक निकाले हैं। लेखक के अनुसार भारत में समाज ऐसा है जो अपनी अन्तर्निहित प्रकृति से फ़्रासीवादी, धुर दक्षिणपन्थी और तानाशाहाना ताक़तों को सत्ता में लाता है; लेकिन भला हो भारत के जनवादी राज्य का जिसके कारण सत्ता में आने के बाद फ़्रासीवादी ताक़तों को अपने हाथ बाँधने पड़ते हैं, क्योंकि वे इस बुर्जुआ जनवादी राज्य संरचना को या संविधान को बदल नहीं सकते हैं; वास्तव में, ये राज्य, राजनीति और उसकी संरचनाएँ एक प्रकार से फ़्रासीवादी बर्बर ताक़तों को सभ्य बनने पर मजबूर करती हैं, उन्हें अपने अनुकूल अनुशासित करती हैं! यह पूरी समझदारी कई बल्कि लगभग हर स्तर पर ग़लत, अनैतिहासिक, समाजशास्त्रीयतावादी (sociologist) है और बुर्जुआ विभ्रमों का भयंकर तरीक़े से शिकार है।

पहली बात तो यह है कि भारतीय समाज और राज्यसत्ता का यहाँ क्रमशः प्राक्-आधुनिक व आधुनिक के तौर पर सारभूतीकरण (मेमदजपंसप्रंजपवद) किया गया है, जो कि वास्तविकता से बहुत दूर है। दूसरी बात यह कि फ़्रासीवादी आन्दोलन और विचारधारा का भी यहाँ एक प्राक्-आधुनिक परिघटना या प्राक्-आधुनिक स्रोतों से पैदा हुई परिघटना के तौर पर सारभूतीकरण किया गया है, जो कि न सिर्फ़ हमारे देश के सन्दर्भ में बल्कि फ़्रासीवाद के पूरे वैश्विक इतिहास के सन्दर्भ में ग़लत है। तीसरी बात यह कि फ़्रासीवादी उभार का राजनीतिक अर्थशास्त्रय और ऐतिहासिक भौतिकवादी विश्लेषण इस लेख से पूरी तरह अनुपस्थित है। यह एक बुर्जुआ समाजशास्त्रीयतावादी विश्लेषण है और वह भी ख़राब गुणवत्ता का; यदि किसी को फ़्रासीवादी उभार का उदार बुर्जुआ और समाजशास्त्रय विश्लेषण ही पढ़ना होगा तो इससे बेहतर विकल्प मौजूद हैं। और चौथी और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि समाज और राज्यसत्ता के बीच के सम्बन्धों का जो विश्लेषण पेश किया गया है वह न सिर्फ़ अवैज्ञानिक, अनैतिहासिक और भोंड़ा प्रत्यक्षवादी विश्लेषण है, बल्कि वह वास्तव में

अमेरिकी ड्यूईवादी व्यवहारवाद से काफ़ी कुछ उधार लेता है। इस विश्लेषण का क्रान्तिकारी वामपन्थी या मार्क्सवादी विश्लेषण से दूर-दूर तक कोई लेना-देना नहीं है। इसे ज़्यादा से ज़्यादा एक उदार बुर्जुआ फेबियनवादी व व्यवहारवादी विश्लेषण कहा जा सकता है। इसके अलावा, रवि सिन्हा चलते-चलते भारतीय वामपन्थ पर ऐसी आलोचनात्मक टिप्पणियाँ करते हैं, जो उन पर लागू नहीं होती। मिसाल के तौर पर, उनका प्रश्न है कि क्या वामपन्थी उदार बुर्जुआ जनवादी राज्य और एक तानाशाहाना फ़्रासीवादी बुर्जुआ राज्य में फ़र्क नहीं करते हैं या फिर पर्याप्त रूप से फ़र्क करते हैं? कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह प्रश्न मूल्यरहित नहीं है और इसमें एक आक्षेप अन्तर्निहित है। लेकिन हमें ताज्जुब होता है कि लेखक इस बात से वाकिफ़ नहीं है कि दुनिया भर में मार्क्सवादी क्रान्तिकारियों के बीच यह स्थापित तथ्य है कि एक उदार बुर्जुआ राज्य और एक फ़्रासीवादी बुर्जुआ राज्य के बीच फ़र्क किया जाना चाहिए; इस फ़र्क को मार्क्सवादियों ने राजनीतिक अर्थशास्त्र की दृष्टि से और पूँजीवाद के ऐतिहासिक विश्लेषण से स्पष्ट किया है और इस फ़र्क के मुताबिक़ रणनीतिक और रणकौशलात्मक नतीजे भी निकाले हैं। हम जानते हैं कि ऐसा कहना क़तई ग़लत होगा कि फ़्रासीवादी और विशेष तौर पर वर्तमान फ़्रासीवादी उभार के बारे में कम्युनिस्टों ने सारा विश्लेषण पहले ही कर रखा है! लेकिन रवि सिन्हा का यह इशारा कि कम्युनिस्टों को उदार बुर्जुआ राज्य और फ़्रासीवादी बुर्जुआ राज्य में फ़र्क करने का सबक़ भी हाशिये से प्रसारित होते उनके सबकों से लेना होगा, अनुचित लगता है।

बहरहाल, अब रवि सिन्हा द्वारा भारत में राज्य और समाज के रिश्तों की जो अवधारणा पेश की गयी है, उस पर आते हैं। भारतीय समाज को एक प्राकृ-आधुनिक समाज के रूप में पेश किया गया है, जिसमें नैसर्गिक तौर पर सर्वसत्तावादी प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं और इन प्रवृत्तियों के चलते ही वह स्वतःस्फूर्त तौर पर कई बार फ़्रासीवादियों और तानाशाहों को सत्ता सौंप देता है! **यह भारतीय समाज का एक अनैतिहासिक सारभूतीकरण (ahisotrical essentialization) है।** निश्चित तौर पर, भारतीय समाज पश्चिम के समान पुनर्जागरण, धर्म सुधार आन्दोलन और प्रबोधन की प्रक्रिया से नहीं गुज़रा और जिस समय यहाँ पुनर्जागरण और प्रबोधन के अलग किस्म के संस्करणों की ज़मीन तैयार हो रही थी, उसी समय उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया ने भारतीय समाज में बुर्जुआ आधुनिकता के तत्वों के प्रकट होने और पूँजीवादी विकास की सम्भावनाओं को कुचल दिया। अंग्रेज़ी औपनिवेशिक राज्य ने अपनी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए एक शिक्षा व्यवस्था, क़ानून के समक्ष

समानता आदि की स्थापना की तो दूसरी ओर भारतीय समाज के पुनरुत्थानवादी, प्राक्-आधुनिक तत्वों को प्रश्रय भी दिया। औपनिवेशिक राज्यसत्ता की नीति का द्रुन्द्व बार-बार प्रकट होता रहता था, जैसा कि 'सहमति की आयु' विवाद, कानून के समक्ष समानता को लेकर हुए विवाद, और भूमि व्यवस्था (संदके मजजसमउमदज) को लेकर फ्रिज़ियोक्रैट्स और यूटिलिटेरियन फरके में चली बहस आदि में देखा जा सकता है। एक ओर सामन्ती शासक वर्ग और प्रतिक्रियावादी तत्वों के साथ संश्रय बनाने की आर्थिक और राजनीतिक ज़रूरत थी, तो दूसरी ओर औपनिवेशिक राज्य की अन्य प्रशासनिक व राजनीतिक ज़रूरतों को पूरा करने के लिए मैकाले की शिक्षा व्यवस्था और एक कानूनी, संवैधानिक व्यवस्था की स्थापना भी वांछनीय थी। औपनिवेशिक राज्यसत्ता की इस दोहरी और परस्पर अन्तरविरोधी ज़रूरतों और उसके नतीजे के तौर पर सामने आने वाली दोहरी और एक हद तक अन्तरविरोधी नीतियों के कारण राष्ट्रवादी आन्दोलन के उदय में हमें दो धाराएँ देखने को मिलती हैं: पुनरुत्थानवादी धारा और पश्चिमी प्रबोधन व तर्कणा से प्रभावित आधुनिकतावादी धारा। ये दोनों धाराएँ कुछ अर्थों में 1916 के बाद के राष्ट्रवादी आन्दोलन में आकर संलयित हुईं और इस प्रक्रिया के प्रतीक पुरुष गाँधी थे। गाँधी में जहाँ पुनरुत्थानवादी प्रतिक्रिया के स्पष्ट तत्व मौजूद हैं तो वहीं उनमें बुर्जुआ आधुनिकता, मानवतावाद और उदारतावाद के तत्व भी दिखायी पड़ते हैं। **लेकिन कुल मिलाकर कहा जाये तो राष्ट्रवादी आन्दोलन मुख्य तौर पर एक आधुनिकतावादी आन्दोलन था** (यहाँ हम सबऑल्टर्न इतिहासकारों की तरह राष्ट्रवादी आन्दोलन को आधुनिक नहीं कह रहे हैं)। यह महज़ एक देशभक्तिपूर्ण (patriotic) आन्दोलन नहीं था बल्कि एक राष्ट्रवादी आन्दोलन था; 'राष्ट्र' की अवधारणा अपनी प्रकृति से ही एक बुर्जुआ आधुनिक अवधारणा या परिकल्पना है। **कोई राष्ट्रीय आन्दोलन मूलतः और मुख्यतः प्राक्-आधुनिक हो ही नहीं सकता है। इस आन्दोलन में अलग-अलग ऐतिहासिक परिस्थितियों में पुनरुत्थानवादी और प्राक्-आधुनिक तत्व हो सकते हैं, जिन्हें आधुनिक बुर्जुआ राष्ट्रवाद ने अपनी ज़रूरतों के मुताबिक सहयोजित किया हो, जैसा कि भारत में मामले में कहा जा सकता है।** खैर, सवाल यह है कि आज़ादी के बाद जो भारतीय समाज सामने आया और आज़ादी के बाद से लेकर अभी तक भारतीय समाज में जो विकास हुए उसके फलस्वरूप आज जो भारतीय समाज हमारे सामने है, क्या आज हम उसे एक प्राक्-आधुनिक समाज कह सकते हैं? हमारा विचार है कि यह सूत्रीकरण सिरे से ग़लत है।

हमारे सामने जो समाज है वह एक उत्तर-औपनिवेशिक (उत्तरऔपनिवेशिक

नहीं) आधुनिक समाज है; भारत में इस उत्तर-औपनिवेशिक आधुनिकता में पर्याप्त मात्रा में प्राक्-आधुनिक, आदिम (primordial) तत्व मौजूद हैं और ये तत्व इस विशिष्ट क्रिस्म की आधुनिकता के द्वारा सहयोजित, समायोजित और आर्टिकुलेटेड (articulated) हैं। इसके अलावा हम और कोई अपेक्षा भी नहीं कर सकते हैं। और इस समाज ने जिस राज्यसत्ता, राजनीतिक परम्पराओं और संरचनाओं को जन्म दिया वह इसी सामाजिक ढाँचे की हिफाजत के लिए है। यह कहना एक बात है कि सामाजिक-आर्थिक ढाँचे और राजकीय व राजनीतिक अधिरचना के बीच 'बराबर' का चिन्ह नहीं लगाया जा सकता है और उनके बीच अन्तरविरोध होने के कारण एक संगति (correspondence) का सम्बन्ध होता है; कोई भी मार्क्सवादी समाज विज्ञानी इस बात से सहमति ज़ाहिर करेगा; लेकिन समाज और राज्य के बीच जिस प्रकार के द्विभाजन (dichotomy) और विरोधाभास (paradox) रवि सिन्हा पेश करते हैं, वह क़तई बुर्जुआ समाजशास्त्रीयतावादी विश्लेषण है जो कि अपने ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव से पहचाना जा सकता है। ऐसे विरोधाभासी सम्बन्ध के साथ कोई राज्य और समाज दीर्घकालिक अवधि के लिए अस्तित्व में रह ही नहीं सकते हैं। वास्तव में, भारतीय राज्य और समाज के बीच के सम्बन्ध को समझने में रवि सिन्हा ठीक इसलिए असफल रहते हैं क्योंकि वे भारतीय समाज के चरित्र और भारतीय राज्य के चरित्र को समझने और उसे एक विशिष्ट क्रिस्म के उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी विकास के आख्यान में अवस्थित कर पाने में नाकाम रहते हैं। राज्य और समाज के चरित्र और उनके बीच के सम्बन्धों का एक आधिभौतिक दृष्टिकोण हमारे सामने पेश किया जाता है जो कि उनके सम्बन्धों को समझने का दावा करने के बावजूद उनके अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन नहीं करता है, बल्कि उन्हें अलग-थलग करके (in isolation) विश्लेषित करता है और अन्ततः उनके रिश्तों का एक गतिक (dynamic) दृष्टि पर नहीं बल्कि एक स्थैतिक (static) दृष्टि पर पहुँचता है।

रवि सिन्हा भारतीय संवैधानिक उदार बुर्जुआ राज्य को और उसकी राजनीतिक संरचनाओं को आधुनिक करार देते हैं; लेकिन क्या यहाँ की राजनीतिक और राजकीय संरचनाओं व परम्पराओं को क्लासिकीय अर्थों में और अनालोचनात्मक तौर पर आधुनिक कहा जा सकता है? हमें नहीं लगता। क्या धार्मिक क़ानूनों का व्यक्तिगत मामलों में लागू किया जाना एक सेक्युलर आधुनिक राज्य या संविधान की निशानी है? क्या हम राजनीतिक व राजकीय अधिरचना को यहाँ धर्म से पूर्ण रूप से अलग तौर पर देख सकते हैं? पाश्चात्य आधुनिकता

राजनीतिक संस्थाओं में धर्म या धार्मिक संस्थाओं में राजकीय/राजनीतिक संस्थाओं की मौजूदगी का पूर्ण रूप से निषेध करती है, जिसे फ्रांसीसी भाषा में लाईसाईट (laicite) की अवधारणा के द्वारा व्याख्यायित किया जाता है, और जिसे बर्जुआ आधुनिकता का एक बुनियादी संघटक तत्व माना जाता है। क्या भारत में हम इसका दावा कर सकते हैं? भारत राज्यसत्ता और धर्म के पूर्ण अलगाव की बात नहीं करती बल्कि सभी धर्मों को बराबर मानने की बात करती है और इसी आधार पर धार्मिक आधार पर 'पर्सनल लॉ' की व्यवस्था की गयी है। **इसलिए भारतीय राज्य और संविधान को अनालोचनात्मक तौर पर और क्लासिकीय अर्थों में एक आधुनिक संस्था मानना भी एक भूल है।**

वास्तव में, भारत में जिस प्रकार की उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी समाज और अर्थव्यवस्था आयी उन्होंने उसी प्रकार के उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी राज्य और संविधान को भी जन्म दिया। समाज और राज्य दोनों में ही आधुनिकता और पुनरुत्थानवादी प्रतिक्रिया के तत्व मौजूद हैं और शासक वर्गों के लिए अपने शासन को जारी रखने की खातिर इन तत्वों का मिश्रण काफ़ी उपयोगी भी हैं। रवि सिन्हा के पूरे सैद्धान्तिकीकरण में भारतीय पूँजीवाद के विशिष्ट चरित्र की कोई द्वन्द्वत्मक समझदारी नहीं है। वह अपनी उदार बर्जुआ व्यवहारवादी (pragmatist) दृष्टि से प्रस्थान करते हैं और राज्य और समाज के बीच लगभग वैसा ही द्विभाजन पेश करते हैं, जो कि ड्यूई और रॉल्स जैसे व्यवहारवादियों और उनका अनुसरण करते हुए अम्बेडकर ने किया था। उनकी नज़र में उदार बर्जुआ संवैधानिक कल्याणकारी राज्य सबसे तार्किक अभिकर्ता होता है; समाज की अव्यवस्था, अनियमितता और असंगतियों को वह प्रति-सन्तुलित करता है! और भारत में तो रवि सिन्हा के मुताबिक इसकी बेइन्तहाँ ज़रूरत है क्योंकि भारतीय समाज की बात तो छोड़ दें, पाश्चात्य समाजों में भी (जो कि रवि सिन्हा के मुताबिक सर्वसत्तावादी, आदिम और प्राक्-आधुनिक नहीं हैं) कुछ असंगतियाँ, असमानताएँ आदि होती हैं जिन्हें कि राज्य अपनी सकारात्मक कार्यवाही के ज़रिये प्रति-सन्तुलित करता है। रवि सिन्हा का सैद्धान्तिकीकरण पूरी तरह ड्यूई या रॉल्स का अनुसरण तो नहीं करता, लेकिन यह कहना होगा कि उस पर ड्यूई और रॉल्स की छाया बराबर बनी रहती है। रवि सिन्हा के विश्लेषण में भारतीय संवैधानिक उदार बर्जुआ राज्य का ढाँचा पूर्वप्रदत्त नियतांक (given constant) है। भारतीय समाज मुख्यतः और मूलतः प्रतिक्रियावादी, सर्वसत्तावादी और प्राक्-आधुनिक है और समय-समय पर बर्बरों को सत्ता में पहुँचा देता है; लेकिन सत्ता में पहुँचने के बाद बेचारे बर्बरों

को भारतीय राज्यसत्ता और संविधान सभ्य बनने पर मजबूर करने लगते हैं! यह हास्यास्पद है और भारतीय इतिहास के तथ्यों का मखौल बनाना है। भारतीय राज्य और संविधान ने इतिहास ने बार-बार दिखलाया है कि धुर दक्षिणपन्थी ताक़तें और प्रतिक्रियावादी ताक़तें बिना संवैधानिक ढाँचे और राज्य की संरचनाओं से खिलवाड़ किये, अपने राजनीतिक 'डिज़ाइन' पर अमल कर सकती हैं। बल्कि कहना चाहिए कि भारतीय राज्य और संविधान में शुरू से ही इस बात की सुषुप्त सम्भावना मौजूद थी कि उसके बुनियादी ढाँचे में कोई परिवर्तन किये बिना या फिर किसी मामूली परिवर्तन के जरिये उससे फ़्रासीवादी और दक्षिणपन्थी प्रतिक्रियावादी हितों की सेवा करवायी जा सकती है। इसके बावजूद, रवि सिन्हा का यह प्रेक्षण कि भारतीय राज्य और संवैधानिक ढाँचा बर्बरों को सत्ता में आने के बाद सभ्य बनने के लिए बाध्य करेगा, यह दिखलाता है कि भारतीय इतिहास की उनकी समझदारी बेहद दरिद्र है और साथ ही यथार्थवादी होने के नाम पर वास्तव में बुर्जुआ समाजशास्त्र की पाठ्यपुस्तकों में पेश आद्यरूपीय श्रेणियों (archetpal categories) को वास्तविक इतिहास में ढूँढ़ने का असफल प्रयास करती रहती है।

यहाँ हम रवि सिन्हा के विश्लेषण में एक और अजीबो-ग़रीब सूत्रीकरण को देख सकते हैं। उनके अनुसार, फ़्रासीवादी ताक़तों के चरित्र और उनकी शक्ति के स्रोतों को प्राक्-आधुनिक क्रार दिया गया है। यह वास्तव में उदारवादी बुर्जुआ विश्लेषण से भी पीछे जाने के समान है। ज़ाहिर है, फ़्रासीवाद क्या है और उसके उभार के ऐतिहासिक कारण क्या हैं, इसकी जो व्याख्या रवि सिन्हा पेश करते हैं उसमें राजनीतिक अर्थशास्त्रय और ऐतिहासिक भौतिकवादी विश्लेषण ग़ायब है। फ़्रासीवाद का उभार बुर्जुआ उदारवादी राज्य और व्यवस्था के आख्यान (narrative) में किसी विच्छेद (rupture) को प्रदर्शित नहीं करता है, बल्कि उसकी निरन्तरता (continuity) को भी प्रदर्शित करता है। अगर विच्छेद का कोई तत्व है भी तो वह रूप के धरातल पर ज़्यादा है। पूँजीवादी राज्य के लिए ऐतिहासिक तौर पर और आम तौर पर ज़्यादा मुफ़ीद अस्तित्व-रूप (modus vivendi) निश्चित तौर पर बुर्जुआ जनवादी राज्य है (चाहे वह कल्याणकारी हो या न हो)। लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था का असमाधेय संकट द्वैध सुषुप्त सम्भावनाओं को जन्म देता है। यह संकट मजदूर वर्ग और आम मेहनतकश आबादी के राजनीतिक तौर पर तैयार होने और उसकी हिरावल शक्तियों के तैयार होने की सूत्र में इतिहास को क्रान्तिकारी परिवर्तनों की दिशा में ले जा सकता है, और ऐसा न होने की सूत्र में संकट प्रतिक्रियावादी समाधान (फ़्रासीवाद

या किसी अन्य प्रकार के प्रतिक्रियावादी दक्षिणपन्थी उभार) की ओर ले सकता है। फ्रासीवादी पूँजीवाद के महाख्यान में कोई विच्छेद नहीं बल्कि उसी का एक हिस्सा है। फ्रासीवादी वास्तव में एक आधुनिक परिघटना है जिसे हम मोटे तौर पर बड़ी पूँजी की बर्बर और नग्न तानाशाही और साथ ही टटपुँजिया वर्गों के रूमानी उभार के रूप में व्याख्यायित कर सकते हैं। निश्चित तौर पर, यह समाज में मौजूद पुनरुत्थानवाद और प्राक्-आधुनिक तत्वों का इस्तेमाल करता है लेकिन वह इससे स्वयं कोई प्राक्-आधुनिक राजनीतिक परिघटना नहीं बन जाता है। फ्रासीवादी कोई भी दक्षिणपन्थी प्रतिक्रियावादी उभार नहीं है बल्कि यह एक सामाजिक आन्दोलन है। लेकिन इसे सिर्फ एक सामाजिक आन्दोलन कहना पर्याप्त नहीं होगा; साथ ही, इस राजनीतिक सामाजिक आन्दोलन का वर्ग विश्लेषण करना भी यहाँ अपरिहार्य होगा, अन्यथा उसे रवि सिन्हा के समान पूरे समाज और पूरी जनता पर यह कहकर थोपा जा सकता है कि 'जनता ने अपने विवेक' से फ्रासीवादियों को सत्ता में पहुँचाया।

फ्रासीवादी पूँजीवादी संकट का एक प्रतिक्रियावादी और बर्बर समाधान पेश करता है, जिसका क्रतई यह अर्थ नहीं है कि वह राजनीतिक तौर पर आधुनिक नहीं है। बुर्जुआ आधुनिकता का अनालोचनात्मक तौर पर जश्न नहीं मनाया जा सकता है, जैसा कि रवि सिन्हा करते हैं; न ही उसे पूरा का पूरा कचरा-पेटी में फेंका जा सकता है जैसा कि तमाम उत्तरआधुनिकतावादी, उत्तरऔपनिवेशिक सिद्धान्तकार और सबऑल्टर्न सिद्धान्तकार करते हैं (हालाँकि, ये सारे के सारे स्वयं बुर्जुआ आधुनिकता के दायरे का अतिक्रमण नहीं करते हैं, बल्कि उसके दक्षिणपन्थी, प्रतिक्रियावादी और जनविरोधी हिस्से में वास करते हैं)। एंगेल्स 'समाजवाद: काल्पनिक और वैज्ञानिक' में बुर्जुआ आधुनिकता का एक द्वन्द्वात्मक विश्लेषण पेश करते हैं और उसके एक दौर में ऐतिहासिक रूप से प्रगतिशील चरित्र की बात करते हुए, उसे बुर्जुआ वर्ग के शासन के नैसर्गिकीकरण के तौर पर भी देखते हैं। आज के दौर में जब पूँजीवादी व्यवस्था अपने सबसे पतनशील और मानवद्रोही दौर में प्रवेश कर चुकी है और पूरी मानवता के भविष्य पर उसने एक सवालिया निशान लगा दिया है, तो फिर बुर्जुआ आधुनिकता अपने आपको तमाम मानवद्रोही, जनविरोधी, बर्बर और प्रतिक्रियावादी रूप में पेश करेगी और कर भी रही है। जो व्यक्ति बुर्जुआ प्रबोधन और तर्कणा के प्रति भक्ति का रुख अपनाये हुए हो और एनाक्रॉनिस्टिक ढंग से उसके हैंग-ओवर में फँसा हुआ हो, केवल वही फ्रासीवादी के उभार पर यह सोच सकता है कि यह बुर्जुआ आधुनिकता का अंग नहीं है, बल्कि समाज में मौजूद सर्वसत्तावादी रुझानों

से पैदा हुआ है, जबकि राज्यसत्ता आधुनिक निकाय के तौर पर फ्रासीवादियों की बर्बरता को अपनी आधुनिक सभ्य-ता से प्रतिसन्तुलित कर रही है। रवि सिन्हा के पूरे सैद्धान्तिकीकरण में बुर्जुआ आधुनिकता प्रति एक फेटिश (fetish) को स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। और बुर्जुआ आधुनिकता के नैसर्गिक अंग और पूँजीवादी व्यवस्था की नैसर्गिक परिणति के तौर फ्रासीवाद के उभार के बरक्स स्वयं रवि सिन्हा भी एक प्रकार के 'डिनायल मोड' में चले गये हैं और बार-बार फ्रासीवादी उभार के चरित्र और उसके स्रोतों को प्राक्-आधुनिक क्रार देने पर तुले हुए हैं, जबकि वास्तव में ये दोनों ही निहायत आधुनिक चीजें हैं। ऐसा करके वस्तुगत तौर पर रवि सिन्हा बुर्जुआ आधुनिकता के एक 'अपॉलोजिस्ट' के तौर सामने आते हैं।

फ्रासीवाद के उभार का पूर्ण विश्लेषण पूँजीवादी व्यवस्था की राजनीतिक अर्थशास्त्रय आलोचना और ऐतिहासिक व्याख्या के बिना केवल समाजशास्त्रीयतावादी और प्रत्यक्षवादी ही हो सकता है। और रवि सिन्हा के विश्लेषण के साथ यही समस्या है। यह विश्लेषण फ्रासीवाद के उभार की अब तक की गयी मार्क्सवादी-लेनिनवादी और यहाँ तक कि अराजकतावादी और सामाजिक जनवादी व्याख्याओं से या तो अनभिज्ञ है या उन्हें सुविधाजनक चुप्पी के साथ नज़रन्दाज़ करता है। वामपन्थी विद्वानों के बीच फ्रासीवाद के उदय और विकास के कारणों को लेकर भारी बहस मौजूद रही है। कर्ट गॉसवीलर, ऐसन रैबिनबाख, टिम मेसन, माईकल कालेकी, ब्रेष्ट, लूकाच, डेविड अब्राहम, डेरैक लिण्टन आदि के विषय में रवि सिन्हा का विश्लेषण अनभिज्ञ है। अलग-अलग दृष्टिकोणों के बावजूद इन वामपन्थी विद्वानों के बीच एक बात को लेकर सहमति है: फ्रासीवाद एक आधुनिक परिघटना है और इसे किसी भी रूप में प्राक्-आधुनिक या आदिम प्रवृत्तियों से गड्ड-मड्ड करना केवल यह दिखलाता है कि आप पूँजीवादी आधुनिकता को ही नहीं समझते हैं। रैबिनबाख का यह कथन गौर करने योग्य है: "फ्रासीवाद निस्सन्देह रूप से एक आधुनिक परिघटना है। युद्धोत्तर उन्नत पूँजीवाद के दौर में पैदा हुए राज्य और समाज के सम्बन्धों के रूपान्तरण में यह बात सबसे अधिक देखी जा सकती है, हालाँकि यह उदार जनतन्त्र के सन्दर्भों में हुआ है।" (रैबिनबाख, 'टुवर्ड्स ए मार्क्सिस्ट थियरी ऑफ़ फाशिज़्म', रेज़िस्टिबल राइज़, सं. - मार्गिट कोव्स व शास्वती मजुमदार, लेफ़्ट वर्ड बुक्स, 2005, पृ. 71) आगे रैबिनबाख स्पष्ट करते हैं कि फ्रासीवादी उभार का चरित्र और आवश्यकताएँ ही ऐसी हैं कि वह टटपुँजिया वर्गों की प्रतिक्रियावादी गोलबन्दी के लिए ज़रूरी विचारधाराओं के लिए अतीत में देखता है और साथ ही उसकी भावी योजना समाज

और अर्थव्यवस्था का एक अतिरेकपूर्ण पूँजीवादी आधुनिक पुनर्गठन की होती है।

यह भी गौरतलब है यहाँ जिस अतीत की विचारधारा का फ्रासीवाद आवाहन करता है, वह कोई प्राक्-आधुनिक चीज नहीं है। वह वास्तव में एक गौरवशाली अतीत की आधुनिक कल्पना, आविष्कार और नवोन्मेष होता है। अतीत के “गौरव” के आवाहन की अनुगूँज टटपूँजिया जनसमुदायों के बीच इसलिए मिलती हैं क्योंकि इन वर्गों का संकट भी आधुनिक है और उसके समाधान की उनकी फैंटास्टिक (fantastic) अपेक्षाएँ भी मूलतः आधुनिक हैं! रैबिनबाख ने ही आगे लिखा है, “फ्रासीवाद के वे सिद्धान्त जो इन असंगत दिखने वाले क्षणों को नहीं समझते – यानी कि इसकी तकनोलॉजिकल और राजनीतिक आधुनिकता और इसका विचारधारात्मक परम्परावाद – वे अपूर्ण हैं।” (वही) रैबिनबाख के पूरे सिद्धान्त से सहमति न रखते हुए भी इस प्रेक्षण को कमोबेश सही माना जा सकता है। वाल्टर बेंजामिन ने एक जगह लिखा था, “अतीत का ऐतिहासिक आर्टिकुलेशन पेश करने का यह अर्थ नहीं है कि उसकी पहचान ठीक उस रूप में की जाये ‘जैसा कि वह वास्तव में था’ (रांके)। इसका अर्थ होता है स्मृति की उस कौंध को पकड़ना जो कि खतरे के क्षण में उपस्थित होती है। ऐतिहासिक भौतिकवाद अतीत की उस छवि को क्रायम रखना चाहता है जो कि इतिहास द्वारा अकेले किये गये व्यक्ति के समक्ष खतरे के क्षण में अनपेक्षित रूप में उपस्थित होती है। यह खतरा परम्परा की अन्तर्वस्तु और इसके प्राप्तकर्ताओं, दोनों को ही प्रभावित करती है। एक ही जोखिम उनके सिर पर लटक रहा होता है: शासक वर्ग का उपकरण बन जाने का।” (वॉल्टर बेंजामिन, ‘थीसीज़ ऑन दि फिलॉसफी ऑफ़ हिस्ट्री’, इल्यूमिनेशंस, फोण्टाना/कॉलिंस, ग्लासो, 1977, पृ. 257) इस उद्धरण में मौजूद जुडाइक मसीहावाद के प्रभाव को छोड़ दें, तो यह प्रेक्षण बिल्कुल सही है कि परम्पराओं और उसके प्राप्तकर्ताओं दोनों के सामने खतरे के क्षण में शासक वर्ग का उपकरण बन जाने का जोखिम मौजूद रहता है।

रवि सिन्हा का विश्लेषण एक अन्य मायने में फ्रासीवाद के उदय की व्याख्या करने वाले तमाम स्कूलों में से उदार बुर्जुआ स्कूलों के साथ जाकर खड़ा होता है और वास्तव में उनकी अवस्थितियों का एक दरिद्र मिश्रण है। इसमें से एक है फ्र्यूहरर-स्टेट का सिद्धान्त जो कि हिटलर जैसे किसी तानाशाह के सत्ता में पहुँचने को ‘जनता की इच्छा’ की अभिव्यक्ति मानते हैं। इस सिद्धान्त में जनता या समाज को एक जैविक पूर्णता (biological totality) या एकाश्मीय निकाय के तौर पर देखा जाता है। न तो यह सिद्धान्त समाज का कोई वर्ग विश्लेषण पेश करता है और न ही फ्रासीवादी

तानाशाही के वर्ग चरित्र को पर्याप्त रूप से स्पष्ट कर पाता है। इसलिए इसमें तानाशाह पर भी कुछ अति-केन्द्रण हो जाता है। ऐसा विश्लेषण ही 'अन्धकार के राजकुमार'-मार्का भाषा का इस्तेमाल कर सकता है। निश्चित तौर पर, 'राजकुमार', 'बर्बरो' आदि जैसे रूपकों का इस्तेमाल फ्रासीवाद के एक सम्पूर्ण वर्ग विश्लेषण में किया जा सकता है। लेकिन अगर पूरे विश्लेषण की जगह ही ऐसे साहित्यिक रूपक ले लें तो बात दिक्कततलब है!

रवि सिन्हा का विश्लेषण फ्रासीवाद के विश्लेषण को आधुनिक और प्राक्-आधुनिक के द्विभाजन के उपकरण द्वारा व्याख्यायित करने के प्रयास में (सम्भवतः अपनी इच्छा से स्वतन्त्र) पूँजीवादी व्यवस्था को दोषमुक्त कर देता है! क्योंकि फ्रासीवादी उभार उनके लिए पूँजीवादी व्यवस्था के आख्यान का एक नैसर्गिक अंग नहीं है बल्कि भारतीय या ऐसे समाजों में निहित सर्वसत्तावादी, प्राक्-आधुनिक, आदिम, बर्बरतापूर्ण प्रवृत्तियों का नतीजा है और उनकी प्रतिस्तुलनकारी ताकत अम्बेडकर द्वारा निर्मित बुर्जुआ उदार जनवादी संविधान और उसके द्वारा संचालित (?) राज्य व्यवस्था है! यह अद्वितीय विश्लेषण न चाहते हुए भी रवि सिन्हा को हेनरी ऐशबाई टर्नर जैसे असुधारणीय रूप से उदारवादी बुर्जुआ सिद्धान्तकारों की कतार में खड़ा कर देता है, जो कि फ्रासीवादी उभार और पूँजीवादी व्यवस्था के बीच के नाभिनालबद्ध सम्बन्ध को जाने या अनजाने या तो गायब कर देता है या फिर कमजोर कर देता है। आधुनिकता और प्राक्-आधुनिकता की 'बाइनरी' का रवि सिन्हा (केवल इस लेख में ही नहीं बल्कि अन्य स्थानों पर भी) जिस प्रकार इस्तेमाल करते हैं, उसे गाइल्स देल्यूज ने सही नाम दिया है : 'डिस्जंक्टिव सिन्थेसिस' (dysjunctive synthesis), यानी, छद्म विकल्पों का समुच्चय। रवि सिन्हा जो 'बाइनरी' हमारे सामने पेश कर रहे हैं और वास्तव में जिस बाइनरी से उनका पूरा विश्लेषण और उनके द्वारा दिये जाने वाले 'सबक' निर्धारित होते हैं, वह वास्तव में एक 'डिस्जंक्टिव सिन्थेसिस', एक छद्म विकल्पों की 'बाइनरी' है। फ्रासीवाद के विरुद्ध पूरे संघर्ष को इस 'बाइनरी' में अपचयित (तमकनबम) कर दिया गया है। और जो नतीजे निकले हैं, वे भयंकर हैं!

इसके अलावा, रवि सिन्हा के सैद्धान्तिकीकरण पर फ्रासीवाद के उभार के एक अन्य बुर्जुआ सिद्धान्त की छाया भी देखी जा सकती है, जिसे राष्ट्रीय विशिष्टता के सिद्धान्त से भी जाना जाता है। इसके एक सिद्धान्तकार जूर्गेन कोका ने दलील पेश की है कि जर्मन समाज सही मायने में कभी बुर्जुआ आधुनिक समाज नहीं था और यही कारण है कि वहाँ फ्रासीवाद का उदय हुआ; क्योंकि वहाँ अतार्किक,

प्रतिक्रियावादी विचारधाराओं और बर्बर मूल्यों व सिद्धान्तों के फलने-फूलने की ज़मीन मौजूद थी। यह सिद्धान्त इस बात की व्याख्या करने में असफल रहता है कि फ्रांसीवाद के उभार का पूँजीवाद के विकास के एक विशिष्ट क्षण से रिश्ता है और इस विशिष्ट क्षण में ही दुनिया के कई देशों में फ्रांसीवादी आन्दोलन पैदा हुए थे, हालाँकि उन्हें सफलता जर्मनी, इटली और एक हद तक स्पेन, हंगरी, पुर्तगाल, यूनान आदि जैसे देशों में ही मिली थी। आज के दौर में भी जब विश्व पूँजीवाद अभूतपूर्व संकट से गुजर रहा है, तो न केवल हम यूनान जैसे दक्षिण यूरोपीय देश में ‘गोल्डेन डॉन’ जैसी फ्रांसीवादी ताकतों का उभार देख रहे हैं, बल्कि फ्रांस जैसे आधुनिक समाज में (यानी, जितने अधिक से अधिक आधुनिक की आप कल्पना कर सकते हैं!) ‘नेशनल फ्रण्ट’ जैसी धुर दक्षिणपन्थी फ्रांसीवादी पार्टी के उभार को भी देख रहे हैं। ‘आधुनिक’ और ‘प्राक्-आधुनिक’ के छद्म विकल्पों के समुच्चय के ज़रिये आज फ्रांसीवादी और धुर दक्षिणपन्थी ताकतों के वैश्विक उदय की व्याख्या नहीं की जा सकती है। न तो भारत में फ्रांसीवादी उभार की विशिष्टता को रवि सिन्हा की पद्धति से पहचाना जा सकता है और न ही इसे फ्रांसीवाद के वैश्विक उभार की सामान्यता में अवस्थित किया जा सकता है।

यह है रवि सिन्हा द्वारा राज्य और समाज के सम्बन्धों के विषय में प्रस्तुत समझदारी, जिसे भरपूर उदारता के साथ राजनीतिक तौर पर उदार बुर्जुआ, व्यवहारवादी, सुधारवादी और सामाजिक-जनवादी और विचारधारात्मक तौर पर अनैतिहासिक, अवैज्ञानिक और अतार्किक कहा जा सकता है। ऐसे विश्लेषण से निकाले गये उनके पहले सबक के बारे में भी यही कहा सकता है। रवि सिन्हा का कहना है कि फ्रांसीवादी उभार का मुक्राबला करने के लिए फिलहाल जनता के पास जाना, उन्हें संगठित करना उपयुक्त रणनीति नहीं है 163 क्योंकि ऐसा करने पर फ्रांसीवादी भी जनता के बीच जायेंगे और उनकी पहुँच आपसे ज़्यादा होगी। लेखक वामपन्थ की पश्चिम बंगाल में तृणमूल कांग्रेस के हाथों हार का उदाहरण देते हुए पूछते हैं, “अगर वामपन्थ, मिसाल के तौर पर, पश्चिम बंगाल की सड़कों और खेतों में तृणमूल के खिलाफ नहीं लड़ पाया तो यह पूरे देश के शहरों, बस्तियों, गाँवों और जंगलों में अन्धकार के नये राजकुमार से कैसे लड़ेगा, अगर सारे वामपन्थी साथ आ जायें तो भी, जिसकी कम ही उम्मीद है।” रवि सिन्हा इस बात से पर्याप्त भयाक्रान्त नज़र आते हैं कि अन्धकार के नये राजकुमार को जनता से पर्याप्त सराहना, भय और प्रार्थनाएँ मिल रही हैं। हम देख सकते हैं कि समाज और जनता पर भरोसे के अभाव में वह काफ़ी डर गये हैं

और इसीलिए उन्होंने विश्लेषण के लिए सही आरम्भ बिन्दु नहीं चुना, यानी कि फ़्रासीवाद का उभार हुआ क्यों है और क्या हमारे पहले से ही जनता के बीच न जाने का इसमें कोई योगदान है? यही कारण है कि अन्त में वे बुरुआ जनवादी संवैधानिक संस्थाओं जैसे कि संसद और विधानसभाओं और साथ ही न्यायपालिका में फ़्रासीवाद के विरुद्ध संघर्ष करने का आह्वान करते हैं और उनके आदर्श हैं मुकुल सिन्हा और तीस्ता सेतलवाड़ा।

पहली बात तो यह कि उनके नतीजे में इस बात का कोई विश्लेषण नहीं है कि फ़्रासीवाद का उभार हुआ ही क्यों है, जिसे हमने पहले सही आरम्भ-बिन्दु का चुनाव न करना कहा है। निश्चित तौर पर, इसके वस्तुगत और मनोगत कारण दोनों ही हैं। पूँजीवाद का संकट वह वस्तुगत पृष्ठभूमि तैयार करता है, जिसमें फ़्रासीवादी शक्तियाँ फलती-फूलती हैं। लेकिन यह वस्तुगत आधार अपने आप में फ़्रासीवादी शक्तियों को सत्ता में नहीं पहुँचा देता है; वह फ़्रासीवादी शक्तियों के उदय की एक पूर्वशर्त है। वस्तुतः, यही पूँजीवादी संकट क्रान्तिकारी परिस्थितियों को भी तैयार करता है और एक क्रान्तिकारी सम्भावना को भी जन्म देता है। लेकिन यह भी केवल एक पूर्वशर्त की पूर्ति ही होता है। इतिहास के ऐसे दौर में जिस प्रकार का अभिकर्ता (agent) राजनीतिक-विचारधारात्मक तौर पर अधिक तैयार, सांगठनिक तौर पर अधिक सुदृढ़ और अधिक व्यापक सामाजिक पहुँच रखता है, उसी प्रकार की सम्भावना के वास्तविकता में तब्दील होने की गुंजाइश ज़्यादा होती है। फ़्रासीवाद का उदय इस रूप में वास्तव में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट शक्तियों की असफलता को दर्शाता है। जर्मनी, इटली, पुर्तगाल, स्पेन और हंगरी में भी नात्सीवादी और फ़्रासीवादी उभार समाजवादी आन्दोलन और मजदूर आन्दोलन के खण्डहर पर हुआ था। फ़्रासीवाद का उभार प्रतिरोध्य से अप्रतिरोध्य इसलिए नहीं बन जाता कि सम्बन्धित समाज में कुछ ऐसी अन्तर्निहित सर्वसत्तावादी रुझानें होती हैं जो कि समय-समय पर फ़्रासीवाद को सत्ता में पहुँचा देती हैं, जैसा कि रवि सिन्हा हमें यक्रीन दिलाना चाहते हैं! कम-से-कम फ़्रासीवाद का वैश्विक इतिहास तो ऐसा कुछ भी नहीं दिखलाता है; न ही फ़्रासीवादी उभार का राजनीतिक आर्थिक विश्लेषण ऐसा कुछ सिद्ध करता है। क्या जर्मनी और इटली में फ़्रासीवाद के उदय का इतिहास यह दिखलाता नहीं है कि सामाजिक-जनवाद की ग़द्दारी ने इसमें एक बहुत बड़ी भूमिका निभायी थी? क्या जर्मनी का इतिहास यह दिखलाता नहीं है कि वीमर गणराज्य के दौर में पूँजी और श्रम के बीच का असुविधाजनक विवाह अन्त में पूँजीवादी और टटपुँजिया प्रतिक्रिया के अंकुरण और प्रस्फुटन की

ओर ले गया? क्या जर्मनी का 1920 के दशक का पूरा इतिहास इस बात का गवाह नहीं है कि पूँजीवादी संकट ने जो क्रान्तिकारी सम्भावना पैदा की थी, मजदूर वर्ग की सच्ची हिरावल शक्तियाँ अपनी विचारधारात्मक, राजनीतिक और सांगठनिक कमजोरियों के कारण उन्हें हकीकत में तब्दील करने में नाकामयाब रहीं? ऐसे प्रश्न इटली, हंगरी, पुर्तगाल और स्पेन के इतिहास के बारे में भी पूछे जा सकते हैं। क्या इसे रवि सिन्हा-मार्का “वाम” का सामूहिक राजनीतिक एम्नीजिया नहीं कहेंगे कि वह भूल गया है कि अतीत में भी फ्रासीवाद का प्रतिरोध्य उभार अप्रतिरोध्य क्यों और कैसे बन गया? क्योंकि ऐसी विस्मृति के फलस्वरूप ही कोई फ्रासीवादी उभार से लड़ने का ऐसा बासी सामाजिक-जनवादी रास्ता सुझा सकता है, जो कि रवि सिन्हा सुझा रहे हैं और जो न सिर्फ़ इतिहास में बार-बार पिट चुका है बल्कि साथ ही फ्रासीवाद के उभार का कारण भी बना है। यह एक मजाकिया डर है कि अगर हम जनता के बीच जाकर फ्रासीवाद के विरुद्ध संघर्ष के लिए उसे गोलबन्द और संगठित करेंगे तो सत्ताधारी फ्रासीवादी भी और ज़्यादा बड़े पैमाने पर जनता के बीच जायेगा और हमारे लिए अस्तित्व का संकट पैदा कर देगा! वास्तव में फ्रासीवाद सत्ताधारी बना इसलिए क्योंकि क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन हमारे देश में विचारधारात्मक, राजनीतिक और सांगठनिक तौर पर बिखरा हुआ और कमजोर है और जनता के व्यापक हिस्सों में पहुँच नहीं रखता है! बाईबिल की भाषा में बात करें तो यहाँ ‘मूल पाप’ सामाजिक-जनवादियों के कुकर्म हैं कि उन्होंने संघी फ्रासीवादियों को सड़क पर ‘इंगेज’ करने का साहस और मजबूती ही नहीं दिखलायी। साथ ही हमारे देश में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों का कठमुल्लावाद और संकीर्णतावाद भी इसके लिए उतने ही ज़िम्मेदार हैं कि उन्हें जहाँ होना था वे वहाँ नहीं हुए; कि उन्होंने भारत के विशाल सर्वहारा वर्ग को फ्रासीवादी कारपोरेटिज़्म और संशोधनवादियों के भरोसे छोड़ दिया। और अब उसी ‘मूल पाप’ के नये सिरे से और पहले से भी ज़्यादा भयंकर दुहराव का नुसखा हमें रवि सिन्हा सुझा रहे हैं। फ्रासीवाद के उदय के पीछे वस्तुगत ज़मीन तैयार होने के अलावा (क्योंकि वे तो किसी भी सूरत में आवर्ती चक्रीय क्रम में बार-बार तैयार होंगे ही) मनोगत शक्तियों की जो तमाम कमजोरियाँ ज़िम्मेदार थीं, रवि सिन्हा उनमें से कम-से-कम कुछ को दुहराने की वकालत कर रहे हैं और उसके पक्ष में पाण्डित्यपूर्ण भाषा में तर्क भी पेश कर रहे हैं। उनका मूल तर्क यह है कि फ्रासीवादी शक्तियों से सड़क पर, समाज में संघर्ष को फिलहाल अनिश्चितकाल के लिए स्थगित कर दिया जाना चाहिए और फिलहाल अपने संघर्ष को अदालत और

संसद-विधानसभा जैसी संवैधानिक संस्थाओं में सीमित कर दिया जाना चाहिए। इसी बाबत मुकुल सिन्हा और तीस्ता सेतलवाड़ की मिसाल दी गयी है। इसमें कोई दो राय नहीं है कि मुकुल सिन्हा और तीस्ता सेतलवाड़ का संघर्ष कई मायनों में साहसिक है और उन्होंने समझौताविहीन क्रान्ती संघर्ष चलाया है। लेकिन उनके संघर्ष अपनी साहसिकता और सिद्धान्तनिष्ठ होने के बावजूद क्या ठीक इसी बात की ताईद नहीं करते हैं कि महज ऐसे संघर्षों से फ़्रासीवाद का मुकाबला कर पाना, फ़्रासीवादी उभार को रोक पाना सम्भव नहीं है? क्या वे ठीक इसी बात को सिद्ध नहीं करते हैं कि ऐसे तमाम संघर्ष वास्तव में बर्बर फ़्रासीवादियों को सभ्य बनने पर मजबूर करने में नाकाम रहे हैं? बाबरी मस्जिद के ध्वंस से लेकर गुजरात नरसंहार तक क्या इक्के-दुक्के निम्न स्तर के लम्पटों, गुण्डों या छुटभैया नेताओं को कुछ समय तक सलाखों के पीछे रखने के अलावा ऐसे क्रान्ती संघर्ष (जिन वांछनीयता पर कोई प्रश्न नहीं है) कुछ और कर पाये हैं? निश्चित तौर पर, फ़्रासीवाद के विरुद्ध बुर्जुआ संवैधानिक और क्रान्ती संघर्षों की फ़्रासीवाद-विरोधी जन गोलबन्दी और आन्दोलन के एक अंग के तौर पर ही कोई प्रासंगिकता है। लेकिन समूचे फ़्रासीवाद-विरोधी संघर्ष को कुछ समय के लिए भी महज क्रान्ती-संवैधानिक संघर्ष तक सीमित कर देना बुर्जुआ संवैधानिक जनवाद के प्रति रवि सिन्हा के भयंकर विभ्रमों को ही दिखलाता है। फ़्रासीवाद के इतिहास पर भी नज़र डालें तो ऐसे क्रान्ती संघर्ष वास्तव में फ़्रासीवाद के लिए खुजली का कारण भी नहीं बने हैं, या फिर ज़्यादा से ज़्यादा खुजली का ही कारण बने हैं! कोस्ता गावरास जैसा एक रैडिकल फ़िल्मकार भी इस सच्चाई को ज़ेडनामक अपनी प्रसिद्ध फ़िल्म में खूबसूरती के साथ पेश करता है। बर्टोल्ट ब्रेष्ट ने भी दि रेज़िस्टिबल राइज़ ऑफ़ आर्तुरो उई में इस सत्य को उघाड़कर सामने रखा है। और जहाँ तक अकादमिक और ग़ैर-अकादमिक मार्क्सवादी-लेनिनवादी विश्लेषण की बात है, तो बुर्जुआ संविधान और क्रान्ती के दायरे में फ़्रासीवाद-विरोधी संघर्षों की उपयोगिता और साथ ही सीमाओं पर पहले ही बहुत कुछ लिखा जा चुका है, जिनमें से कुछ नामों का हम ऊपर ज़िक्र कर चुके हैं। लेकिन रवि सिन्हा की 'विवेकवान' व्यवहारवादी वाम अवस्थिति कोस्ता गावरास जैसे रैडिकल फ़िल्मकार की अवस्थिति से भी पीछे जा चुकी है। वास्तव में, यह अवस्थिति एक क्रिस्म के पराजयवाद और हताशा से पैदा हुई अवस्थिति है और साथ ही फ़्रासीवादी उभार के समक्ष क्रान्तिकारियों के अपरिहार्य कार्यभारों को अनिश्चितकाल तक स्थगित या रद्द करने देने का घोषणापत्र पेश करती है। और ग़ौरतलब बात यह है कि अकादमिक और आम बौद्धिक मानकों से भी देखा जाये तो यह अवस्थिति बेहद दरिद्र है। स्पष्ट है

कि क्रान्नी और संवैधानिक दायरे में फ़ासीवादी ताक़तों के विरुद्ध होने वाला संघर्ष आम तौर पर और ऐतिहासिक तौर पर केवल बुर्जुआ लीगैलिटीकी सीमाओं को ही दिखलाने के तौर पर उपयोगी सिद्ध हुआ है। लेकिन अगर कोई इससे ज़्यादा उम्मीद लगाकर बैठा है तो उसे भारी सदमे के लिए तैयार रहना चाहिए।

दूसरा सबक़ : बुर्जुआ जनवादी संवैधानिक उदार कल्याणकारी राज्य की जय हो!

पीचम : “क्रानून केवल एक चीज़ के लिए बना था, उन लोगों के शोषण के लिए जो इसे नहीं समझते, या जो नग्न दरिद्रता के कारण इसका पालन नहीं कर पाते। जो भी इस शोषण के कुछ टुकड़े चाहता है उसे स्वयं क्रानून का सख्ती से पालन करना चाहिए।”

ब्राउन : “अच्छा, तो आप मानते हैं कि हमारे न्यायाधीश भ्रष्ट बनाये जा सकते हैं।”

पीचम : “क्रतई नहीं, महाशय, क्रतई नहीं। हमारे न्यायाधीश तो बिल्कुल भ्रष्टाचार से परे हैं: लेकिन सिर्फ़ पैसा उन्हें एक न्यायपूर्ण फ़ैसला सुनाने के लिए प्रेरित नहीं कर सकता है।”

(बेटॉल्ट ब्रेष्ट, ‘श्री पेनी ऑपेरा’)

रवि सिन्हा का दूसरा सबक़ इस बाबत है कि जनवाद की प्रक्रियाएँ और रूप कैसे होने चाहिए? यानी कि जनवाद का पूरा ढाँचा कैसा हो। इस बारे में उनका मानना है कि जनवाद का केवल मज़बूत होना, तृणमूल धरातल पर होना और भागीदारी से भरा हुआ होना पर्याप्त नहीं है। वह तमाम नव दार्शनिकों, एनजीओ सिद्धान्तकारों, सामाजिक आन्दोलनों और मैगसेसे पुरस्कार विजेताओं की इस बात के लिए आलोचना करते हैं कि उन्होंने केवल भागीदारी जनवाद, तृणमूल जनवाद आदि जैसी अवधारणाओं पर बल दिया है। लेखक उन तमाम भागीदारी जनवाद समर्थकों की इस बात के लिए आलोचना करता है कि उन्होंने ‘आम आदमी पार्टी’ के रूप में भारतीय राजनीतिक दृश्यपटल पर उपस्थित हुए नये योद्धाओं की सराहना की जिन्होंने ‘नीचे से जनवाद’, ‘भागीदारी जनवाद’, ‘मुहल्ला जनवाद’ आदि जैसी अवधारणाओं को लागू करने का प्रयास किया, हालाँकि इन बौद्धिकों में कुछ ऐसे भी थे जो इनके रखवाले वाले

रुख (vigilantism) को लेकर सशक्त थे। लेकिन इसके बावजूद ऐसे बौद्धिकों ने 'व्यवस्था को अन्दर तक हिला डालने' के लिए 'आप' की प्रशंसा की। रवि सिन्हा तृणमूल जनवाद या भागीदारी जनवाद की अपने कारणों और अपने तरीके से हिमायत करने वाले वामपन्थियों की भी इस बात की आलोचना करते हैं कि उन्होंने भी भागीदारी जनवाद के समर्थन के चक्कर में एक अहम नुक्ता नज़रन्दाज़ कर दिया है। रवि सिन्हा के अनुसार भागीदारी जनवाद राजनीतिक प्रक्रिया को गाढ़ा या सघन बनाता है और साथ ही निर्णय लेने की प्रक्रिया को धुंधला और अपारदर्शी बनाता है। लेकिन रवि सिन्हा के अनुसार केवल तृणमूल या भागीदारी जनवाद की अवधारणा जनवाद पर कहर भी बरपा कर सकती है, जैसा कि खाप पंचायतों और 'आप' के शासन के दौरान खिड़की एक्सटेंशन की घटना ने दिखलाया; लेकिन अपने उदाहरणों में चलते-चलते रवि सिन्हा 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' को भी जोड़ देते हैं, जिसके दौरान भीड़ के जनवाद ने अपने जौहर दिखाये थे! इस पर हम थोड़ा आगे आयेंगे। रवि सिन्हा दावा करते हैं कि वामपन्थी लोग भागीदारी जनवाद का समर्थन इस ज़मीन से करते हैं कि उनके लिए बुर्जुआ जनवाद की किसी संस्था या प्रथा का कोई उपयोग नहीं है क्योंकि वे सभी तो पूँजी के हितों की सेवा के लिए बनायी गयी थीं। और इसीलिए वामपन्थी लोग पूँजीवाद के तहत भी बस जनवाद को अधिक से अधिक भागीदारीपूर्ण और प्रत्यक्ष बनाने के लिए संघर्ष करते हैं! रवि सिन्हा के मुताबिक़ ये सारे लोग भागीदारी जनवाद की हिमायत करते हुए यह बात भूल जाते हैं कि एक मज़बूत जनवादी परम्परा और संवैधानिक-प्रातिनिधिक-उदार जनवादी व्यवस्था और संरचना के बिना तृणमूल या भागीदारी जनवाद एक ऐसी दीवार होती है जो दोनों तरफ़ गिर सकती है, एक दुधारी तलवार होती है। **इसलिए एक क़ानून और नियम से बँधा जनवादी संवैधानिक राज्य होना बहुत आवश्यक है क्योंकि प्राक्-आधुनिक जनता पर भरोसा नहीं किया जा सकता है।**

चलते-चलते वामपन्थियों पर यह दृष्टिकोण भी थोप दिया जाता है कि उनका यह मानना है कि बुर्जुआ जनवाद को लाने के लिए जनता ने कुछ भी नहीं किया, यह तो पूँजी के हितों में पूँजीपतियों द्वारा बनाया गया एक उपकरण मात्रा है। फिर लेखक सीख देता है कि समाजवाद आने पर बुर्जुआ जनवाद की कई संस्थाओं को हमें लेना होगा और उनमें समाजवाद के केन्द्रीय सिद्धान्तों के मुताबिक़ बदलाव करना होगा। क्योंकि बुर्जुआ जनवाद केवल राज्य और सत्ता की संरचनाओं का मसला नहीं है बल्कि इसका रिश्ता नागरिकों के अधिकारों, पसन्द और आज्ञादियों से भी जुड़ा हुआ है! इसके बाद रवि सिन्हा कहते हैं कि जनवाद राज्यसत्ता की संरचना को संघटित

करने का रूप भी होता है और सत्ता की सभी संरचनाएँ अन्तिम विश्लेषण में स्वतन्त्रता का निषेध करती हैं। इसलिए इंसानियत को अगर तरक्की करनी है तो उन्हें सत्ता की संरचनाओं को अधिक से अधिक कमजोर और पारदर्शी बनाने जाना होगा और इसी प्रक्रिया में अन्त में वे विलोपित हो जायेंगी। ऐसा सच में होगा इसको लेकर लेखक थोड़ा सशंकित है लेकिन वह मानता है कि इससे कम-से-कम यह तो साबित होता ही है कि हमें जनवाद और राज्य की संरचनाओं को अधिक से अधिक पारदर्शी बनाना होगा। राज्य ऐसे में सिंकुड़ेगा और जीवन के तमाम क्षेत्र उसकी पकड़ से बाहर होंगे। लेकिन रवि सिन्हा के मुताबिक पूँजीवाद के मातहत यह आजादी को बढ़ायेगा नहीं बल्कि राज्य की पकड़ से जो कुछ छूटेगा वह बाज़ार की पकड़ में जायेगा। इसलिए पूँजीवाद के तहत राज्य का पारदर्शी होना बहुत ज़रूरी है और ऐसा केवल भागीदारी जनवाद से नहीं बल्कि एक जनवादी संवैधानिक राज्य व्यवस्था के ज़रिये ही हो सकता है क्योंकि भागीदारी जनवाद किसी युग की जनवादी भावना और संस्कृति को एकसमान रूप में आत्मसात नहीं करता है। यह काम रवि सिन्हा के मुताबिक एक संवैधानिक जनवादी राज्य करता है! उनके अनुसार ऐसे राज्य को लोग भी बना सकते हैं और यह भागीदारी जनवाद के उसूलों का खण्डन भी नहीं होगा। अब दूसरे सबक में अन्तर्निहित इस पूरी तर्क प्रणाली का थोड़ा अध्ययन कर लिया जाये।

इस दूसरे सबक का मर्म यह है कि भागीदारी जनवाद या तृणमूल जनवाद अपने आप में पर्याप्त नहीं है, विशेष तौर पर हमारे यहाँ और अन्य प्राक्-आधुनिक समाजों में क्योंकि वहाँ समाज या जनसमुदाय “उस युग की आधुनिक भावना” को एकसमान रूप में आत्मसात नहीं करते हैं; ऐसे में, यदि कोई नियम व क़ानून से बँधा हुआ जनवादी राज्य नहीं होगा, तो जनता का भागीदारी जनवाद वास्तव में जनवाद को नष्ट भी कर सकता है! लेकिन राज्य यहाँ “युग की आधुनिक भावना” का नैसर्गिक वाहक माना गया है। यहाँ रवि सिन्हा का ड्यूईवादी व्यवहारवाद पूरी तरह खुलकर सामने आया है। जैसा कि हमने ऊपर कहा है, ड्यूई का यही सिद्धान्त था कि राज्य सर्वाधिक तार्किक अभिकर्ता (most rational actor/agent) होता है और समाज में मौजूद असंगतियों और अन्तरविरोधों को अपने सकारात्मक तार्किक हस्तक्षेप से प्रति-सन्तुलित करता है। ड्यूई का दूसरा उपकरण समाज में एक नैतिक संहिता की मौजूदगी था जिसकी आपूर्ति एक समानतामूलक धर्म द्वारा भी की जा सकती थी; अम्बेडकर ने इन्हीं दोनों ड्यूईवादी दलीलों को हूबहू अपनाया था; लेकिन रवि सिन्हा इन दोनों बातों को हूबहू नहीं अपनाते हैं; उनके सैद्धान्तिकीकरण में नैतिक संहिता की जगह जॉन रॉल्स

की सार्वजनिक तर्कणा (public reason) जैसी कोई चीज़ ले लेती है। यहाँ जॉन रॉल्स के विचारों का रवि सिन्हा पर असर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। चूँकि भारतीय व अन्य प्राक्-आधुनिक समाजों में ऐसी सार्वजनिक तर्कणा मौजूद नहीं है; चूँकि समाज ने “युग की आधुनिक भावना” को आत्मसात नहीं किया है, इसलिए उनके सैद्धान्तिकीकरण में एक बुर्जुआ जनवादी उदार संवैधानिक राज्य की भूमिका और भी ज़्यादा बढ़ जाती है। अगर ड्यूई और रॉल्स में राज्यसत्ता की भूमिका एक सुगठित समाज (well-ordered society), यानी कि एक सार्वजनिक तर्कणा और राजनीतिक बहुलता को अपनाने वाले समाज में पैदा होने वाले विरोध में पंच या मध्यस्थ की होती है, तो रवि सिन्हा के सैद्धान्तिकीकरण में एक जनवादी संवैधानिक राज्य की मौजूदगी प्राक्-आधुनिक, सर्वसत्तावादी समाज की बर्बरता को रोकने की गारण्टी है। लेकिन ड्यूई और रॉल्स जैसे व्यवहारवादी, उदार बुर्जुआ चिन्तकों से पद्धति की समानता को स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। राज्य दोनों ही सूरत में आधुनिक तर्कणा का मूर्त रूप (embodiment of modern reason) है। उसकी अवस्थिति रवि सिन्हा के सिद्धान्तों में वही है जो कि हेगेल की विचार-पद्धति में देमी उगॉस (परम विचार) की है। रॉल्स पर काण्ट के विचारों के असर से लोग वाकिफ़ हैं।

काण्ट के राज्य के सिद्धान्त के दो बुनियादी आधार हैं। पहला यह कि साथ रहने वाले मनुष्य स्वतन्त्र तभी हो सकते हैं जब उनके पास एक दूसरे के बरक्स कुछ अधिकार हों (जिसे काण्ट बाह्य स्वतन्त्रता कहते हैं); आन्तरिक स्वतन्त्रता का रिश्ता मनुष्य के नैतिक व तार्किक निर्णय-निर्माण प्रक्रिया से है; दूसरा यह कि ऐसा तभी सम्भव है जब सभ्यता/नागरिकता (civility) की स्थिति को सुनिश्चित किया जाये और इसे सुनिश्चित करने का कार्यभार तर्कणा के मूर्त रूप के तौर पर राज्य करता है। अगर इन विचारों की रोशनी में हम रवि सिन्हा के राज्य और समाज के सम्बन्धों के सिद्धान्त को देखें तो हम पाते हैं कि उनका चिन्तन उदार बुर्जुआ विचारधारा की परम्परा में मज़बूती से जड़ित (embedded) है।

उनके दूसरे सबक में, यानी कि भागीदारी जनवाद के अपने आप में अपर्याप्त होने और एक नियमबद्ध संवैधानिक उदार बुर्जुआ राज्य की वांछनीयता में, हम स्पष्ट तौर पर इस चीज़ को देख सकते हैं। निश्चित तौर पर, जैसा कि वह खुद भी मानते हैं, यह दूसरा सबक उनके पहले सबक की ही निरन्तरता में है और उससे जुड़ा हुआ है। और यह निरन्तरता क्या है? आधुनिक राज्य और प्राक्-आधुनिक समाज का वही अनैतिहासिक और गैर-द्वन्द्वत्मक द्विभाजन जिस पर रवि सिन्हा का पूरा सिद्धान्त

खड़ा है। यहाँ एक प्रासंगिक प्रसंगान्तर कर हम आगे बढ़ सकते हैं। ग्राम्शी का भी यह मानना था कि इतालवी समाज में पिछड़ेपन और परम्परागत विचारों के प्रभाव में टटपुँजिया आबादी और यहाँ तक कि मजदूर आबादी के एक हिस्से ने फ्रासीवाद का समर्थन किया था और समाज के कुछ हिस्सों में सांस्कृतिक-ऐतिहासिक तौर पर ऐसी सम्भावना-सम्पन्नता थी कि वह बर्बरता की ताकतों का समर्थन करे। लेकिन ग्राम्शी का स्पष्ट तौर पर यह मानना था कि यह बर्बरता पूँजीवाद और पूँजीवादी आधुनिकता द्वारा समायोजित है और साथ ही किसी भी क्रिस्म का बुर्जुआ राज्य आज उसे सीमित, अनुशासित या नष्ट नहीं कर सकता है; केवल एक सर्वहारा वर्ग का राज्य ही ऐसा काम कर सकता है। ग्राम्शी की पूरी अवस्थिति पर हम यहाँ विस्तार से चर्चा नहीं कर सकते हैं, लेकिन दिलचस्पी रखने वाले पाठक उनके लेख 'ऑन फ़ाशिज़्म' (1921) में देख सकते हैं। अब रवि सिन्हा के तृणमूल भागीदारी जनवाद और संवैधानिक बुर्जुआ उदार जनवादी राज्य के तुलनात्मक अध्ययन की चर्चा पर लौटते हैं।

रवि सिन्हा का कहना है कि सभी विचारधाराओं के लोगों में इस बात को लेकर सहमति है कि एक मजबूत, तृणमूल, भागीदारी जनवाद वांछनीय है। इसमें वे नवदार्शनिकों, सामाजिक आन्दोलन वालों, एनजीओ-पन्थियों, वामपन्थियों और मैगसेसे पुरस्कार विजेताओं जैसे सभी लोगों को जोड़ देते हैं। नवदार्शनिकों, सामाजिक आन्दोलन वालों और एनजीओ-पन्थियों की आलोचना रवि सिन्हा यहाँ यह नहीं समझने के लिए करते हैं कि भागीदारी जनवाद के साथ एक जनवादी संवैधानिक राज्य की अनिवार्यता है! **यह वैसा ही है कि कोई ख़राब वायलिन बजाने के लिए हिटलर की आलोचना करे!** साम्राज्यवादी फण्डिंग एजेंसियों, बुर्जुआ सरकारों और पूँजीपतियों के वित्त-पोषण से चलने वाले 'सामाजिक आन्दोलनों' और एनजीओ वालों की विचारधारा क्या है और वह वस्तुगत तौर पर क्या भूमिका अदा कर रहे हैं, रवि सिन्हा की आलोचना का निशाना यह नहीं है। वैसे भी 'सामाजिक आन्दोलन' किस बला का नाम है यह हम आज तक नहीं समझ पाये! यह शब्द मेरे विचार में जयप्रकाश नारायण के 'सम्पूर्ण क्रान्ति' के जैसा शब्द है, इन अर्थों में कि ये दोनों ही शब्द पुनरुक्तिपूर्ण (tautological) हैं। मतलब, कौन-सा आन्दोलन सामाजिक नहीं होता है? और कौन-सी क्रान्ति सम्पूर्ण नहीं होती है? जब इस प्रकार की पुनरुक्ति मौजूद हो तो वास्तव में उसके पीछे दूसरे अर्थ छिपे होते हैं। मिसाल के तौर पर, 'सम्पूर्ण क्रान्ति' का नारा दिया ही वास्तविक क्रान्तिकारी आन्दोलन और लहर को व्यवस्था द्वारा सहयोजित कर लेने के लिए गया था। उसी प्रकार, सामाजिक आन्दोलन एक दूसरे प्रकार के आन्दोलन, यानी कि राजनीतिक आन्दोलन

के विकल्प के तौर पर पेश किया गया है। ‘सामाजिक आन्दोलन’, मतलब कि जो राजनीतिक न हो; जो राज्यसत्ता के प्रश्न को न उठाये! आज के सारे तथाकथित सामाजिक आन्दोलनों की यही तो ख़ासियत है – वे जनता की तमाम समस्याओं को उठाने की बात करते हुए कभी यह नहीं बताते कि शत्रु कौन है? लड़ना किसके खिलाफ़ है? लेकिन रवि सिन्हा एनजीओपन्थियों और सामाजिक आन्दोलन वालों की यह आलोचना पेश नहीं करते हैं! वह तर्जनी उठाकर उन्हें सीख देते हैं, ‘दोस्तो! सिर्फ़ भागीदारी जनवाद से काम नहीं चलेगा, बल्कि एक संवैधानिक जनवादी राज्य भी ज़रूरी है!’ या यूँ कहें कि इन बेचारों ने “युग की आधुनिक भावना” को पर्याप्त रूप से आत्मसात नहीं किया है, इसलिए रवि सिन्हा ने इनकी आलोचना पेश की है। इसीलिए हमने कहा कि यह ख़राब वायलिन बजाने के लिए हिटलर की आलोचना करने के समान है।

संवैधानिक जनवादी राज्य की वांछनीयता को न समझने और दूसरे कारणों से भागीदारी जनवाद का समर्थन करने के लिए रवि सिन्हा वामपन्थियों को भी लताड़ते हैं! वास्तव में, एक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट राजनीतिक रूप से अयोग्य और नपुंसक शब्दावली में जनवाद के प्रकार या उनकी वांछनीयता के बारे में चर्चा करता ही नहीं है। यहाँ पर भी रवि सिन्हा ने एक ‘डिस्ज़ंक्टिव सिन्थेसिस’ पेश की है – भागीदारी जनवाद बनाम संवैधानिक उदार बुर्जुआ जनवाद! यह शब्दावली अंशतः आई.एम.एफ.-वर्ल्ड बैंक विमर्श, अंशतः वर्ल्ड सोशल फोरम विमर्श और अंशतः रूसो, लॉक, ड्यूई, रॉल्स की उदार बुर्जुआ चिन्तन परम्परा से उधार ली हुई है। मार्क्सवाद जनवाद के प्रश्न को इस तरह से देखता ही नहीं है। पहली बात तो यह है कि संवैधानिक उदार बुर्जुआ जनवाद और जिसे रवि सिन्हा भीड़ जनवाद कहते हैं, भारत में उनके बीच कोई विशेष और वास्तविक अन्तरविरोध अभी तक उपस्थित ही नहीं हुआ है और इसकी उम्मीद भी कम है कि भविष्य में ऐसा होगा। निश्चित तौर पर, कोई भी प्रगतिशील व्यक्ति खाप पंचायतों के “भागीदारी जनवाद” का विरोध करेगा; लेकिन आकाशकुसुम की अभिलाषा करने वाला कोई भोला-भाला और उदार बुर्जुआ जनवादी विभ्रमों का शिकार कोई प्रगतिशील व्यक्ति ही इस भयंकरता का मुक़ाबला करने के लिए इस देश की अदालतों और नियमबद्ध क़ानून व्यवस्था पर भरोसा कर सकता है। हमारे देश के स्वातन्त्रयोत्तर इतिहास पर निगाह डालें तो कुछ अपवादों को छोड़कर आप एक भी उदाहरण दे सकते हैं जिसमें हमारे लेखक की प्राच्य प्राक्-आधुनिक बर्बरता का मुक़ाबला हमारे देश की आधुनिक सभ्य/नागरिक क़ानूनबद्ध राज्य व्यवस्था द्वारा

किया गया हो? या फिर कभी उदार बुर्जुआ संवैधानिक राज्य ने फ्रासीवादी बर्बरों को सभ्य बनाया हो, इसका कोई उदाहरण आप दे सकते हैं? अगर ऐसा होता तो 2002 गुजरात नरसंहार का घटित होना भी सम्भव था? क्या गुजरात नरसंहार को अंजाम देने वाली ताकतों का अदालती या क्रान्ती संघर्ष वास्तव में कुछ खास बिगाड़ पाया? अगर कोई झूठी उम्मीद इतने वर्षों के अनुभवों के बावजूद बनी हुई है तो इसे असुधारणीय बुर्जुआ विभ्रम न कहा जाये तो क्या कहा जाये?

सच तो यह है कि भागीदारी जनवाद या संवैधानिक जनवादी राज्य व्यवस्था दोनों ही अपने आप में दमनकारी या बर्बर भी हो सकते हैं और वे वास्तव में प्रगतिशील और जनता की पहलकदमी को खोलने वाले भी हो सकते हैं। इन रूपों (forms) के बीच कोई द्विभाजन खड़ा करके और इस प्रकार का रूपवादी (formalist) विश्लेषण पेश करके इनके बारे में सिर्फ विभ्रम ही फैलाये जा सकते हैं। असल प्रश्न यहाँ इन अलग-अलग क्रिस्म की संस्थाओं के वर्ग चरित्र और उसके नेतृत्व का है। अगर जनता के सत्ता के अपने तृणमूल निकायों में जनता की राजनीतिक चेतना और सक्रियता नहीं होगी और अगर वहाँ एक सर्वहारा हिरावल का नेतृत्व मौजूद नहीं होगा, तो निश्चित तौर पर ऐसी संस्थाएँ अज्ञात चर राशि (unknown variable) बन सकती हैं। क्योंकि क्रान्तिकारी जन-चेतना कोई सहज उपलब्ध और आदर्श रूप में मौजूद वस्तु नहीं होती है, बल्कि सतत राजनीतिक व विचारधारात्मक वर्ग संघर्ष के जरिये और द्वन्द्ववात्मक रूप में निःसृत होती रहती है। असल प्रश्न यहाँ जनवाद की संस्था की क्रिस्म का या फिर उस समाज (मानो कि वह कोई एकात्मिक निकाय हो!) के सारतः आधुनिक या प्राक्-आधुनिक होने का नहीं बल्कि उनकी राजनीतिक-विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु का है, जिसका निश्चित तौर पर एक वर्ग चरित्र होता है। लेकिन रवि सिन्हा का पूरा विश्लेषण जनवाद के रूप पर ही सीमित है। उसकी वर्ग अन्तर्वस्तु के बारे में उनका विश्लेषण शान्त है। अगर हम यह भी मान लें कि लेख की विषय-वस्तु केवल पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर फ्रासीवाद के प्रतिरोध की रणनीति तक सीमित है, तब भी वह बुर्जुआ जनवाद के दो रूपों के तुलनात्मक अध्ययन से आगे नहीं जाते और उनमें फ़र्क करने की उनकी कसौटी आधुनिकता और प्राक्-आधुनिकता है। यही कारण है कि रवि सिन्हा महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान जागृत जन पहलकदमी और खाप पंचायत और “खिड़की एक्सटेंशन गणराज्य” में कोई फ़र्क नहीं कर पाते हैं। उनकी वर्ग पक्षधरता गायब है। उनके लिए आधुनिक बनाम प्राक्-आधुनिक के सिवा और कोई पैमाना नहीं है। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान समाजवादी राज्य और व्यवस्था

में मौजूद बुर्जुआ विरूपताओं और नौकरशाहाना विरूपताओं के खिलाफ जनता का जो आक्रोश फूटा था, वह प्यारे, नर्म-नर्म, शराफत भरे विमर्शवादी अन्दाज़ में नहीं अभिव्यक्त हो सकता था। वह एक राजनीतिक संघर्ष था जो चीन में समाजवादी सर्वहारा सत्ता के अस्तित्व का प्रश्न उठा रहा था। नतीजतन, उस संघर्ष में सर्वहारा जनसमुदायों के राजनीतिक व्यवहार में निश्चित तौर पर ग़ैर-जनवादी तत्व थे; उतने ही ग़ैर-जनवादी तत्व जितना कि एक युद्ध में की जाने वाली हिंसा में मौजूद होते हैं। क्या युद्ध में की जाने वाली ठोस हिंसा में जनवाद होता है? हमें नहीं लगता। यूँ तो किसी भी आमूलगामी परिवर्तन या क्रान्ति की ठोस तात्कालिक प्रक्रिया औपचारिक तौर पर जनवादी नहीं होती है! सामन्ती वर्ग के बुद्धिजीवियों ने बास्तीय के कारागार पर धावे को भी भीड़ की हरकत ही करार दिया था! लगभग उसी ज़मीन से उदार बुर्जुआ जनवादी बुद्धिजीवी न सिर्फ़ महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति को भीड़ जनवाद आदि जैसी संज्ञा देते हैं, बल्कि मज़दूर वर्ग की तमाम अन्य कार्रवाइयों को भी भीड़ की कार्रवाई करार देते हैं। फ़ैसला सुनाने का यह पूरा स्वर स्पष्ट तौर पर बुर्जुआ कुलीनता के रंग में रंगा हुआ है। वर्ग संघर्ष या कहें कि वर्ग युद्ध की ठोस अभिव्यक्तियों में यदि कोई उदार बुर्जुआ जनवादी बुद्धिजीवी शराफ़त और विमर्श के तत्व ढूँढ़ेगा तो उसे निश्चित तौर पर धक्का लगेगा; इस धक्के की पैथोलॉजिकल प्रतिक्रिया उसकी राजनीतिक दृष्टि को धूमिल कर देगी। **धूमिल दृष्टि के साथ हर वर्ग संघर्ष में भीड़ ही नज़र आती है! और यही रवि सिन्हा के साथ हुआ है।** और यही कारण है कि वे खाप पंचायत, खिड़की एक्सपेंशन की घटना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति में कोई फ़र्क़ नहीं कर पाते हैं। बहरहाल, मूल चर्चा पर वापस लौटते हैं।

पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश जनता जहाँ पूँजीवादी व्यवस्था को अधिक प्रातिनिधिक, भागीदारीपूर्ण और संविधानबद्ध (अगर संविधान और क़ानून व्यवस्था बुर्जुआ मापदण्डों और मानकों के अनुसार भी प्रगतिशील हों) बनाने के लिए संघर्ष करता है, वहीं वह अपनी राजनीतिक प्रातिनिधित्वपूर्ण संस्थाएँ भी खड़ी करता है। लेकिन रवि सिन्हा की रणनीति में इसका कोई स्थान नहीं है क्योंकि उनके लिए यह तथ्य आकाशवाणी समान (axiomatic) है कि भारत एक प्राक्-आधुनिक समाज है और उसमें जनता अगर ऐसी संस्थाएँ खड़ी भी करेगी तो वह भीड़ जनवाद का शिकार हो जायेगी या कम-से-कम हो सकती है और उसे भी संवैधानिक बुर्जुआ उदार राज्य से विनियमन की आवश्यकता होगी! ऐसे में मज़दूर अगर भारत में कल सोवियतों जैसी किसी संस्था का निर्माण करते हैं, तो रवि सिन्हा उसके प्रति सशंकित रहेंगे और बुर्जुआ राज्य द्वारा

उसके विनियमन की वकालत करेंगे! कम-से-कम उनकी तर्क पद्धति तो इसी नतीजे पर पहुँचती है।

आगे रवि सिन्हा दावा करते हैं कि वामपन्थी ‘कॉमन सेंस’ यह है कि बुर्जुआ जनवाद की किसी भी संस्था या संघटक अंग को समाजवाद के दौरान नहीं अपनाया जायेगा; अधिकतम सम्भव बुर्जुआ जनवाद के लिए संघर्ष करना मजदूर वर्ग का काम नहीं है और जितना बुर्जुआ जनवाद हासिल है उसे प्राप्त करने में जनता ने कुछ नहीं किया है। **यह रवि सिन्हा का मार्क्सवाद के बारे में उदार बुर्जुआ ‘कॉमन सेंस’ हो सकता है, कम-से-कम सही मार्क्सवाद का ऐसा दृष्टिकोण नहीं है।** यह दृष्टिकोण मार्क्सवाद पर थोप दिया गया है। सर्वहारा वर्ग भी प्रतिनिधित्वपूर्ण जनवाद में भरोसा करता है और निश्चित तौर पर सर्वहारा जनवाद बहुसंख्यक मेहनतकश जनता के सामने इस प्रतिनिधित्व का अवसर उपस्थित करेगा। लेकिन निश्चित तौर पर समाजवादी जनवाद का अस्तित्व-रूप (modus vivendi) बहुपार्टी उदार संसदीय पूँजीवादी लोकतन्त्र नहीं हो सकता है (इस नुस्ते पर आलोचनात्मक चर्चा के लिए देखें-इसी अंक में पृष्ठ 118-119)। समाजवादी राज्य एक संविधानबद्ध शासन भी देगा। लेकिन इस संविधान की वर्ग अन्तर्वस्तु अलग होगी। इस रूप में जहाँ तक संस्थागत पहलू का प्रश्न है सर्वहारा जनवाद अपनी नयी संस्थाओं का निर्माण करेगा। वह दिखलायेगा कि बुर्जुआ जनवाद का सिद्धान्त बुर्जुआ दार्शनिकों का एक आदर्शकृत स्वप्न था और पूँजीवादी व्यवस्था के रहते हुए इसका अर्थ बेचने-खरीदने की स्वतन्त्रता, क़ानून के समक्ष औपचारिक समानता के अलावा ज़्यादा कुछ नहीं हो सकता था और अन्ततः उसे किसी न किसी क्रिस्म के प्रतिक्रिया में ही परिणत होना होता है। लेकिन रवि सिन्हा के लिए जनवाद की कोई वर्ग अन्तर्वस्तु नहीं है। उनके इस कथन पर गौर करें, “**आधुनिक जनवाद का इतिहास पूँजीवाद के इतिहास को अतिच्छादित करता है लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है यह उसका समानार्थी है।**” यह दृष्टिकोण जनवाद और पूँजीवाद के प्रश्न को द्विभाजित तौर पर देखता है। जनवाद के विकास को भी एक **योगात्मक प्रक्रिया (aggregative process)** के तौर पर देखता है। इसके अनुसार, पूँजीवाद के दौर में आधुनिक जनवाद विकसित हुआ और फिर समाजवाद में यह और विकसित हो जायेगा! इस पूरी प्रक्रिया में कहीं कोई विच्छेद (rupture) का तत्व नहीं है। इस प्रकार का क्रमवाद (gradualism) और विकासवाद (evolutionism) वास्तव में उसी समाजशास्त्रीयतावाद की निशानी है, जिसका कि रवि सिन्हा का विश्लेषण बुरी तरह से शिकार है। **पूँजीवाद के उद्भव और उसके विकास और फिर उसके पतन का इतिहास पूँजीवाद जनवाद के**

उद्भव, विकास और पतन का भी इतिहास होता है। वास्तव में, आर्थिक संकट के साथ आर्थिक कट्टरवाद के पैदा होने और राजनीतिक संकट के साथ राजनीतिक कट्टरवाद के पैदा होने के साथ ही समूची पूँजीवादी व्यवस्था अपनी असम्भाव्यता के बिन्दु पर पहुँचती है। पूँजीवाद के आदि से अन्त तक जनवाद का विकास एकरेखीय नहीं होता बल्कि जन्म, शीर्ष पर पहुँचने और फिर पतन की कहानी कहता है। बुर्जुआ जनवाद प्रगतिशील सम्भावना के जन्म, उसकी पराकाष्ठा पर पहुँचने और फिर हर प्रकार की प्रगतिशील सम्भावनाओं से रिक्त होने के साथ उसके पतन की मंजिलों से होकर गुजरता है। रवि सिन्हा की बुर्जुआ जनवाद के पूरे ऐतिहासिक आख्यान की समझदारी इस रूप में भयंकर भोण्डे क्रमवाद और विकासवाद की शिकार है।

समाजवाद बुर्जुआ जनवाद के आदर्शों से सीखता है, लेकिन साथ ही इसका यथार्थवादी रूपान्तरण भी करता है और स्पष्ट तौर पर दिखलाता है कि सच्चा जनवाद मजदूर वर्ग का शासन ही दे सकता है, जो सही मायने में बहुसंख्यक मेहनतकश जनता का जनवाद हो; साथ ही, वह यह भी दिखलाता है कि जनवाद कोई वर्गोत्तर अवधारणा नहीं होती। यदि जनवाद सभी के लिए हो, तो फिर समानता और जनवाद में कोई वास्तविक व प्रभावी अन्तर नहीं रह जायेगा। यही कारण है कि समानतामूलक समाज बनाने की कम्युनिस्ट परियोजना को पहले सामाजिक जनवाद का नाम दिया गया, यानी वह आन्दोलन जो कि जनवाद का समाजीकरण करे। बाद में बेशक इसे अपर्याप्त होने और नये ऐतिहासिक अर्थ ग्रहण करने के कारण क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन ने त्याग दिया। बहरहाल, जनवाद का कोई अर्थ ही तभी निकल सकता है, जब उसके वर्ग चरित्र को स्पष्ट किया जाये।

रवि सिन्हा दलील देते हैं कि बुर्जुआ जनवाद केवल बुर्जुआ राज्य और सत्ता की अन्य संरचनाओं को संघटित करने का रूप ही नहीं होता, बल्कि वह व्यक्तिगत नागरिकों के लिए अधिकारों, चुनाव के विकल्पों (बीवपबमे) और आज्ञादियों के एक क्षेत्र को भी निर्मित करता है! यह विचार वास्तव में बुर्जुआ राज्य की उसी उदारवादी बुर्जुआ अवधारणा को प्रदर्शित कर रहा है, जो राज्यसत्ता को अधिकार-विमर्श (rights-discourse) के दायरे में परिभाषित करती है। निश्चित तौर पर, बुर्जुआ राज्यसत्ता से जनता ने लड़कर तमाम जनवादी अधिकार हासिल किये हैं। साथ ही, बुर्जुआ राज्यसत्ता स्वयं भी कई जनवादी और नागरिक अधिकार देती है। लेकिन बुर्जुआ राज्यसत्ता का मूल और मुख्य सरोकार नागरिकों को अधिकार देने का नहीं होता, बल्कि जनता को विनियमित (regulate) करने का होता है। इस विनियमन के बगैर

बुर्जुआ वर्ग के वर्चस्व का एक बुनियादी संघटक तत्व अनुपस्थित होगा। और यह बात केवल आम नागरिक क्रान्तियों के बारे में ही नहीं बल्कि सभी क्रान्तियों, मसलन श्रम क्रान्तियों और अपराध दण्ड क्रान्तियों पर भी लागू होती है। मार्क्सवाद बुर्जुआ उदार राज्य और संविधान द्वारा दिये जाने वाले अधिकारों को **विनियमन-विमर्श (regulation discourse)** के जरिये समझता है। यहाँ भी यह दिख जाता है कि आधुनिक बुर्जुआ उदार कल्याणकारी राज्य के “वैभव” से लेखक किस कदर चमत्कृत है।

जनवाद और सत्ता के सन्दर्भ में वर्ग चरित्र के प्रश्न को न उठाने के ही कारण रवि सिन्हा लिखते हैं, “**सभी सत्ता की संरचनाएँ आखिरी विश्लेषण में स्वतन्त्रता के प्रतिकूल होती हैं।**” किसकी स्वतन्त्रता? कैसी सत्ता संरचनाएँ? यहाँ भी वर्ग विश्लेषण अनुपस्थित है। इस कथन पर **मिशेल फूको** के विचारों का असर स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। निश्चित तौर पर, राज्य का क्षेत्र दमन का क्षेत्र होता है, जैसा कि एंगेल्स ने कहा था। और इस रूप में सर्वहारा राज्य भी दमन का उपकरण होगा। लेकिन अगर इस सवाल को गोल कर दिया जाये कि किसका दमन और किसके द्वारा दमन तो यह एक निष्क्रियतावादी आमूलगामी जनोत्तेजन (passive radical demagogy) से ज़्यादा और कुछ नहीं होगा। लेखक का मानना है कि मानव विकास का मकसद राज्य की संस्थाओं को विरल और पारदर्शी बनाते हुए समाप्ति की ओर ले जाना होता है, हालाँकि वह इस बारे में संशुभ हैं कि राज्य का वाकई कभी विलोपन होगा या नहीं! यह शंका राज्यसत्ता के उद्भव, विकास और अन्ततः विलोपन के विषय में लेखक के अनैतिहासिक दृष्टिकोण को अनावृत्त करती है। लेकिन यहाँ भी वह इस विलोपन की प्रक्रिया का एक क्रमवादी और विकासवादी नज़रिया पेश करते हैं। उनके अनुसार, पूँजीवादी व्यवस्था के दौर में प्रगतिशील ताकतें राज्य की संस्थाओं को विरल बनाने और पारदर्शी बनाने का कार्य शुरू कर देंगी और यह काम पूरा होगा समाजवाद के दौरान। वास्तव में, पूँजीवाद के दौरान जनवादी स्पेस और अधिकारों के लिए संघर्ष पूँजीवादी राजकीय संस्थाओं को अधिक पारदर्शी और विरल नहीं बनाता है और न ही कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी पूँजीवादी राजकीय संस्थाओं को अधिक पारदर्शी और विरल बनाने के लिए यह संघर्ष करते ही हैं। **कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी बुर्जुआ उदार राज्य और संविधान के वायदों और प्रतिबद्धताओं के साथ इसलिए ओवर-आइडेंटिफाई (over-identify)** करते हैं और उनके लिए इसलिए संघर्ष करते हैं क्योंकि यह संघर्ष पूँजीवादी व्यवस्था और उदार बुर्जुआ जनवाद को उसके असम्भाव्यता के बिन्दु (point of impossibility) तक पहुँचाता है। इस प्रक्रिया के उपोत्पाद के तौर पर यदि बुर्जुआ राज्य अधिक

पारदर्शी या विरल बनता है तो यह अलग बात है। यही कारण है कि लेनिन ने कहा था कि सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ जनवाद के तहत जनवादी अधिकारों के लिए जुझारू संघर्ष करता है क्योंकि एक ओर यह सर्वहारा वर्ग के राजनीतिक शिक्षण-प्रशिक्षण और वर्ग संघर्ष के लिए सबसे मुफीद ज़मीन मुहैया कराता है, वहीं पूँजीवादी व्यवस्था को बेनक्राब भी करता है। इसलिए पूँजीवादी व्यवस्था के तहत बुर्जुआ जनवादी स्पेस और अधिकारों को अधिकतम बनाने का संघर्ष पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग के वर्ग संघर्ष का एक हिस्सा है।

रवि सिन्हा मानते हैं कि राज्य को क्रमिक प्रक्रिया में जीवन के अधिकांश क्षेत्रों को अपने नियन्त्रण से मुक्त करना होता है और इसी प्रक्रिया में वह सिंकुड़ता जाता है और उसका विलोपन होता है। लेकिन उनके अनुसार पूँजीवाद के तहत ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि राज्य के नियन्त्रण क्षेत्र से पूँजीवाद के तहत जो भी बाहर जायेगा वह बाज़ार के मातहत आयेगा! यह भी ग़जब की समझदारी है। इसके अनुसार, आज बुर्जुआ राज्य के मातहत जो क्षेत्र हैं, वह मुनाफ़े और बाज़ार के मातहत नहीं हैं! यहाँ भी हम एक ग़ैर-द्वन्द्वात्मक द्विभाजन देख सकते हैं और इसके पीछे एक कल्याणकारी राज्य का सामाजिक-जनवादी यूटोपिया और साथ ही उदार बुर्जुआ राज्य की एक आदर्शवादी समझदारी है। यह द्विभाजन है राजकीय विनियमन बनाम बाज़ार विनियमन। दूसरे शब्दों में नियोजन बनाम बाज़ार का द्विभाजन। अर्थशास्त्रय तौर पर इसे ज़्यादा से ज़्यादा एक नवकीन्सीय समझदारी कहा जा सकता है, जिसके शिकार पॉल स्वीज़ी भी थे। उन्होंने समाजवादी संक्रमण पर चली बहस में नियोजन को समाजवाद और बाज़ार को पूँजीवाद का पैमाना माना था, जिसकी बेतेलहाइम ने कमोबेश सन्तुलित आलोचना पेश की थी। यह द्विभाजन ही ग़लत है, जब तक कि राज्य और बाज़ार दोनों के ही राजनीतिक चरित्र के सवाल को नहीं समझा जाता है। आज के दौर में भी जो राज्य के मातहत है वह वास्तव में बाज़ार के मातहत ही है। बल्कि कहना चाहिए कि आज जिसे यह नहीं दिख रहा है उसे राजनीतिक अन्धता का शिकार न कहा जाये तो क्या कहा जाये? राजकीय क्षेत्र में बाज़ार की शक्तियों के काम करने की पद्धति शुद्ध बाज़ार के क्षेत्र में बाज़ार की शक्तियों के काम करने के तरीके से कुछ भिन्न होती है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि राजकीय विनियमन के तहत आने वाले क्षेत्रों में बाज़ार का नहीं बल्कि किसी कल्पित उदार कल्याणकारिता का साम्राज्य होता है! यह भी बुर्जुआ उदार राज्य के प्रति रवि सिन्हा के अनालोचनात्मक फेटिश को ही प्रदर्शित कर रहा है। उनके तर्क का मर्म यह है कि पूँजीवाद के रहते

तो हमें उदार बुर्जुआ संवैधानिक जनवादी राज्य की और भी ज़रूरत महसूस करनी चाहिए क्योंकि एक ओर यह प्राक्-आधुनिक बर्बरता को सन्तुलित करेगा वहीं यह बाज़ार की शक्तियों को विनियमित करेगा। एक ऐसे समय में ऐसा तर्क देना जब राज्य सबसे ज़्यादा नंगे तौर पर बाज़ार की शक्तियों की लूट के लिए मैदान खाली कराने का काम कर रहा है, हास्यास्पद है। अकादमिक और राजनीतिक हलकों में हालिया दौर में यह बहस चलती रही है कि राज्य नवउदारवाद और भूमण्डलीकरण के दौर में ज़्यादा हस्तक्षेपकारी (interventionist) हुआ है या फिर वह अधिक से अधिक अदृश्य और अनुपस्थित होता जा रहा है। हमारा मानना है कि राज्य कभी भी कम हस्तक्षेपकारी या अनुपस्थित नहीं हुआ है बस इसके हस्तक्षेप और उपस्थिति के रूप बदलते रहे हैं। तथाकथित “मुक्त-व्यापार” पूँजीवाद के दौर में भी राज्य एक अलग तरीके से विनियमनकारी और हस्तक्षेपकारी भूमिका निभाता था। कल्याणकारी राज्य के दौर के बारे में तो कोई बहस ही नहीं है, जब राज्य ने पूँजी के दूरगामी हितों के मद्देनज़र कई बार वैयक्तिक पूँजी की इच्छाओं के विपरीत आचरण किया और जनता के लिए कुछ कल्याणकारी नीतियाँ लागू कीं। लेकिन आज के दौर में बारे में कई लोगों का कहना है कि राज्य की भूमिका कम होती जा रही है, उसका हस्तक्षेप घटता जा रहा है। यह एक दृष्टिभ्रम से ज़्यादा और कुछ नहीं है। वास्तव में, आज राज्य पहले से ज़्यादा हस्तक्षेपकारी हो गया है। लेकिन कल्याणकारी दौर के विपरीत अब यह नंगे और बेशर्मा तरीके से पूँजी के हितों के लिए हस्तक्षेप करता है। चाहे वह देश की प्राकृतिक सम्पदा या फिर सस्ते श्रम की लूट को सुगम बनाने में राज्य की भूमिका हो या फिर श्रम क़ानूनों के विनियमन के ज़रिये हासिल होने वाली सुरक्षा को समाप्त करने में राज्य की भूमिका हो, राज्य के हस्तक्षेप को कहीं भी पहले के दौर से कम नहीं माना जा सकता; बल्कि ज़्यादा ही मानना पड़ेगा। ऐसे में यह तर्क देना कि पूँजीवाद के मातहत राज्य के नियन्त्रण से जीवन के जो क्षेत्र बाहर जायेंगे वे बाज़ार की पाशविक शक्तियों के मातहत चले जायेंगे, उदारवादी भोलापन है और केवल यह दिखलाता है कि बुर्जुआ समाजशास्त्र, राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र की पुस्तकों में पेश पूँजीवाद की तस्वीर को रवि सिन्हा ने कुछ ज़्यादा ही गम्भीरता से ले लिया है। पूँजीवाद के मातहत राज्य और बाज़ार के बीच इस प्रकार का कोई द्विभाजन या विरोधाभास नहीं होता है क्योंकि वे दोनों ही पूँजीवादी राज्य और पूँजीवादी बाज़ार होते हैं। उनके बीच के अन्तरविरोधों को समझने की यह पद्धति पूँजीवाद के तहत राज्य और बाज़ार के सम्बन्धों की कभी सही व्याख्या नहीं कर सकती है।

बुर्जुआ संवैधानिक उदार जनवादी राज्य के प्रति रवि सिन्हा का दृष्टिकोण

यह है कि ऐसा राज्य पारदर्शी होता है! यह भी एक भयंकर विभ्रम है। उनके अनुसार ऐसा पारदर्शी संवैधानिक और नियमबद्ध जनवादी राज्य तृणमूल भागीदारी जनवाद के अतिरेकों को सन्तुलित कर सकता है क्योंकि यह जहाँ एक ओर पारदर्शी होता है वहीं यह आधुनिक तर्कणा का मूर्त रूप होता है। ऐसे राज्य को वह जनता के तृणमूल जनवाद का शत्रु नहीं बल्कि पूरक मानते हैं और मानते हैं कि ऐसे राज्य को जनता भी गठित कर सकती है! लेकिन अगर हम भारत ही नहीं बल्कि दुनिया के उदारतम बुर्जुआ कल्याणकारी जनवादी राज्यों पर निगाह डालें तो क्या हम ऐसा कोई पारदर्शी बुर्जुआ राज्य देख पाते हैं, जिसकी कल्पना रवि सिन्हा कर रहे हैं? दुनिया भर में पूँजीवादी आधुनिक राज्य कारपोरेट घरानों के साथ गोपनीय जनविरोधी समझौतों में लिप्त है; हर जगह पूँजीवादी राज्य राष्ट्रवाद और आन्तरिक सुरक्षा के नाम पर तमाम अहम सूचनाओं को सार्वजनिक संज्ञान से बाहर रखते हैं; अमेरिका समेत दुनिया के तमाम पूँजीवादी राज्यों ने ऐसे दमनकारी और विशिष्ट कानून बनाये हैं जो कि जनता के जनवादी और संविधान-प्रदत्त अधिकारों को छीनते हैं; कहने की ज़रूरत नहीं है कि उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी राज्य में यह अपारदर्शिता और भी ज़्यादा होगी। लेकिन किसी भी नस्ल के उदार बुर्जुआ जनवादी राज्य से पूर्ण पारदर्शिता की उम्मीद करना अहमकाना होगा।

रवि सिन्हा जनवाद की राजनीतिक अन्तर्वस्तु को नहीं देखते बल्कि उसका एक **संस्थावादी (institutionalist)** विश्लेषण करते हैं। यानी कि कुछ जनवादी संस्थाएँ (संवैधानिक उदार बुर्जुआ जनवादी राज्य) सही मायने में आधुनिक और जनवादी होंगी, जबकि अन्य (मुहल्ला पंचायतें, कमेटियाँ या अन्य भागीदारी जनवाद की संस्थाएँ) कम जनवादी होंगी और उनमें जनवाद को नष्ट कर देने की प्रवृत्तियाँ भी मौजूद होंगी। और यह संस्थावादी विश्लेषण अन्त में फिर से आधुनिक और प्राक्-आधुनिक के द्विभाजन पर आकर खत्म होता है, जिसके सतहीपन का विश्लेषण हम ऊपर कर चुके हैं। फ़्रासीवाद के हालिया उभार और सत्तारूढ़ होने के बरक्स उसके प्रतिरोध के बारे में रवि सिन्हा के पहले और दूसरे सबक का सारतत्व यही है: पहला, फ़्रासीवाद का मुक़ाबला करने के लिए फ़्रासीवाद के विरुद्ध जनता की गोलबन्दी और सड़क की लड़ाई के प्रयास आत्मघाती सिद्ध हो सकते हैं क्योंकि (1) भारत की जनता स्वयं वह प्राक्-आधुनिक सर्वसत्तावादी समुदाय है जिसके 'अपने विवेक' से दिये गये समर्थन के बूते फ़्रासीवाद सत्ता में पहुँचा है और (2) अगर प्रगतिशील ताक़तें जनता के पास जायेंगी तो फ़्रासीवादी और ज़्यादा बड़े पैमाने पर जनता के बीच जायेगा और चूँकि समाज प्राक्-आधुनिक है और फ़्रासीवादियों के बर्बर आवाहनों को इस समाज

में प्रगतिशील आवाहनों से ज़्यादा अनुगूँज मिलेगी, इसलिए जनता के बीच या सड़क की लड़ाई में विजय की उम्मीद करना व्यर्थ है; इसलिए रवि सिन्हा के मुताबिक फ़ासीवाद के विरुद्ध लड़ाई को आधुनिक संवैधानिक उदार राज्य के दायरे में सीमित कर देना चाहिए क्योंकि यही राज्य प्राक्-आधुनिक बर्बर फ़ासीवादियों पर भी सभ्य बनने का दबाव डालता है। दूसरा, जनवाद के लिए संघर्ष में राज्य के निकायों को अधिक से अधिक पारदर्शी और राजनीतिक प्रक्रिया को अधिक से अधिक विरल बनाने पर ज़ोर दिया जाना चाहिए न कि तृणमूल भागीदारी जनवाद के मॉडल खड़े करने पर क्योंकि तृणमूल भागीदारी जनवाद के भीड़ जनवाद में तब्दील हो जाने के ख़तरे मौजूद रहेंगे; कारण एक बार फिर यह है कि समाज प्राक्-आधुनिक और सर्वसत्तावादी रुझानों से भरा हुआ है। इन दोनों सबकों के आधार पर हम कुछ और प्रेक्षण और रखेंगे और फिर लेखक के तीसरे सबक की ओर बढ़ेंगे।

पहली बात तो यह है कि भारतीय उत्तर-औपनिवेशिक समाज में प्राक्-आधुनिक, सर्वसत्तावादी और बर्बर रुझान हैं, इसमें कोई दो राय नहीं है। लेकिन इन रुझानों की एक **ऐतिहासिकता (historicity)** है, जिसे रवि सिन्हा पकड़ नहीं पाते हैं और इसीलिए उनका **सारभूतीकरण (essentialization)** करते हैं। इसका कारण यह है कि एक उत्तर-औपनिवेशिक राज्य और समाज में आधुनिकता और प्राक्-आधुनिकता के द्वन्द्व और आर्टिकुलेशन को समझने में वह नाकाम रहते हैं। इस द्वन्द्व में अगर प्रधान पहलू की बात करें तो वह निश्चित तौर पर आधुनिकता है, जिसने प्राक्-आधुनिक बर्बर और सर्वसत्तावादी रुझानों को अपने अनुसार सहयोजित किया है। ऐसा इसलिए है क्योंकि यह पूँजीवादी आधुनिकता है और पूँजीपति वर्ग इसकी चालक शक्ति है। ऐसे में, एक उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीपति वर्ग जहाँ पूँजीवादी व्यवस्था के **आर्थिक आर्किटेक्टॉनिक (architectonic)** के सुगम परिचालन के लिए आधुनिकता को अपनाता है तो वहीं अपने राजनीतिक वर्चस्व को बहुसंस्तरीय (multi-layered) और व्यापक बनाने के लिए एक उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी समाज में मौजूद प्राक्-आधुनिक तत्वों को भी अपनाता है। इसलिए भारतीय समाज और राज्य भी, कई बार अगर प्राक्-आधुनिक तत्वों का प्रदर्शन करते हैं, तो इससे पूँजीवादी आधुनिकता के प्रति फेटिश रखने वाले लोगों को इनके प्राक्-आधुनिक होने का दृष्टिभ्रम (optical illusion) पैदा हो सकता है। रवि सिन्हा काफ़ी हद तक इसी के शिकार हैं।

दूसरी बात यह है आधुनिकता और प्राक्-आधुनिकता के इस द्वन्द्व को अलग-थलग तौर पर देखना रवि सिन्हा को उदार बुर्जुआ चिन्तन की परम्परा में सुदृढ़ तौर पर अन्तःस्थापित कर देता है। वास्तव में इस द्वन्द्व के पीछे वर्ग शक्तियों की अन्योन्यक्रिया

(पदजमतचसंल) जारी रहती है। इसलिए रूप के धरातल पर मौजूद आधुनिकता और प्राक्-आधुनिकता के सामाजिक वर्ग संघर्ष के साथ नाभिनालबद्ध सम्बन्ध को समझे बगैर किसी भी विश्लेषण के समक्ष एक संस्थावादी विश्लेषण के गड्ढे में गिरने का खतरा मौजूद रहता है। अगर भारतीय समाज में प्राक्-आधुनिकता के तत्व मौजूद हैं तो उसकी प्रतिशक्ति के तौर पर आधुनिकता की शक्तियाँ भी मौजूद हैं, और निश्चित तौर पर उसमें केवल मुकुल सिन्हा और तीस्ता सेतलवाड़ नहीं शामिल हैं। बल्कि कहा जा सकता है कि भारतीय समाज के प्राक्-आधुनिक तत्वों को प्रति-सन्तुलित करने में पूँजीवादी आधुनिकता की ताकतें अब तक अपर्याप्त ही साबित हुई हैं। आज के दौर में क्रान्तिकारी सर्वहारा प्रबोधन की शक्तियों के ज़रिये, और अगर हमें इस शब्द का प्रयोग करने की आज्ञा दी जाये, तो *सर्वहारा आधुनिकता* के ज़रिये ही भारतीय समाज में मौजूद प्राक्-आधुनिक, प्रतिक्रियावादी ताकतों का मुक्काबला किया जा सकता है, जो कि विशेष तौर पर एक उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी समाज में उस तर्कणा और आधुनिकता के उसूलों की सही वारिस है, जिसे बुर्जुआ वर्ग के क्रान्तिकारी दार्शनिकों ने प्रतिपादित किया था और जो बुर्जुआ वर्ग के शासन के वास्तविक रूप ग्रहण करने के साथ धूल में फेंक दिये गये।

यहीं से हम अपने तीसरे नुक्ते पर आ सकते हैं। वर्तमान की चुनौतियों का मुक्काबला अतीत की ज़मीन पर खड़े होकर नहीं किया जा सकता है। यह बात इतिहास के हर दौर के लिए सही सिद्ध होती है। आज भारतीय पूँजीवादी उत्तर-औपनिवेशिक समाज में जो प्राक्-आधुनिक तत्व मौजूद हैं, वह बस सीधे तौर पर किसी बीते सामन्ती या प्राक्-पूँजीवादी युग के अवशेष या उनकी निरन्तरता नहीं हैं। यह बीते युग की बर्बरताओं के आधुनिक युग की बर्बरताओं के साथ होने वाले *आर्टिकुलेशन* से पैदा हुई विशिष्ट रूप की बर्बरता है, जिसे सही मायनों में सामन्ती, प्राक्-पूँजीवादी या प्राक्-आधुनिक कहा भी नहीं जा सकता है। यहाँ तक कि खाप पंचायतों के इतिहास के अध्ययन भी दिखलाते हैं कि ये महज कोई प्राक्-पूँजीवादी प्राक्-आधुनिक निरन्तरता नहीं है, बल्कि आज के दौर की विशिष्ट परिघटना है और पूँजीवादी आधुनिकता के हाथों सुविधाजनक और सुगम रूप से सहयोजित है। इस विशिष्ट क्रिस्म की उत्तर-औपनिवेशिक आधुनिक बर्बरता का मुक्काबला आप 16वीं और 17वीं सदी में खड़े होकर नहीं कर सकते हैं; पुनर्जागरण, धार्मिक सुधार आन्दोलन और प्रबोधन और उसके बाद वैज्ञानिक क्रान्ति और औद्योगिक क्रान्ति की प्रक्रिया से गुज़रकर पैदा हुई पूँजीवादी आधुनिकता की ज़मीन पर खड़े होकर आज की इस चुनौती का मुक्काबला नहीं किया जा सकता है। प्रबोधनकालीन बुर्जुआ दार्शनिकों

ने पूँजीवादी व्यवस्था और शासन के जिस आदर्शीकृत रूप की कल्पना की थी उसकी ज़मीन पर खड़े होकर और इस क्रिस्म के किसी एनाक्रॉनिस्टिक नॉस्टैल्जिया (anachronistic nostalgia) के बूते आप आज भारतीय समाज में मौजूद बर्बरता के तत्वों का सामना नहीं कर सकते हैं। आज इसका मुकाबला करने के लिए एक नये सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन की ज़रूरत है। आज सर्वहारा वर्ग ही यह काम कर सकता है, चाहे उसके भीतर प्राक्-आधुनिक विचारों का जो भी प्रभाव हो। निश्चित तौर पर, मज़दूर वर्ग ऐसा स्वतःस्फूर्त तौर पर नहीं कर सकता है और उसके लिए एक सर्वहारा हिरावल की ज़रूरत होगी जो कठमुल्लावाद और जड़सूत्रवाद को छोड़ भारतीय पूँजीवादी राज्य और समाज की विशिष्टता को समझते हुए अपने विचारधारात्मक, राजनीतिक और सांस्कृतिक कार्यभार निकाले। मज़दूर वर्ग के पास स्वतः और सहज उपलब्ध चेतना, या यँ कहेँ कि स्वतःस्फूर्त मज़दूर चेतना ही सर्वहारा चेतना नहीं होती है। इस सर्वहारा चेतना के लिए सतत् विचारधारात्मक-राजनीतिक वर्ग संघर्ष और मार्क्सवाद-लेनिनवाद के विज्ञान से लैस हिरावल पार्टी के संस्थाबद्ध नेतृत्व की दरकार होती है। लेकिन इतना तय है कि आज कोई प्रबुद्धि मध्यवर्गीय टटपूँजिया बुद्धिजीवी वर्ग इस कार्यभार को पूरा करने में अगुवाई नहीं कर सकता है और न ही इसका मुकाबला केवल अदालतों और कानूनी फ्रेमवर्क में चलने वाले संघर्षों से ही किया जा सकता है। इतिहास के जो कार्यभार भारत में औपनिवेशिकीकरण के कारण छूट गये उन्हें इतिहास में वापस जाकर पूरा करना सम्भव नहीं है। इतिहास की गति इसी प्रकार होती है; मानव प्रगति की रीडेम्प्टिव गतिविधि (redemptive activity) इसी प्रकार की होती है।

तीसरा सबक :

‘रोम में रहो तो वह करो जो रोमवासी करते हैं’

“आप किस चीज़ पर काम कर रहे हैं?” श्रीमान क. से पूछा गया। श्रीमान क. ने जवाब दिया: “मैं काफ़ी दिक्कत से गुज़र रहा हूँ; मैं अपनी अगली ग़लती की तैयारी कर रहा हूँ।”

(बेर्टोल्ट ब्रेष्ट, ‘महाशय कॉयनर की कहानियाँ’)

“छोटे बदलाव, बड़े बदलावों के दुश्मन होते हैं।”

(बेर्टोल्ट ब्रेष्ट)

रवि सिन्हा का तीसरा सबक्र बुर्जुआ राज्य की नीतियों और कार्यक्रम के सम्बन्ध में है जिसमें वे उन बुनियादी माँगों की बात करते हैं जिसके लिए आज वामपन्थियों को लड़ना चाहिए। यहाँ वह कोई नया सबक्र नहीं दे रहे हैं। वास्तव में, वह जो बात कह रहे हैं वह सी.पी. चन्द्रशेखर, जयति घोष, प्रभात पटनायक आदि जैसे सामाजिक-जनवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र हर हफ़ते दि हिन्दू, फ़्रण्टलाइन, मैक्रोस्कैन, नेटवर्क आइडियाज़, आदि जैसी पत्र-पत्रिकाओं और वेबसाइटों पर देते रहते हैं। यह और कुछ नहीं है बल्कि पुराना कीन्सीय नुस्खा है, जिसके अनुसार वामपन्थियों को कल्याणकारी राज्य और पूँजी की निर्बाध गति के विनियमन के लिए लड़ना चाहिए। इसके पीछे के लेखक के कारण बिल्कुल वैसे नहीं हैं, जैसे कि उपरोक्त सी.पी. एम.-ब्राण्ड अर्थशास्त्रियों के हैं। क्योंकि उनके कारणों के नीचे एक मज़बूत कीन्सीय, हॉब्सनियन अल्पउपभोगवादी (under-consumptionist), काउफ़त्स्कीपन्थी, सामाजिक जनवादी और संशोधनवादी विचारधारात्मक-राजनीतिक ज़मीन है। रवि सिन्हा सीधे वे कारण बता नहीं सकते वरना पहचान का संकट पैदा हो जायेगा; लेकिन उन कारणों के स्थानापन्न के तौर पर वह या तो कोई कारण बता ही नहीं पाते हैं, या फिर उनके बताये हुए कारण हास्यास्पद हैं।

लेखक दलील देता है कि भारतीय पूँजीवाद आज विशेष तौर पर हिंस्र और खूँखार मंज़िल में है और इसके दो प्रमुख कारक हैं। पहला यह है कि भारत में प्रचुर मात्रा में मौजूद सस्ता श्रम और दूसरा यह है कि भारत में जंगलों, खानों-खदानों के रूप में अधिकांश प्राकृतिक सम्पदा और साथ ही अधिकांश छोटी सम्पत्तियाँ अभी पूँजी में तब्दील नहीं हुई हैं। यह पूरा प्रेक्षण एक बार फिर दिखलाता है कि लेखक उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी विकास के सामान्य प्रक्षेप-पथ (trajectory) को समझ नहीं पाया है। पहली बात तो यह है कि लेखक द्वारा बताया गया दूसरा कारक तथ्यतः सटीक नहीं है। भारत में मौजूद प्राकृतिक संसाधन और अधिकांश छोटी सम्पत्तियाँ मुख्य तौर पर पूँजी में तब्दील हो चुकी हैं। पूँजी में तब्दील होने का अर्थ है कि उत्पादन उपभोग हेतु नहीं बल्कि विपणन हेतु हो रहा है, यानी कि विनिमय के लिए। यानी कि माल-मुद्रा-माल का चक्र अब मुद्रा-माल-मुद्रा में तब्दील हो चुका है। भारत में छोटी सम्पत्तियों 185 का बाहुल्य कृषि क्षेत्र में देखा जा सकता है। आज से करीब एक दशक पहले ही देश के 60 प्रतिशत ग्रामीण घरों के आय का मुख्य स्रोत उजरती श्रम था; दूसरे स्थान पर छोटे माल उत्पादन के विपणन से होने वाली आय थी; 20 प्रतिशत घरों में बेशी उत्पादन के विपणन से होने वाली आय और मज़दूरी से होने वाली आय बराबर थी। देश के परिधिगत किसानों, यानी कि सबसे छोटी जोत वाले किसानों के उत्पादन का भी 40 प्रतिशत हिस्सा बेचने के लिए था। निश्चित

तौर पर, पिछले दस वर्षों में स्थितियाँ और बदली होंगी। दूसरी बात जिसे समझना ज़रूरी है वह यह है कि पूँजी द्वारा श्रम प्रक्रिया को औपचारिक तौर पर अपने मातहत लाना (formal subsumption) और वास्तविक तौर पर अपने मातहत लाना (real subsumption)। मार्क्स ने इन दोनों चरणों में स्पष्ट फ़र्क़ किया था और बताया था कि पूर्ण रूप से पूँजीवादी संचय दूसरे चरण के साथ ही शुरू होता है। पहले पूँजी पहले से मौजूद श्रम प्रक्रिया को अपने मातहत लाती है। इस चरण में पूँजी उत्पादन के साधनों को अपने मातहत लाती है और उत्पादकों को उजरती मज़दूरों में तब्दील कर देती है और पूँजी संचय को सम्भव बनाती है। लेकिन श्रम प्रक्रिया मोटा-मोटी पहले के समान ही जारी रहती है। दूसरे चरण में पूँजी अपने हितों के अनुरूप पूरी की पूरी श्रम प्रक्रिया और तकनीक को अपने मातहत लाती है और उसका रूपान्तरण कर देती है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था इस दूसरे चरण के साथ ही परिपक्व रूप ग्रहण करती है। इसे हम मैनुफैक्चर से मशीनोफैक्चर तक की यात्रा से भी समझ सकते हैं। क्लासिकीय तौर पर पूँजीवाद के विकास में इन दो चरणों के बीच सैद्धान्तिक तौर पर और साथ ही एक हद तक ऐतिहासिक तौर पर एक रेखा खींची जा सकती है। लेकिन उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी देशों में पूँजीवादी विकास की यह एक विशिष्टता है कि उसके ऐतिहासिक विकास के कई क्षण (moments) सहअस्तित्वमान होते हैं। इसलिए हमें भारत में बेहद उन्नत पूँजी संचय की मिसालें बड़ी संख्या में मिल सकती हैं तो साथ ही हमें ऐसे इलाक़े भी मिल सकते हैं जहाँ कालानुक्रम-दोष के साथ “आदिम” पूँजी संचय के क्षण भी दिख सकते हैं जिसमें कि छोटे उत्पादकों, आदिवासियों आदि को उनके जल, जंगल और ज़मीन से उजाड़ा जा रहा है और उनके प्राकृतिक संसाधनों की कारपोरेट लूट का रास्ता साफ़ किया जा रहा है। वैसे भी मार्क्स के लिए “आदिम” पूँजी संचय कोई शुद्धतः कालिक (temporal) अवधारणा नहीं थी। यूँ तो चाहे कोई भी देश हो पूँजीवादी विकास अपनी प्रकृति से ही काल और दिक् दोनों के ही आयामों पर असमान होता है, लेकिन एक उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवाद में यह असमानता विशिष्ट और चमत्कृत कर देने वाले रूपों दिखलायी पड़ती है। लेकिन इन सबके बावजूद यह कहना कि समूची अर्थव्यवस्था में छोटे मालिकाने की सम्पत्तियाँ अभी पूँजी में तब्दील नहीं हुई हैं, सच्चाई से बहुत दूर है। यह ज़रूर है कि देश में छोटी सम्पत्तियाँ चाहें वे कृषि के क्षेत्र में हों या उद्योग के क्षेत्र में, अभी कारपोरेट इज़ारेदार पूँजी के वर्चस्व के तहत पूरी तरह से नहीं आयी हैं। इसलिए कारपोरेट पूँजीवाद के साथ-साथ हमारे देश में टटपुँजिया पूँजीवाद भी मौजूद है, हालाँकि स्पष्ट तौर पर पहले की हिस्सेदारी अर्थव्यवस्था के आकार में

काफ़ी ज़्यादा है।

लेकिन अगर रवि सिन्हा इन दो कारकों को आज पूँजीवादी पशु के ज़्यादा भूखे होने के लिए जिम्मेदार बता रहे हैं, तो बात समझ में नहीं आती है। **क्योंकि सस्ते श्रम की मौजूदगी और प्राकृतिक सम्पदा और छोटी सम्पत्तियों की भारी मौजूदगी भारत में आज से नहीं बल्कि पिछले कई दशकों से है, तो फिर भारतीय पूँजीवाद में यह विशिष्ट चरण आज ही क्यों आया है!** उनके अनुसार यह आज भारतीय पूँजीवाद के विशेष तौर पर लुटेरे चरित्र को दिखलाता है! अगर ऐसा है तो यह विशिष्टता पहले ही पैदा हो जानी चाहिए थी क्योंकि उनके दोनों कारण आज से नहीं बहुत पहले से मौजूद हैं। यह सही है कि आज भारतीय पूँजीवाद विशेष तौर पर लुटेरे दौर में है। लेकिन इसकी व्याख्या भारतीय पूँजीवाद के इतिहास के एक नये चरण से की जानी चाहिए। यहाँ दो कारक हमारे विचार में विशेष तौर पर ध्यान देने योग्य हैं: पहला, भारतीय पूँजीवाद का 1990 में सार्वजनिक क्षेत्र पूँजीवाद से खुले नवउदारवादी पूँजीवाद के दौर में प्रवेश जिसके साथ देश भर की वह श्रम सम्पदा और प्राकृतिक सम्पदा जो अभी तक निजी पूँजी की निर्बाध लूट के दायरे से बाहर थी, वह अधिक से अधिक उसकी लूट के दायरे में आती गयी; और दूसरा, भारतीय व्यवस्था का वैश्विक वित्तीय पूँजीवादी तन्त्र में पहले से अधिक और जैविक समेकन, जिसके कारण वैश्विक पूँजीवादी व्यवस्था में मन्दी और संकट के हिचकोले भारतीय अर्थव्यवस्था में भी सीधे तौर पर और पहले से ज़्यादा महसूस किये जाने लगे। ये दो ऐसे कारक हैं जो पहले मौजूद नहीं थे और आज भारतीय पूँजीवाद की विशिष्टता को सन्तोषजनक रूप से व्याख्यायित कर सकते हैं। लेकिन इन दोनों ही कारकों को समझने में लेखक नाकाम रहता है और उन नियतांकों को गिनाता है जो कि पहले से मौजूद हैं और अपने आप में मौजूदा परिवर्तन की व्याख्या नहीं कर सकते हैं।

बहरहाल, रवि सिन्हा भारतीय पूँजीवाद के इस विशिष्ट तौर पर लुटेरे चरण में वामपन्थियों को दो माँगों पर लड़ने की सलाह देते हैं: पहला, कल्याणकारी राज्य के लिए और दूसरा पूँजी की निर्बाध लूट को विनियमित करने के लिए। वह कहते हैं कि एक कल्याणकारी राज्य प्रगतिशील कराधान प्रणाली के जरिये जनता की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने की जिम्मेदारी लेगा। इसके अलावा, प्राकृतिक संसाधनों (बशर्ते कि उनका राष्ट्रीकरण न हो जाये) और छोटी सम्पत्तियों (बशर्ते कि उन्हें नये उद्यमों में स्थायी शेयरहोल्डर न बना दिया जाये) को पूँजी में तब्दील करने से रोकने के लिए एक क्रान्ती ढाँचे के लिए लड़ना होगा। इन दोनों माँगों के 'इण्डिया अगेस्ट करप्शन' और बाद में 'आप' द्वारा ले उड़ने पर रवि सिन्हा दुखी हैं और इसे फ़ासीवादी उभार में

अन्ततः मददगार भी मानते हैं और साथ ही मानते हैं कि ये माँगें कम्युनिस्टों को उठानी चाहिए। लेकिन ये दोनों ही माँगें न सिर्फ़ आर्थिक तौर पर अव्यावहारिक हैं बल्कि लेखक की निम्न पूँजीवादी और अनैतिहासिक राजनीतिक सोच को दिखलाती हैं। इनमें से दूसरी माँग तो आज सबसे निकृष्ट क्रिस्म के सामाजिक-जनवादी भी बिरले ही करते हैं। खैर, यहाँ जिन दो माँगों के लिए लड़ने का सुझाव दिया गया है वह तमाम संशोधनवादी राजनीतिक पार्टियों और बुद्धिजीवियों और दूसरी ओर रवि सिन्हा के बीच के सारे अन्तर समाप्त कर देता है। वैसे रवि सिन्हा ने पहले ही लेख में स्पष्ट कर दिया है कि जो “परिधि पर खड़े पागल” संशोधनवाद और क्रान्तिकारी मार्क्सवाद में फ़र्क करते हैं, उनसे उन्हें कोई उम्मीद नहीं है और वे उनके सबकों पर संकीर्णतापूर्ण सवाल उठायेंगे! चूँकि हमें पूर्वानुमानपूर्ण फ़ैसले में पागल घोषित कर ही दिया गया है, इसलिए हम इस नुकते पर अपनी पूरी बात कह ही देते हैं!

क्या क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कल्याणकारी राज्य के लिए लड़ते हैं? हमारा मानना है कि क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर जनता की उन सभी माँगों के लिए लड़ते हैं जो कि संवैधानिकता के दायरे में आती हैं और क्रान्तिजन्य होती हैं और उनके बाहर भी होती हैं। वास्तव में, नागरिक अधिकार और जनवादी अधिकार के बीच यही फ़र्क होता है। हमारी लड़ाई जनता के रोज़गार, रिहायश और शिक्षा के बुनियादी हक़ के लिए होती है। लेकिन कल्याणकारी राज्य की माँग करना एक अलग राजनीतिक माँग बनती है और लघुकालिक तौर पर भी वे कल्याणकारी राज्य की माँग नहीं करते हैं क्योंकि इसके साथ एक राजनीतिक अर्थशास्त्र और राजनीति जुड़ी हुई है। यह कीन्सीय और हॉब्सनियन अल्पउपभोगवादी समझदारी है जिसकी माला आज प्रभात पटनायक, जयति घोष से लेकर सी.पी. चन्द्रशेखर तक जप रहे हैं। यानी कि कल्याणकारी और अल्पउपभोगवादी नीतियों द्वारा घरेलू माँग को बढ़ाकर संकट को दूर करने और जनता की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने का नुस्खा। **क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट जनता के हरेक क्रान्ती और साथ ही साथ जायेज़ हक़ के लिए लड़ते हैं और फिर भी उस लड़ाई को कल्याणकारी राज्य के लिए संघर्ष में तब्दील नहीं करते हैं।** वे उन सभी माँगों के लिए लड़ते हुए जो कुछ पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे में हासिल किया जा सकता है, हासिल करते हैं और जो नहीं हासिल किया जा सकता है, उससे व्यवस्था को बेनकाब करते हैं और उसे उसकी असम्भाव्यता के बिन्दु पर पहुँचाते हैं। हमारा संघर्ष समाजवादी व्यवस्था के लिए होता है। मुद्दे तो वही होते हैं लेकिन लड़ने की पहुँच और पद्धति भिन्न होती है। आज भारतीय समाज में हमेशा से ज़्यादा इस बात की ज़मीन तैयार है कि हम जनता

को सिर्फ केक के लिए नहीं बल्कि पूरी बेकरी हथियाने के लिए लड़ना सिखाएँ! ऐसे में, कल्याणकारी राज्य की माँग को उठाना प्रतिगामी है।

जर्मनी में फ़्रासीवादी ताक़तों के उदय का एक कारण यह था कि सामाजिक जनवादियों ने कल्याणकारी राज्य को बचाये रखने की लड़ाई लड़ी न कि समाजवाद की लड़ाई जो कि पूँजीवादी दायरे का अतिक्रमण करती हो। एक मज़बूत मज़दूर आन्दोलन के बूते पर वे पूँजी की शक्तियों को कुछ समय के लिए श्रम की शक्तियों के साथ समझौता करने और कल्याणकारी राज्य को बनाये रखने के लिए मजबूर करने में सफल भी हुए। लेकिन इस बीच वे जनता के बीच इसके विभ्रमों को तोड़ने के राजनीतिक कार्य की बजाय उन्हें मज़बूत बनाते रहे क्योंकि उनका राजनीतिक जुमला (तीमजवतपब) ही कभी कल्याणकारी राज्य के आगे नहीं गया। नतीजतन, जैसे ही संकट के दौर में श्रम और पूँजी के बीच का यह समझौता दबाव के मातहत आने लगा और जर्मन पूँजीपति वर्ग मुनाफे के सिंकुड़ने (चतवपिज नमग्रम) का शिकार हुआ, वैसे ही उसने हिटलर और नात्सी पार्टी को टटपुँजिया वर्गों की गोलबन्दी के ज़रिये मज़दूर आन्दोलन को ध्वस्त करने के लिए राजनीतिक मंच सौंप दिया और इसी के साथ वीमर गणराज्य का पतन हुआ। अगर आज के दौर में भी हमारा राजनीतिक माँगपत्रक कल्याणकारी राज्य की माँग करेगा तो हम इतिहास में वही ग़लती दुहरायेंगे। **हमारी माँग शिक्षा, रोज़गार और रिहायश को जन्मसिद्ध अधिकार बनाने की माँग होते हुए भी कल्याणकारी राज्य की माँग नहीं होती है।** दूसरी बात यह है कि आज कल्याणकारी राज्य की माँग एक अनैतिहासिक माँग है। कल्याणकारी राज्य के इतिहास के रंगमंच से अनुपस्थित होने का रिश्ता उस क्षण से है जिसमें आज विश्व पूँजीवाद है; न तो आज पश्चिमी उन्नत पूँजीवादी देशों के लिए कल्याणकारी राज्य का खर्च उठा पाना सम्भव है और न ही उत्तर-औपनिवेशिक पिछड़े पूँजीवादी देशों के लिए। रवि सिन्हा का मानना है कि हमें ठोस तथ्यों के आधार पर लड़ाई का एजेण्डा तय करना चाहिए और ठोस तथ्य यह है कि कल्याणकारी राज्य की माँग ही आज की यथार्थवादी माँग है, हालाँकि वामपन्थी इसे बीते ज़माने की बात मानते हैं। इसके प्रासंगिक होने के प्रमाण के तौर पर वह इस तथ्य का बयान करते हैं कि संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन ने भी धुर दक्षिणपन्थी नवउदारवादी भाजपा के समक्ष कल्याणकारी राज्य का ही एजेण्डा रखा था, हालाँकि वह इसे लागू करने में असफल रही थी। वामपन्थी (सीपीआई, सीपीएम, आदि) इसे लागू करने या करवाने के लिए सबसे अच्छी स्थिति में थे, लेकिन उन्होंने परमाणु समझौते के प्रश्न पर यूपीए-एक से बाहर जाने की मूर्खता कर दी! रवि सिन्हा काफ़ी हद तक इस मूर्खता को फ़्रासीवादी

उभार और 16 मई को मोदी के सत्ता में आने का कारण मानते हैं! वास्तव में, ये सारे तथ्य जैसे कि कांग्रेस द्वारा कल्याणकारी राज्य के जुमले का इस्तेमाल यह नहीं दिखलाता कि कल्याणकारी राज्य की माँग आज की प्रासंगिक और यथार्थवादी माँग है! यह इसके बिल्कुल विपरीत को दिखलाता है – यह आज के दौर में एक अनैतिहासिक और प्रहसनात्मक माँग है। यह माँग आज के दौर में न केवल राजनीतिक तौर पर गलत है, बल्कि अव्यावहारिक भी है। इस माँग के संसदीय राजनीति में जुमले के तौर पर इस्तेमाल को तो समझा जा सकता है, लेकिन किसी कम्युनिस्ट द्वारा आज कल्याणकारी राज्य की माँग करना (और करें, जनता की ज़रूरतों से जुड़ी माँगों को उठाते हुए व्यवस्था को उसके असम्भाव्यता के बिन्दु तक ले जाने और समाजवादी विकल्प का प्रचार करने की नहीं, बल्कि कल्याणकारी राज्य को ही लक्ष्य बनाकर माँग करना) प्रतिगामिता नहीं तो और क्या है? यात्र को जब आगे कुछ नहीं दिखायी देता है, तो वह पीछे ही देखता है। एक बार फिर लेखक वर्तमान की चुनौतियों का मुक़ाबला अतीत की ज़मीन पर खड़ा होकर करना चाहता है। रवि सिन्हा के मुताबिक आज वामपन्थियों को नेहरूवियन कल्याणकारी राज्य या ऐसे किसी अतीत के लिए लड़ना चाहिए! ऐसा इतिहास में पहले भी हुआ है कि यथार्थवादी होने और ठोस तथ्यों को आधार बनाने के नाम पर निराशावाद, समझौतापरस्ती और पराजयवाद परोसा गया है। रवि सिन्हा की दूसरी माँग भी यही करती है, बल्कि इससे कुछ ज़्यादा करती है। उनके अनुसार प्राकृतिक संसाधनों को जब तक राज्य की सम्पत्ति न बना दिया जाये तब तक पूँजी में उनके रूपान्तरण का विरोध किया जाना चाहिए। यहाँ तक तो बात कमोबेश ठीक है, लेकिन साथ ही वह यह माँग उठाने की वकालत करते हैं कि छोटी सम्पत्तियों का तब तक पूँजी में रूपान्तरण नहीं किया जाना चाहिए जब तक कि उनके पूँजी में रूपान्तरण से पैदा होने वाले भावी उद्यमों में उन्हें स्थायी हिस्सेदार (share-holder) न बनाया जाये! यह तो भयंकर है। इसके अनुसार अगर छोटे कारखाना मालिकों और टटपुँजिया उत्पादकों को यदि कोई बड़ी पूँजी निगलना चाहती है तो उन्हें नये उद्यमों में हिस्सेदारी देनी चाहिए! उसी प्रकार अगर कोई एग्रो-बिज़नेस करने वाली कम्पनी छोटी या मँझोली किसानों को निगलता है तो उजड़े हुए किसानों को नये फार्म में हिस्सेदारी दी जानी चाहिए! किसानों के प्रश्न पर कुछ आगे चर्चा करते हैं, **लेकिन किसी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट को छोटे कारखाना मालिकों और छोटी पूँजी के उजड़ने पर क्यों पेट दर्द होगा?** यह माँग हर सूरत में प्रतिगामी है। यह इतिहास को पीछे की ओर धकेलने की वकालत करती है। कई माँगें पूँजीवादी दायरे के भीतर संघर्ष करने के लिए

उपयुक्त होती हैं। लेकिन ये मध्यवर्ती माँगें वे माँगें होती हैं जो कि पूँजीवादी व्यवस्था को बेनकाब करती हैं और व्यापक मेहनतकश आबादी के लिए कुछ फौरी राहत दे सकती हैं। लेकिन इस माँग में तो ये दोनों ही गुण नहीं हैं। जहाँ तक किसान आबादी का प्रश्न है, तो व्यापक किसान आबादी भी आज छोटे मालिकाने के विभ्रमों से मुक्त हो रही है। 2003 के राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण में 40 प्रतिशत छोटे व मझोले किसानों ने बताया कि वे मौका मिलने पर खेती छोड़ना चाहेंगे। इसी सर्वेक्षण में पता चलता है कि खेती में करीब 11 करोड़ भूमि के स्वामी किसान हैं जबकि 10 करोड़ खेतिहर मजदूर। 11 करोड़ स्वामी किसानों की 60 प्रतिशत आबादी के जीविकोपार्जन का मुख्य स्रोत खेती नहीं बल्कि उजरती श्रम है। ऐसे में ग्रामीण आबादी के 22 करोड़ कृषि में लगे लोगों में से करीब 16 करोड़ लोग पहले ही सर्वहारा अथवा अर्द्धसर्वहारा की स्थिति में पहुँच चुके हैं। अमित बसोले और दीपांकर बसु का अध्ययन (http://sanhati.com/wp-content/uploads/2009/05/india_surplus_may_11.pdf) दिखलाता है कि छोटे किसानों को बचाने या छोटी जोत की खेती को बचाने का प्रयास करने की पूँजीवाद के दायरे के भीतर भी कोई प्रासंगिकता नहीं है; **यह मध्यवर्ती माँग भी नहीं बनती है क्योंकि यह किसानों को लेनिन के शब्दों में ‘आत्म-शोषण’ के भयंकर कुचक्र में धकेलने के समान होगा।** अगर आँकड़ों के आधार कहें तो अगर आज पुनर्वितरण वाले भूमि सुधार किये जायें तो हरेक किसान के हिस्से 1.25 हेक्टेयर भूमि आयेगी, जो कि ऋतई अपर्याप्त है। ऐसे में, इस प्रकार के सुधारों की माँग मध्यवर्ती माँग के तौर पर भी अपनी प्रासंगिकता खो चुकी है। और जहाँ तक खेती में छोटे खेतों के अधिग्रहण से पैदा होने वाले नये कृषि या गैर-कृषि उपक्रमों में स्थायी हिस्सेदारी का प्रस्ताव है, तो यह हास्यास्पद होने की हद तक अव्यावहारिक भी है और राजनीतिक तौर पर प्रतिगामी भी। **कोई भी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ऐसी माँग की वकालत क्यों करेगा?** आज तो इतिहास ने इस बात के लिए और भी ज्यादा मुफ़ीद हालात मुहैया कराये हैं कि छोटे और निम्न मध्यम किसानों के उजड़ने पर समाजवादी कृषि कार्यक्रम का एक नये रूप में प्रचार किया जा सके। ऐसे में, हम उजड़ने वाले किसानों को वापस छोटे मालिक या छोटे हिस्सेदार के तौर पर ग़रीबी और बदहाली के कुचक्र में धकेलने की वकालत क्यों करें? जब पूरा तन्दूर ही हमारा है तो फिर सिर्फ़ नान क्यों माँगें?

और ये सारी सलाहें या सबक हमें यथार्थवाद, व्यावहारिकता और गैर-कठमुल्लावादी रुख रखने के बहाने से दिया जाता है। यह व्यावहारिकता नहीं बल्कि व्यवहारवादी समझौतापरस्ती और प्रतिगामिता है। संसदीय वामपन्थियों की

मूर्खता और “कठमुल्लावाद” पर लेखक बेतरह नाराज है। उसके अनुसार संसदीय वामपन्थियों ने यूपीए-एक सरकार से अपने उस राष्ट्रवादी कीड़े के कारण परमाणु करार के मुद्दे पर रिश्ता तोड़ लिया जो कि अन्त में मोदी के नेतृत्व में फ़ासीवादी उभार का एक कारक बना, जो कि औपनिवेशिक साम्राज्यवाद के दौर में उसके भीतर घुस गया था! यह भी चमत्कृत कर देने वाला विश्लेषण है। हम यहाँ संसदीय वामपन्थियों की इस कथित भूल की तो विस्तार में चर्चा नहीं कर सकते हैं, लेकिन इतना स्पष्ट है कि नन्दीग्राम, सिंगूर और लालगढ़ में अपने असली सामाजिक फ़ासीवादी रवैये को प्रदर्शित करने वाले संसदीय वाम के विषय में लेखक का विभ्रम बीमारी की हद तक है। वह तृणमूल कांग्रेस के लम्पटों और माकपा के लम्पटों में माकपा के लम्पटों को बेहतर मानता है! इसके विश्लेषण में औपनिवेशिक दौर में पैदा हुए राष्ट्रवाद को बेवजह ही घुसा दिया गया है। माकपा और भाकपा केवल उन्हीं अर्थों में “राष्ट्रवादी” कहे जा सकते हैं जिनके अनुसार वे देशी छोटी पूँजी की नुमाइन्दगी करते हैं, हालाँकि अब ये काम भी वे बहुत मन से नहीं करते हैं। **सिंगूर की घटनाओं के बाद माकपा ने अपने बचाव में जो कुछ लिखा उसका सार ये था कि बड़ी पूँजी ऐतिहासिक तौर पर ज़्यादा प्रगतिशील है और टटपुँजिया पूँजीवाद और खेती के क्षेत्र में छोटी किसानों की हिफ़ाज़त ऐतिहासिक तौर पर प्रतिगामी है! हालाँकि इससे उन्होंने ये नतीजा निकाला कि इस छोटी किसानों को उजाड़ने के लिए माकपा को ही सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए!** बहरहाल, चूँकि रवि सिन्हा के लिए वामपन्थ एक ‘जेनेरिक’ श्रेणी है और वह उस “पागलपन भरी परिधि” में नहीं जाना चाहते हैं जो कि संशोधनवाद, सामाजिक जनवाद आदि जैसे पुराने पड़े शब्दों को इस्तेमाल करती है (!) इसलिए इस बाबत हमें उनकी अवस्थिति के विषय में और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं महसूस होती।

रवि सिन्हा के अनुसार भारतीय वामपन्थियों की दो समस्याएँ हैं। एक है कठमुल्लावाद जिसके कारण वे भविष्य के समाजवाद की एक व्यावहारिक रूपरेखा या एक व्यापक कार्यक्रम जनता के सामने नहीं पेश कर पाते हैं। इसका कारण यह है कि तमाम नये समाजवादी सिद्धान्तकारों का तथाकथित ‘इक्कसवीं सदी का समाजवाद’ और ‘भावी समाजवाद’ बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों की स्मृतियों का बन्दी बना हुआ है और उससे आगे नहीं देख पा रहा है। इसका कारण यह है कि इन वामपन्थियों के लिए बीसवीं सदी का समाजवाद एक प्रामाणिक (canonical) मॉडल बना हुआ है। **जहाँ तक हम जानते हैं समाजवाद के तमाम नये सिद्धान्तकारों को यहाँ बेकार में ही घसीट दिया गया है।** इसका कारण यह है कि चाहे इस्तेवान

मेस्ज़ारोस हों, माइकल लेबोवित्ज़ हों या फिर मार्ता आनेकर जैसे बुद्धिजीवी हों, वे बीसवीं सदी के समाजवादी मॉडल के प्रति एक 'रिजेक्शनिस्ट' रूख रखते हैं और कम-से-कम उनके बारे में यह कहना कि वे बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों की स्मृतियों के बन्दी बने हुए हैं, हास्यास्पद हैं। बल्कि यह कहा जा सकता है कि वे भयंकर स्मृति-लोप का शिकार हैं। सोवियत समाजवादी प्रयोगों की उनकी समझदारी और जानकारी के बारे में जितना कम कहा जाये उतना अच्छा है। मिसाल के तौर पर, इस्तेवान मेस्ज़ारोस अपनी एक हालिया रचना में लिखते हैं कि स्तालिन ने ट्रेड यूनियनों को राज्य के अधीन लाने के लिए उन्हें 'कन्वेयर बेल्ट', 'ट्रांसमिशन बेल्ट' आदि की संज्ञा दी थी! कोई भी सोवियत इतिहास का जानकार जानता है कि लेनिन ने ये शब्द इस्तेमाल किये थे और वह भी केवल ट्रेड यूनियनों के लिए नहीं बल्कि बल्कि सर्वहारा अधिनायकत्व की पूरी मशीनरी के लिए जिसके लिए उन्होंने 'कॉग व्हील्स' और 'कन्वेयर बेल्ट' या 'ट्रांसमिशन बेल्ट' के रूपक का प्रयोग किया था। दूसरी बात यह कि उन्होंने ऐसा ठीक इसलिए किया था क्योंकि वह त्रत्स्की द्वारा ट्रेड यूनियनों के राजकीयकरण के खिलाफ़ थे! लेकिन मेस्ज़ारोस यहाँ सारे ऐतिहासिक विवरणों को गड्ड-मड्ड कर अजीब खिचड़ी पका देते हैं। ऐसे ही उदाहरण हम लेबोवित्ज़ और आनेकर की रचनाओं से भी दे सकते हैं, जिसके लिए हमारे पास यहाँ स्थान नहीं है। लेकिन एक बात तय है – “भावी समाजवाद” और “इक्कसवीं सदी के समाजवाद” के इन सिद्धान्तकारों के लिए बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोग न केवल कोई मॉडल नहीं हैं, बल्कि उनके अनुसार इन मॉडलों में सीखने के लिए ज्यादा कुछ नहीं है। इसके अलावा, अगर बेदियू, जिज़ेक आदि की बात करें तो वे तो रवि सिन्हा से भी आगे बढ़कर बीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों को आपदा (disaster) मानते हैं, लिहाज़ा, रवि सिन्हा निश्चित तौर पर उनके बारे में तो बात नहीं ही कर रहे हैं। इसलिए रवि सिन्हा यहाँ तथ्यतः ग़लत हैं।

यह ज़रूर है कि भारत में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन में कठमुल्लावाद एक अहम समस्या है; विशेष तौर पर, कार्यक्रम के प्रश्न पर। जिस कठमुल्लावाद की बात रवि सिन्हा कर रहे हैं, उसके बारे में वे कुछ विस्तार से लिखते तो ज़्यादा बेहतर होता। लेकिन एक बात तय है कि इस कठमुल्लावाद को जो भी संघटित करता हो, इसके विकल्प के तौर पर जो धुरीविहीन “मुक्त” चिन्तन वह पेश कर रहे हैं वह न केवल कोई नया व्यावहारिक समाजवादी कार्यक्रम के निर्माण की ओर नहीं ले जा सकता है, बल्कि दरअसल वह पुराने दन्त-नखविहीन सामाजिक-जनवाद, संशोधनवाद, उदार बुर्जुआ व्यवहारवाद और सुधारवाद

का ही एक विचित्र मिश्रण है। इसे बस पाण्डित्यपूर्ण भाषा की नयी बोटल में पेश करने का प्रयास किया गया है।

रवि सिन्हा के अनुसार, भारतीय वामपन्थियों के लिए दूसरी समस्या है लोकरंजकतावाद जिसके कारण वे उदार बुर्जुआ वर्ग जितना भी रैडिकल नहीं हो पाते। वे युग की ऐतिहासिक चेतना और जनता की अस्तित्वमान लोकप्रिय चेतना के बीच के अन्तर को कम करने के लिए उतने साहसिक क़दम भी नहीं उठा पाते जितना कि उदार बुर्जुआ लोग उठा लेते हैं। यहाँ के वामपन्थी 'नॉस्टैल्लिजक' होकर राष्ट्रवाद के दौर को गाँधीवादी समुदायवादी भावना को याद करते हैं जब कम्युनिस्ट पार्टी का किसानों से जैविक रिश्ता बना हुआ था और फिर जनता से रिश्ता टूट जाने पर वामपन्थ की असफलता का दोष डाल देते हैं! यहाँ सारी बातें जानबूझकर गड्डमड्ड कर दी गयी हैं। पहला प्रश्न यह है कि युग की कौन-सी ऐतिहासिक चेतना और कौन-से उदार बुर्जुआ की बात यहाँ की गयी है? लेख के पहले के स्वर और अन्तर्वस्तु से हम बता सकते हैं यहाँ युग की ऐतिहासिक चेतना का रिश्ता भी आधुनिकता से है और उदार बुर्जुआ के रूप में हम इतिहास में अम्बेडकर को देख सकते हैं और आज के दौर में सम्भवतः तीस्ता सेतलवाड़ या मुकुल सिन्हा जैसे लोगों को। **हमारा समझना है कि युग की ऐतिहासिक चेतना आज पूँजीवादी आधुनिकता से आगे निकल चुकी है। और ठीक इसीलिए आज स्पष्ट तौर पर उन उदार बुर्जुआ लोगों और उनकी राजनीति से ज़्यादा की ज़रूरत है जिनकी बात रवि सिन्हा कर रहे हैं।** दूसरा प्रश्न यह है कि आज कौन-से क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट गाँधीवादी समुदायवाद को लेकर 'नॉस्टैल्लिजक' हैं? चूँकि मार्क्सवाद और वामपन्थ की लेखक की परिभाषा अभूतपूर्व रूप से व्यापक है इसलिए हो सकता है कुछ ऐसे लोग हों! लेकिन वामपन्थी लोग किसानों या जनता से कम्युनिस्ट पार्टी के अतीत के जुड़ाव को लेकर 'नॉस्टैल्लिजक' हैं और उसके टूट जाने से दुखी हैं। और उनके इस दुखी होने से लेखक दुखी है! हालाँकि, अगर कोई कम्युनिस्ट जनता से जुड़ाव के टूटने पर अफ़सोसज़दा है, तो इसमें ग़लत क्या है? लेकिन बात यह है कि हमारी जानकारी में कोई क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट केवल इसी को एकमात्र समस्या नहीं मानता है। अगर हमारी जानकारी कम है और ऐसे लोग भी हैं तो हम निश्चित तौर पर रवि सिन्हा की इस बात से सहमत हैं कि केवल जनता से जुड़ाव होना ही सारी समस्याओं का समाधान नहीं है और एक सही विचारधारात्मक और राजनीतिक कार्यदिशा का होना भी उतना ही ज़रूरी है। लेकिन हमें नहीं लगता कि इस दिशा में लेखक द्वारा दिये गये सबकों से कोई लाभ होता है, हानि की सम्भावना ज़रूर है। **साथ ही हमें ऐसा भी**

लगता है कि जिन लोगों के हाशिये पर होने का एक अहम कारण जनता से जुड़ाव नहीं होना भी है, कम-से-कम उन्हें तो इस बारे में अफ़सोसज़दा होना ही चाहिए!

चौथा सबक़ : 'समझदारों को सलाह देना आसान होता है' (सर्बियाई लोकोक्ति)

“मैं हमेशा सिखाता रहता हूँ मैं कब सीखूँगा?”

(बेटोल्ट ब्रेट, 'गैलीलियो')

“वह जो चीज़ों से किनारा करके खड़ा रहता है, उसके साथ यह जोखिम होता है कि वह अपने आपको दूसरों से बेहतर समझने लगे और समाज की अपनी आलोचना का दुरुपयोग अपने निजी हितों के लिए विचारधारा के तौर पर करने लगे।”

(थियोडोर अडोर्नो)

जैसा कि लेखक स्वयं मानते हैं, यह चौथा और आखिरी सबक़ वास्तव में कोई सबक़ नहीं है बल्कि हालिया स्वतःस्फूर्त सामाजिक आन्दोलनों की एक पड़ताल करने का प्रयास है और इस बाबत वामपन्थ के कार्यभारों को सूत्रबद्ध करने की दिशा में एक क़दम है। लेकिन जैसे ही आप इस उम्मीद के साथ आगे बढ़ते हैं कि इन आन्दोलनों का एक विश्लेषण आपके सामने पेश किया जायेगा, तो आपको एक के बाद एक नाउम्मीदियों का सामना करना पड़ता है। स्पष्टतः लेखक ने बेवजह यह चौथा सबक़ अपने लेख में डाल दिया है क्योंकि बेहद संक्षेप में इन आन्दोलनों के इतिहास और वर्तमान का एक बेहद ग़लत विश्लेषण पेश किया गया है। सम्भवतः इस “सबक” को लेख में बस इसलिए डाल दिया गया है कि लेख अपने समय की सही तरीक़े से नुमाइन्दगी कर सके! क्योंकि जो विषय इसमें उठाया गया वह निश्चित रूप से व्यवस्थित आलोचनात्मक चर्चा का हक़दार था।

यहाँ रवि सिन्हा ने हाल में हुए ‘ऑक्युपाई वॉल स्ट्रीट’ जैसे आन्दोलनों की चर्चा करते हुए दावा किया है कि इनमें से कुछ ने आर्थिक और राजनीतिक प्रश्न उठाये तो कुछ ने राजनीतिक प्रश्नों को भी एजेण्डे पर लिया। लेकिन इन सबमें जो बात साझा थी वह यह कि इन आन्दोलनों ने आधुनिकता और आधुनिकता के ज़रिये पहचानी जाने वाली एक पूरी जीवन शैली पर प्रश्न खड़ा किया। ऐसा कैसे हुआ और आधुनिकता

द्वारा प्रोत्साहित जीवन शैली पर इन आन्दोलनों ने किस रूप में प्रश्न खड़ा किया इसे स्पष्ट नहीं किया गया है। शायद इसका कारण यह है कि लेखक इन आन्दोलनों की परिघटना के उत्स को 1960 के दशक के छात्र आन्दोलनों, नारीवादी आन्दोलनों, नस्लवाद-विरोधी और युद्ध-विरोधी आन्दोलनों में देखते हैं, जिसमें निश्चित तौर पर कुछ सच्चाई भी है। इन आन्दोलनों को नव-वामपन्थियों का समर्थन मिला और साथ ही इनके उभार में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति द्वारा प्रोत्साहित आमूलगामिता की भी एक भूमिका थी। लेकिन लेखक के अनुसार इन आन्दोलनों ने ऐसे नये सामाजिक आन्दोलनों के युग की शुरुआत की जो कि कम्युनिस्ट पार्टियों की अगुवाई में चले मजदूर आन्दोलनों और राष्ट्रवादियों और साथ ही वामपन्थियों की अगुवाई में चले उपनिवेशवाद-विरोधी आन्दोलनों से काफ़ी भिन्न थे। बकौल रवि सिन्हा इनमें से कुछ आन्दोलनों को काफ़ी सफलता मिली और उन्होंने मानवता के सामाजिक-राजनीतिक-विचारधारात्मक-सांस्कृतिक भूदृश्य को बदल डाला। कुछ अन्य जिन विशिष्ट मुद्दों पर शुरू हुए थे, उन विशिष्ट मुद्दों के अप्रासंगिक होते हुए विश्व इतिहास के नेपथ्य में चले गये। लेखक के अनुसार, 1960 के दशक के आन्दोलनों और अब समकालीन स्वतःस्फूर्त सामाजिक आन्दोलनों के बूते पर कुछ नववामपन्थी आदि ये दावे कर रहे हैं कि अब पार्टियों द्वारा या उनके नेतृत्व में संगठित आन्दोलनों का युग बीत गया है। अब नये स्वतःस्फूर्त या ढीले-ढाले तौर पर संगठित सामाजिक आन्दोलनों का युग आ चुका है। इस दावे पर रवि सिन्हा सन्देह करते हैं लेकिन इसके खण्डन के लिए कोई तर्क नहीं पेश करते। वह कहते हैं कि ये नये सामाजिक आन्दोलन अब उतने नये नहीं रह गये हैं। गौरतलब है कि इनमें वह वर्ल्ड सोशल फोरम को भी जोड़ते हैं जो कि सामाजिक प्रश्नों तक सीमित रहा, और अरब बसन्त और तहरीर चौक को भी, जिन्होंने अपेक्षाकृत ज्यादा प्रत्यक्ष राजनीतिक प्रश्नों को खड़ा किया। इसके बाद बस वह इतना ही कहते हैं कि पता नहीं ऐसे सामाजिक आन्दोलनों की हिमायत करने वाले लोग कब तक दुनिया को बदलने के कार्यभार में ऐसे सामाजिक आन्दोलनों का कोई विकल्प न होने, वामपन्थियों और वर्ग-आधारित आन्दोलनों की असफलता की ओर इशारा करते रहेंगे?! इसका क्या मतलब है? निश्चित तौर पर वे तब तक ऐसा करते रहेंगे जब तक कि कम्युनिस्टों की ओर से सिद्धान्त और व्यवहार दोनों के ही धरातल पर उन्हें उचित उत्तर नहीं दिया जाता! कम-से-कम ऐसे 'रेटॉरिकल' प्रश्नों को पूछने से तो वे नहीं रुकेंगे! बहरहाल, हम इन नये स्वतःस्फूर्त सामाजिक आन्दोलनों के विषय में रवि सिन्हा की समझदारी पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डालते हैं।

रवि सिन्हा कहते हैं कि इन आन्दोलनों ने, जिसमें वे वर्ल्ड सोशल फोरम, ऑक्युपाई आन्दोलन, अरब बसन्त सभी को शामिल करते हैं, आधुनिकता और आधुनिकता द्वारा प्रेरित जीवन शैली पर प्रश्न खड़ा किया। हमें ऐसा नहीं लगता है और इस दावे के पक्ष में रवि सिन्हा ने कोई दलील पेश करना भी जरूरी नहीं समझा है। पहली बात तो यह है कि जिन आन्दोलनों के नाम रवि सिन्हा ने गिनाये हैं उन्हें एक टोकरी में रखना सम्भव ही नहीं है। दूसरी बात यह कि तमाम बेहद बुनियादी फ़र्कों के साथ अगर हम कोई एक साझा चारित्रिक आभिलाक्षणिकता इन आन्दोलनों में देखना ही चाहते हैं तो निश्चित तौर पर यह इनके द्वारा आधुनिकता और उसकी जीवन शैली पर प्रश्न खड़ा करना तो क़तई नहीं है। अगर कोई एक साझी ख़ासियत है तो वह यह है कि इन सभी आन्दोलनों ने किसी न किसी तौर पर आज के अभूतपूर्व वैश्विक पूँजीवादी संकट के दौर में तमाम देशों में कल्याणकारी राज्यों के पीछे हटने पर, ख़त्म होती सामाजिक और आर्थिक सुरक्षा और बढ़ती अनिश्चितता पर, असमानता और पूँजीवाद के अन्य तोहफ़ों जैसे कि बेघरी, पर्यावरणीय विनाश आदि पर प्रश्न खड़ा किया, चाहे इन आन्दोलनों में कुछ प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ भी क्यों न सक्रिय रही हों। कुछ मामलों में ये आन्दोलन अपने इस विरोध के बारे में सचेत थे और इरादतन इन चीज़ों का विरोध कर रहे थे और अन्य मामलों में वे पूँजीवाद द्वारा लायी जा रही तबाही की रोगात्मक प्रतिक्रिया (pathological reaction) थे। ये आन्दोलन कुछ मामलों कुछ ज़्यादा या कुछ कम, ज़्यादा स्पष्ट या आकारहीन किस्म के हो सकते हैं; लेकिन यह बात उनमें समान थी: इनमें से अधिकांश स्वतःस्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलन थे; और इस रूप में वे आधुनिकता के उन रूपों का विरोध कर रहे थे, जो कि पूँजीवादी व्यवस्था और समाज अपने सबसे पतनशील, मरणासन्न और मानवद्रोही दौर में पैदा कर रहे हैं। लेकिन अपने आप में उनका एजेण्डा आधुनिकता और उसकी जीवन-शैली का विरोध करना नहीं था। वास्तव में, ये आन्दोलन स्वयं आधुनिक आन्दोलन ही थे। ये आन्दोलन भूमण्डलीकरण और नग्न नवउदारवादी नीतियों का विरोध कर रहे थे जो कि आज के ढाँचागत संकट के दौर में जनता के ऊपर कहर बरपा कर रहे थे। निश्चित तौर पर, अमेरिका में ये आन्दोलन 'ऑक्युपाई' आन्दोलन का ही रूप ग्रहण करते और अरब विश्व में ये 'अरब बसन्त' का ही रूप ग्रहण करते; यह भी कहना पुनरुक्तिपूर्ण ही होगा कि 'कमज़ोर कड़ियों' में वैश्विक पूँजीवाद के संकट के फलस्वरूप अगर कोई स्वतःस्फूर्त आन्दोलन भी पैदा होगा तो उसका ज़्यादा राजनीतिक चरित्र होगा और उसमें संगठन

का तत्व भी अपने पश्चिमी समानान्तरों से ज्यादा होगा। इसका स्पष्ट कारण मिस्र समेत अन्य अरब देशों के राजनीतिक अर्थशास्त्र और इतिहास और अमेरिका या पश्चिमी व उत्तरी यूरोप के देशों के राजनीतिक अर्थशास्त्र और इतिहास के फ़र्क में अन्तर्निहित है। इसलिए वैश्विक संकट ने अलग-अलग जगह अलग-अलग प्रकार के स्वतःस्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलनों को जन्म दिया। जो बात साझा थी वह था एक भूमण्डलीकृत पूँजीवादी विश्व का विश्व ऐतिहासिक सन्दर्भ सन्दर्भ यानी कि अब तक का सबसे ढाँचागत आर्थिक संकट और साथ ही इस पूँजीवाद के संकट का बोझ जनता पर डाले जाने के विरोध में जनता के स्वतःस्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलन। लेकिन यही इन आन्दोलनों की कमजोरी भी थी: आज महज़ स्वतःस्फूर्त पूँजीवाद-विरोध पर्याप्त नहीं है। चूँकि इन आन्दोलनों की राजनीति और विचारधारा अस्पष्ट, अपूर्ण और धुंधली थी, इसलिए वे कोई सकारात्मक प्रस्ताव रख ही नहीं सके और पूँजीवादी व्यवस्था का कोई विकल्प नहीं पेश कर पाये। जैसा कि स्लावोय जिज़ेक ने 'ऑक्युपाई' आन्दोलन के बारे में कहा था, यह काफ़ी हद तक कल्याणकारी राज्य के नॉस्टैलिजिया में जी रहा है और उसकी वापसी की माँग कर रहा है, जबकि आज ज़रूरत है पूँजीवादी कल्याणकारी राज्य की माँग से आगे जाकर कम्युनिज़्म की माँग करने की, क्योंकि कल्याणकारी राज्य, वैसे भी, वापस आ ही नहीं सकता है। जिज़ेक से आम तौर पर सहमत न होते हुए भी इस प्रेक्षण से सहमति जतानी होगी। आज पूँजीवाद जिस ढाँचागत संकट से गुज़र रहा है वह 1930 के दशक की महामन्दी से इन मायनों में भिन्न है कि अब कोई वास्तविक 'बूम' का दौर आयेगा ही नहीं। कल्याणकारी राज्य एक अभूतपूर्व तेज़ी के दौर की पैदावार था, जो कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पश्चिमी पूँजीवाद देख रहा था। अमेरिकी 'ऑक्युपाई' आन्दोलन कुछ अर्थों में अमेरिकी स्वर्ण युग के 'हैंगओवर' को ही अभिव्यक्त कर रहा था। जिज़ेक के विश्लेषण के तमाम नुक्तों और कम्युनिज़्म के उनके मॉडल से बुनियादी असहमति रखने के बावजूद उनके इस प्रेक्षण को सही माना जाना चाहिए।

दूसरी ओर अरब बसन्त भी हालाँकि पूँजीवाद-विरोध से आगे नहीं जा सका, लेकिन यह कई मायनों में 'ऑक्युपाई' आन्दोलन से भिन्न था। पहली बात तो यह कि मिस्र के आन्दोलन में मज़दूर आन्दोलन सबसे अहम संघटक अंग था, हालाँकि बाद में यह एक सही और एकीकृत राजनीतिक नेतृत्व के अभाव में टटपुँजिया आमूलगामिता में सहयोजित हो गया। लेकिन टटपुँजिया आमूलगामिता थोड़े समय के लिए पैदा होती और फिर सोती रहती है। जब टटपुँजिया

रूमानी आमूलगामिता घर बैठ गयी, तब भी मिस्र के महल्लम जैसे इलाकों में जबरदस्त मजदूर आन्दोलन जारी रहा और अब भी जारी है। तहरीर चौक से शुरू हुए आन्दोलन ने मिस्र में वे वस्तुगत परिस्थितियाँ निर्मित कर दी थीं जब जनता व्यवस्थागत परिवर्तन के लिए तैयार थी और मिस्र का शासक वर्ग अपने शासन को जारी रखने में सक्षम नहीं था। लेकिन एक सही राजनीतिक विचारधारा और संगठन के अभाव में 'क्रान्ति की घड़ी बीत गयी' और मिस्र की जनता को पहले मुस्लिम ब्रदरहुड और फिर सेना के शासन के प्रतिक्रियावादी दौर को झेलना पड़ रहा है। आने वाले समय में भी मिस्र शान्त नहीं होने वाला है, लेकिन यह भी तय है कि क्रान्तिकारी परिस्थिति को क्रान्ति में तब्दील करने के लिए जिस अभिकर्ता की आवश्यकता है, उसके अनुपस्थित रहते हुए शासन (regime) बदल सकता है लेकिन व्यवस्था (system) नहीं। बहरहाल, हम यहाँ अरब बसन्त और विशेष तौर पर मिस्र के जनान्दोलन की व्याख्या नहीं पेश कर सकते। मूल बात यह है कि रवि सिन्हा बिना कोई विश्लेषण पेश किये इन सभी आन्दोलनों को एक कोष्ठक में रख देते हैं और उन पर आधुनिकता और जीवन शैली का विरोध करने का बेजा आरोप थोप देते हैं, जो कि तथ्यतः भी ग़लत है और राजनीतिक तौर पर भी ग़लत है।

जैसा कि हमने कहा है, इस प्रेक्षण में कुछ सच्चाई है कि आज के नव-वामपन्थी, उत्तर-मार्क्सवादियों, उत्तर-आधुनिकतावादियों के विचारधारात्मक उत्स को 1960 के दशक के आन्दोलनों में तलाशा जा सकता है, जैसा कि हमने कहीं और भी लिखा है ('सोवियत समाजवादी प्रयोग और समाजवादी संक्रमण: इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ', पाँचवी अरविन्द स्मृति संगोष्ठी, इलाहाबाद में पेश आधार-पेपर, arvindtrust.org पर उपलब्ध)। लेकिन ऐसा आज के पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलनों और विशेष तौर पर उनके समकालीन सिद्धान्तकारों के बारे में एक ही अर्थ में कहा जा सकता है: इन सिद्धान्तकारों और कम-से-कम पश्चिमी उन्नत पूँजीवादी देशों में हुए पूँजीवाद-विरोधी स्वतःस्फूर्त आन्दोलनों के विचारधारात्मक उत्स को ही 1960 के दशक के आन्दोलनों में देखा जा सकता है क्योंकि उनका ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सन्दर्भ और पृष्ठभूमि पहले से गुणात्मक रूप से भिन्न है। आज के स्वतःस्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलनों का 1960 के दशक के आन्दोलनों से सीमित अर्थों में कुछ विचारधारात्मक उत्सों को साझा करने से ज़्यादा कोई रिश्ता नहीं है। 1960 के दशक का अन्त कई बातों से पहचाना जा सकता था। पूँजीवाद का 'स्वर्ण युग' समाप्ति की ओर था; सोवियत संघ में समाजवाद के पतन और सामाजिक साम्राज्यवाद के उदय और पूर्वी यूरोप और दुनिया के अन्य हिस्सों

में उसके कुकर्म और अमेरिकी साम्राज्यवाद के साथ उसकी प्रतिस्पर्धा के साथ दुनिया भर में प्रगतिशील राजनीतिक और बौद्धिक हलकों में एक पैथोलॉजिकल प्रतिक्रिया का जन्म, विशेष तौर पर यूरोप में; महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति और माओवाद का यूरोप के बौद्धिक व राजनीतिक दायरों में दोहरा प्रभाव (यानी एक ओर माओवाद के प्रभाव में नयी माओवादी पार्टियों का जन्म और वहीं दूसरी ओर एक छद्म-माओवाद का पैदा होना जो कि अन्त में गैर-पार्टी क्रान्तिवाद, ऑपराइज़मो, काउंसिल कम्युनिज़्म, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद के रास्ते से होता हुआ उत्तर-मार्क्सवाद की विभिन्न प्रजातियों के रूप में परिणत हुआ जो कि आज मार्क्सवाद से ज़्यादा रैडिकल किसी विचारधारा के दावे कर रहे हैं); नागरिक अधिकार और नस्लवाद-विरोधी आन्दोलनों का होना; स्त्रवादी आन्दोलनों और विचारधार की दूसरी लहर (second wave) का आना; वित्तीय पूँजीवाद का द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर दौर में एक गुणात्मक 200 रूप से नये परजीवी दौर में प्रवेश जिसे उत्तर-फोर्डवाद (post-fordism), ऋण-वित्तपोषित 'बूम', वि-विनियमन (deregulation), बाज़ार 'फ्रलेक्ज़िबिलाइज़ेशन' आदि से पहचाना जाता है, जिसमें कि वित्तीय पूँजी अभूतपूर्व रूप से सट्टेबाज़ और अनुत्पादक रूप में सामने आयी; इसके साथ ही उत्तर औद्योगिक सिद्धान्त, उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धान्त और उत्तरआधुनिकतावाद का पैदा होना और कई वामपन्थी बुद्धिजीवियों का इन 'रेटॉरिकल रैडिकैलिटी' वाले सिद्धान्तों में 'कन्वर्ज़न', जो कि सोवियत समाजवाद के पतन के 'पैथोलॉजिकल प्रतिक्रिया' का ही एक अंग था; इनमें और बहुत-सी चारित्रिक आभिलाक्षणिकताएँ जोड़ी जा सकती हैं, जिनसे कि 1960 के दशक को और साथ ही 1970 के दशक को भी पहचाना जा सकता था। उस दौर में जो सामाजिक आन्दोलन पैदा हुए उन पर इन विचारधारों की अमिट छाप थी, जिसमें साम्राज्यवाद-पूँजीवाद के अपराधों पर समूचे प्रबोधन, आधुनिकता, तर्कणा पर थोप दिया गया; मार्क्सवाद को प्रबोधन द्वारा प्रेरित तर्कणा और आधुनिकता के महाख्यान का ही एक अध्याय घोषित किया गया; हर प्रकार की सामान्यता (generality) या सावैभौमता (universality) की अवधारणा को आधुनिकता की दमनकारी पाश्चात्य परियोजना का अंग माना गया और हर तरफ़ खण्डों (fragments) और अन्तर (difference) के जश्न को प्रोत्साहन दिया गया, हालाँकि यह और कुछ नहीं था बल्कि खण्डों और अन्तरों का सार्वभौमीकरण ही था! इस सारी दार्शनिक जुगाली का राजनीतिक निचोड़ यह था: यह सच है कि उदार पूँजीवाद मानवता को तबाही और बरबादी दे रहा है, लेकिन इसका विकल्प पेश करने का दावा करने वाले लोगों ने भी क्या दिया? सर्वसत्तावाद!

इसलिए एक छद्म विकल्पों का समुच्चय पेश किया गया : उदार बुर्जुआ जनवाद, जो कम-से-कम कुछ वैयक्तिक स्वतन्त्रता और अधिकार तो देता है, या फिर सर्वसत्तावाद (जो हर प्रकार की स्वतन्त्रता और अधिकार को कुचलकर रख देता है)! 1990 के दशक की शुरुआत तक यह छद्म विकल्पों का समुच्चय अपने सबसे बुरे रूप में सामने आ चुका था जब फ्रांसिस फुकोयामा ने 'इतिहास के अन्त' का नारा बुलन्द किया। खैर, वह पूँजीवादी विजयवाद (triumphalism) का स्वर्ण युग था। 1990 के दशक का अन्त आते-आते उत्तरआधुनिक उन्मादी चीख-पुकार मिमियाहट में तब्दील हो चुकी थी क्योंकि पूँजीवाद 1997 के एशियाई बाघों के धराशायी होने के साथ एक अल्पजीवी तेजी के दौर के अन्त में आ चुका था, और सोवियत संघ के नकली लाल झण्डे के गिरने को लेकर पैदा हुआ उल्लास भी अब दुहरावपूर्ण और उबाउफ बन चुका था। 2000 के दशक में पूँजीवादी विजयवाद अपनी कब्र में जा चुका था और नंगे पूँजीवादी विजयवाद का ढोल बजाने वाले उत्तरआधुनिकतावादियों की बजाय सामाजिक आन्दोलन वाले, एनजीओपन्थी, उत्तरमाक्सवादी कम्युनिज़्म की बात करने वाले बहेतू (vagabond) दार्शनिक पूँजीवाद-साम्राज्यवाद के लिए ज़्यादा उपयोगी हो गये हैं।

आज तमाम पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलनों के सिद्धान्तकार जैसे नेग्री, हार्ट, बेदियू, हैलोवे, और थोड़ा अलग अर्थों में जिज़ेक (क्योंकि उनको सीधे नेग्री, हार्ट या बेदियू की श्रेणी में रखना विश्लेषण के लिए कई असुविधाएँ पैदा करता है) वास्तव में यह नहीं कह रहे कि पूँजीवाद का कोई विकल्प नहीं है। वे एक नये क्रिस्म के कम्युनिज़्म की बात कर रहे हैं; वास्तव में, वे पूँजीवाद का ही एक नया सैद्धान्तिकीकरण पेश कर रहे हैं, जिसमें पूँजीवाद एक अवैयक्तिक शक्ति (impersonal entity) बन जाता है; उसका विरोध करने वाले भी एक अवैयक्तिक, आकारहीन चीज़ बन जाते हैं, जिसे नेग्री और हार्ट 'मल्टीट्यूड' का नाम देते हैं; और जिस चीज़ के लिए लड़ना और जिसके खिलाफ़ लड़ना है वह भी अवैयक्तिक और अस्पष्ट सी चीज़ बन जाती है! पूँजीवाद की जगह 'एम्पायर' ले लेता है और सर्वहारा वर्ग की जगह 'मल्टीट्यूड' ले लेता है। बेदियू के मुताबिक़ मुक्तिकामी परियोजना के लिए राज्य और पार्टी जैसी अवधारणाएँ अप्रासंगिक हो चुकी हैं। 'सबट्रैक्शन' सिद्धान्त जैसे निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवाद के सिद्धान्त आ रहे हैं जो दावा करते हैं कि आज क्रान्तिकारी परिवर्तन के आन्दोलनों को वैश्विक पूँजी के वर्चस्व के क्षेत्रों से अपने आपको वापस ले लेना चाहिए (withdraw) जिससे कि वैश्विक पूँजी का ढाँचा ढह जायेगा और जन भागीदारी के नये रूपों के ज़रिये राज्यसत्ता का राजनीतिक रूपान्तरण

हो जायेगा; यानी कि क्रान्ति कैसे न करें, इसके सैद्धान्तिकीकरण पेश किये जा रहे हैं। यह वैश्विक पूँजी के वर्चस्व की नयी रणनीति है: 'यह मत कहो कि दूसरी दुनिया सम्भव नहीं है! यह कहो कि बहुत-सी दूसरी दुनियाएँ सम्भव हैं! लेकिन किसी एक को भी बनाने के बारे में भी कुछ मत बताओ! और जो दूसरी दुनिया वाकई मुमकिन है, उसके लिए ज़रूरी बदलाव से अभिकर्ता और अभिकरण को छीन लो! परिवर्तनकामी सामाजिक ताकतों को बताओ कि राज्य और पार्टी और वर्ग की अवधारणाएँ अप्रासंगिक हो चुकी हैं!' आज के स्वतःस्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी जनान्दोलनों को ये नये बहेतू दार्शनिक और विचारक यही बता रहे हैं और निश्चित तौर पर इस तरह के विचारों का उनके बताये बगैर भी इन आन्दोलनों पर अच्छा-खासा प्रभाव है, क्योंकि इन आन्दोलनों के भीतर भी ऐसे गैर-पार्टी क्रान्तिवादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी समूह सक्रिय हैं जो इन विचारों को मानते हैं। वैसे भी हमें भूलना नहीं चाहिए कि नेग्री और ट्रॉण्टी जैसे सिद्धान्तकारों का मूल मज़दूर आन्दोलन में सक्रिय अराजकतावादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी रूझानों में ही था।

इस रूप में हम कह सकते हैं कि आज के स्वतःस्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलनों पर उन विचारधाराओं का असर है जो कि काफ़ी हद तक 1968 के भ्रमित पेरिस में जन्मी थीं। लेकिन आज के आन्दोलन उस दौर के आन्दोलनों की निरन्तरता में नहीं रखे जा सकते और न ही यह माना जा सकता है कि 1960 के दशक के सामाजिक आन्दोलन (चाहे इसका जो भी मतलब होता हो!) आज के इन जनान्दोलनों की परिघटना के लिए मील का पत्थर थे, जैसा कि रवि सिन्हा मानते हैं। ऐतिहासिक आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सन्दर्भ बिल्कुल भिन्न हैं। और विचारधारात्मक तौर पर जो निरन्तरता का तत्व मौजूद है, उसे हम ऊपर चिन्हित कर चुके हैं। वास्तव में, आज जिस प्रकार के गैर-पार्टी क्रान्तिवाद, संगठन-विरोध और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद का प्रयोग नये विचारक व दार्शनिक इन आन्दोलनों से परिवर्तन का अभिकरण (agency) छीनने के लिए कर रहे हैं, रवि सिन्हा उसकी कोई सुसंगत आलोचना नहीं पेश करते। और तो और वह इन सामाजिक आन्दोलनों में वह वर्ल्ड सोशल फोरम को भी शामिल करते हैं; मतलब, उनके लिए 'आक्युपाई', अरब बसन्त और वर्ल्ड सोशल फोरम में कोई बुनियादी विचारधारात्मक-राजनीतिक अन्तर नहीं है और वे उन सभी की राजनीतिक अस्पष्टता, स्वतःस्फूर्ततावाद के लिए आलोचना करते हैं। जहाँ तक वर्ल्ड सोशल फोरम की बात है, तो निश्चित तौर पर हम एक बार फिर कह सकते हैं कि उसकी स्वतःस्फूर्तता के लिए आलोचना करना हिटलर

की वायलिन ख़राब बजाने की आलोचना करने के समान है! और दूसरी बात यह है कि वर्ल्ड सोशल फोरम इतना स्वतःस्फूर्त या अस्पष्ट है भी नहीं क्योंकि यह वास्तव में स्वतःस्फूर्तता और अस्पष्टता को सचेतनता और स्पष्टता की ओर बढ़ने से रोकने के लिए सचेतन तौर पर बनाया गया सांगठनिक रूप है! यह सचेतन तौर पर संगठित स्वतःस्फूर्तता और अस्पष्टता की सांगठनिक अभिव्यक्ति है और इस कार्य के लिए इसे फ्रांस की सरकार से लेकर तमाम साम्राज्यवादी एजेंसियों से वित्त-पोषण प्राप्त होता है। एक साम्राज्यवादी वित्त-पोषित संस्था जो कि जनता के तमाम संघर्षों के सहयोजन के लिए बनायी गयी है, और अरब बसन्त में फ़र्क़ न करना रवि सिन्हा की राजनीतिक दृष्टि के बारे में काफ़ी-कुछ बताता है। बहरहाल, रवि सिन्हा इन तमाम आन्दोलनों की कोई आलोचना पेश करने की बजाय एक जुमलेनुमा सवाल पूछते हैं: कि आखिरी ऐसे आन्दोलन के विचारक कब तक वामपन्थियों की नाकामयाबी पर उंगली उठाते रहेंगे? यह कैसी आलोचना है? **दरअसल, यह करुण और दारुण स्वर भी लेखक के खुद की दार्शनिक, विचारधारात्मक और राजनीतिक अनिर्णय की अवस्था और डगमगाये हुए आत्मविश्वास को ही दिखलाता है।**

अन्तिम पैराग्राफ में रवि सिन्हा वामपन्थ की असफलता का कारण बताते हुए कहते हैं कि इसका कारण यह नहीं है कि उसने उपरोक्त सामाजिक आन्दोलनों का अनुसरण नहीं किया, बल्कि इसका कारण यह है कि उसके पास उपनिवेशवाद, राजतन्त्रवाद, सैन्य तानाशाहियों और सामन्तवाद से लड़ने की कला तो है, लेकिन ये दुश्मन अब बीते ज़माने के दुश्मन बन चुके हैं। आज के ज़माने के दुश्मन यानी कि पूँजीवाद-साम्राज्यवाद से लड़ने की कला उसे विकसित करनी होगी। वैसे तो यह एक हद तक **ओवरस्टेटमेंट** माना जायेगा क्योंकि रूस में हुई समाजवादी क्रान्ति में रूसी कम्युनिस्टों के नेतृत्व में सर्वहारा वर्ग पूँजीवाद से ही लड़ रहा था, हालाँकि वह एक नवजात, अशक्त और पिछड़ा पूँजीवाद था और अर्द्धसामन्ती शक्तियों की बैसाखी पर भी टिका हुआ था; लेकिन इस बात में सत्यांश है आज के दौर के पूँजीवाद से लड़ने की रणनीति और आम रणकौशल को विकसित करना भारत के लिए नहीं बल्कि दुनिया भर के मार्क्सवादियों के एजेण्डे पर सबसे केन्द्रीय प्रश्न है। विशेष तौर पर, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व पूँजीवाद की कार्यपद्धति (modus Operandi) में आये बेहद अहम बदलावों को समझना आज बेहद ज़रूरी है और उसके अनुसार नयी समाजवादी क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल में आने वाली अहम बदलावों को सूत्रबद्ध करना भी बेहद आवश्यक है। **लेकिन इस नवोन्मेष के नाम**

पर अगर मार्क्सवाद-लेनिनवाद के विज्ञान के बुनियादी उसूलों को कोई बिना किसी जायेज़ तार्किक कारण रद्द करने की बात करता है, तो वह घातक है; अगर कोई राज्य और क्रान्ति की बुनियादी लेनिनवादी थीसिस को छोड़ने, क्रान्तिकारी मार्क्सवाद और संशोधनवाद में फ़र्क़ करने, फ़्रासीवाद की एक सही मार्क्सवादी-लेनिनवादी समझदारी को छोड़ने, और यथार्थवाद और ठोस तथ्यों पर नतीजे निकालने के नाम पर सामाजिक-जनवाद, सुधारवाद, समाजशास्त्रीयतावादी प्रत्यक्षवाद, व्यवहारवाद, अनैतिहासिकतावाद और उदार बुर्जुआ सिद्धान्तों की बासी खिचड़ी पेश करता है, तो निश्चित तौर पर ऐसी खिचड़ी की सही जगह इतिहास की कचरा-पेटी ही हो सकती है। रवि सिन्हा का पूरा सैद्धान्तिकीकरण वास्तव में एक ऐसी ही खिचड़ी है, जिसे पाण्डित्यपूर्ण भाषा की चाशनी में डुबाकर परोसा गया है। यह निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवादी बौद्धिक हलकों में काफ़ी प्रभावी और लोकप्रिय सिद्ध होगा क्योंकि उन्हें हमेशा कुछ न करने के बहाने चाहिए होते हैं, या हाशिये पर बने अपने आरामदेह नेह-नीड़ में बने रहने के बहाने चाहिए होते हैं; क्योंकि जैसा कि हमने बिल्कुल शुरू में कहा था कि हाशिये पर रहने के अपने दुख होते हैं तो अपने सुख भी होते हैं; ये सुख उस सुविधा और सुरक्षा-बोध से पैदा होते हैं, जो कि हाशिये पर रहने वाले सम्भ्रान्त बौद्धिक हलकों को नसीब होता है। रवि सिन्हा का लेख 'हाशिये पर खड़े (पड़े) समझदार लोगों के लिए सबक' नहीं बल्कि 'उन समझदार लोगों के लिए सबक हैं जो कि हाशिये पर ही पड़े रहना चाहते हैं'।

जून, 2015



पहले वे कम्युनिस्टों के लिए आये
और मैं कुछ नहीं बोला
क्योंकि मैं कम्युनिस्ट नहीं था
फिर वे ट्रेड यूनियन वालों के लिए आये
और मैं कुछ नहीं बोला
क्योंकि मैं ट्रेड यूनियन में नहीं था
फिर वे यहूदियों के लिए आये
और मैं कुछ नहीं बोला
क्योंकि मैं यहूदी नहीं था
फिर वे मेरे लिए आये
और तब तक कोई नहीं बचा था
जो मेरे लिए बोलता...

- मार्टिन निमोलर



राहुल

फ़ाउण्डेशन

ISBN 978-93-80303-17-8

मूल्य: ₹. 75.00

बेहतर ज़िन्दगी का रास्ता
बेहतर किताबों से होकर जाता है!

जनचेतना



सम्पूर्ण सूचीपत्र
2021

हम हैं सपनों के हस्कारे हम हैं विचारों के डाकिये

आम लोगों के लिए
ज़रूरी हैं वे किताबें
जो उनकी ज़िन्दगी की घुटन
और मुक्ति के स्वप्नों तक
पहुँचाती हैं विचार
जैसे कि बारूद की ढेरी तक
आग की चिंगारी।
घर-घर तक चिंगारी छिटकाने वाला
तेज़ हवा का झोंका बन जाना होगा
ज़िन्दगी और आने वाले दिनों का सच
बतलाने वाली किताबों को
जन-जन तक पहुँचाना होगा।

तीन दशक से भी पहले प्रगतिशील, जनपक्षधर साहित्य को जन-जन तक पहुँचाने की मुहिम की एक छोटी-सी शुरुआत हुई, बड़े मंसूबे के साथ। एक छोटी-सी दुकान और फुटपाथों पर, मुहल्लों में और दफ़्तरों के सामने छोटी-छोटी प्रदर्शनियाँ लगाने वाले तथा साइकिलों पर, ठेलों पर, झोलों में भरकर घर-घर किताबें पहुँचाने वाले समर्पित अवैतनिक वालण्टियरों की टीम – शुरुआत बस यहीं से हुई। आज यह वैचारिक अभियान उत्तर भारत के दर्जनों शहरों और गाँवों तक फैल चुका है। अपने प्रदर्शनी वाहनों के माध्यम से भी जनचेतना कई राज्यों के सुदूर कोनों तक हिन्दी, पंजाबी, मराठी और अंग्रेज़ी साहित्य एवं कला-सामग्री के साथ सपने और विचार लेकर जा रही है, जीवन-संघर्ष-सृजन-प्रगति का नारा लेकर जा रही है।

यह अपने ढंग का एक अनूठा प्रयास है। एक भी वैतनिक स्टाफ़ के बिना, समर्पित वालण्टियरों और विभिन्न सहयोगी जनसंगठनों के कार्यकर्ताओं के बूते पर यह प्रोजेक्ट आगे बढ़ रहा है।

आइए, आप सभी इस मुहिम में हमारे सहयात्री बलिए।

सम्पूर्ण सूचीपत्र



परिकल्पना प्रकाशन

उपन्यास

नवी

1. पहला अध्यापक/चिंगीज़ आइत्मातोव	50.00	17. चरित्रहीन/शरत्चन्द्र	...
2. तरुणाई का तराना/याङ मो	...	18. गृहदाह/शरत्चन्द्र	...
3. तीन टके का उपन्यास/बेटॉल्ट ब्रेष्ट	...	19. शेषप्रश्न/शरत्चन्द्र	...
4. माँ/मक्सिम गोर्की	275.00	20. इन्द्रधनुष/वान्दा वैसील्युस्का	...
5. वे तीन/मक्सिम गोर्की	75.00	21. इकतालीसवाँ/बोरीस लब्रेन्योव	...
6. मेरा बचपन/मक्सिम गोर्की	...	22. दास्तान चलती है (एक नौजवान की डायरी से)/अनातोली कुन्नेत्सोव	70.00
7. जीवन की राहों पर/मक्सिम गोर्की	...	23. वे सदा युवा रहेंगे/ग्रीगोरी बकलानोव	60.00
8. मेरे विश्वविद्यालय/मक्सिम गोर्की	...	24. मुर्दों को क्या लाज-शर्म/ग्रीगोरी बकलानोव	40.00
9. फोमा गोर्देयेव/मक्सिम गोर्की	55.00	25. बख्तरबन्द रेल 14-69/व्सेवोलोद इवानोव	30.00
10. अभागा/मक्सिम गोर्की	40.00	26. अश्वसेना/इसाक बाबेल	40.00
11. बेकरी का मालिक/मक्सिम गोर्की	25.00	27. लाल झण्डे के नीचे/लाओ श	50.00
12. असली इन्सान/बोरिस पोलेवोई	260.00	28. रिक्शावाला/लाओ श	65.00
13. तरुण गार्ड/अलेक्सान्द्र फ़देयेव (दो खण्डों में)	160.00	29. चिरस्मरणीय (प्रसिद्ध कन्नड़ उपन्यास)/निरंजन	55.00
14. गोदान/प्रेमचन्द्र	...		
15. निर्मला/प्रेमचन्द्र	...		
16. पथ के दावेदार/शरत्चन्द्र	...		

- | | | | |
|---|-------|-------------------------------|--------|
| 30. एक तयशुदा मौत (एनजीओ की पृष्ठभूमि पर)/मोहित राय | 70.00 | 31. Mother/Maxim Gorky | 250.00 |
| | | 32. The Song of Youth/Yang Mo | ... |

कहानियाँ

- | | | | |
|---|--------|---|-------|
| 1. श्रेष्ठ सोवियत कहानियाँ
(3 खण्डों का सेट) | 450.00 | 16. वसन्त/सेर्गेई अन्तोनोव | 60.00 |
| 2. वह शख्स जिसने हैडलेबर्ग को भ्रष्ट कर दिया (मार्क ट्वेन की दो कहानियाँ) | 60.00 | 17. वसन्तागम/रओ शि | 50.00 |
| | | 18. सूरज का खज़ाना/मिखाईल प्रीश्विन | 40.00 |
| | | 19. स्नेगोवेलस का होटल/मत्वेई तेवेल्योव | 35.00 |
| | | 20. वसन्त के रेशम के कीड़े/माओ तुन | 50.00 |

मक्सिम गोर्की

नयीं

- | | | | |
|---|--------|--|-------|
| 3. इटली की कहानियाँ | 150.00 | 21. क्रान्ति झंझा की अनुगूँजें
(अक्टूबर क्रान्ति की कहानियाँ) | 75.00 |
| 4. चुनी हुई कहानियाँ (खण्ड 1) | 150.00 | 22. चुनी हुई कहानियाँ/श्याओ हुड | 50.00 |
| 5. चुनी हुई कहानियाँ (खण्ड 2) | 200.00 | 23. समय के पंख/
कोन्स्तान्तीन पाउस्तोव्स्की | ... |
| 6. चुनी हुई कहानियाँ (खण्ड 3) | 150.00 | 24. श्रेष्ठ रूसी कहानियाँ (संकलन) | ... |
| 7. हिम्मत न हारना मेरे बच्चो | 15.00 | 25. अनजान फूल/आन्द्रेई प्लातोनोव | 40.00 |
| 8. कामो : एक जाँबाज़ इन्कलाबी मज़दूर की कहानी | 10.00 | 26. कुत्ते का दिल/मिखाईल बुल्गाकोव | 70.00 |

अन्तोन चेखव

- | | | | |
|-------------------------------------|--------|--|-------|
| 9. चुनी हुई कहानियाँ (खण्ड 1) | 150.00 | 27. दोन की कहानियाँ/
मिखाईल शोलोखोव | 35.00 |
| 10. चुनी हुई कहानियाँ (खण्ड 2) | 150.00 | 28. अब इन्साफ़ होने वाला है
(भारत और पाकिस्तान की प्रगतिशील उर्दू कहानियों का प्रतिनिधि संकलन) (ग्यारह नयीं कहानियों सहित परिवर्द्धित संस्करण)/
स. शकील सिद्दीकी | ... |
| 11. दो अमर कहानियाँ/लू शुन | ... | 29. लाल कुरता/हरिशंकर श्रीवास्तव | ... |
| 12. श्रेष्ठ कहानियाँ/प्रेमचन्द | 80.00 | 30. चम्पा और अन्य कहानियाँ/
मदन मोहन | 35.00 |
| 13. पाँच कहानियाँ/पुरिकन | ... | | |
| 14. तीन कहानियाँ/गोगोल | 30.00 | | |
| 15. तूफ़ान/अलेक्सान्द्र सेराफीमोविच | 60.00 | | |

कविताएँ

नयी	1. कौन देखता है कौन दिखता/लालू 150.00	13. लहू है कि तब भी गाता है/पाश 125.00
नयी	2. अनिश्चय के गहरे धुएँ में/ निर्मला गर्ग 100.00	14. समर तो शेष है... (इष्ट के दौर से आज तक के प्रतिनिधि क्रान्तिकारी समूहगीतों का संकलन) 65.00
	3. जब मैं जड़ों के बीच रहता हूँ/ पाब्लो नेरूदा 60.00	15. पाठान्तर/विष्णु खरे 50.00
	4. आँखें दुनिया की तरफ़ देखती हैं/ लैंगस्टन ह्यूज़ 60.00	16. लालटेन जलाना (चुनी हुई कविताएँ)/ विष्णु खरे 60.00
	5. इकहत्तर कविताएँ और तीस छोटी कहानियाँ - बेटॉल्ट ब्रेष्ट (मूल जर्मन से अनुवाद : मोहन थपलियाल) 130.00 (ब्रेष्ट के दुर्लभ चित्रों और स्केचों से सज्जित)	17. वाचाल दायरों से दूर/मलय 125.00
	6. उम्मीद-ए-सहर की बात सुनो (फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के संस्मरण और चुनिन्दा शायरी, सम्पादक: शकील सिद्दीकी) ...	18. दिन भौंहें चढ़ाता है/मलय 120.00
	7. माओ त्से-तुङ की कविताएँ (राजनीतिक पृष्ठभूमि सहित विस्तृत टिप्पणियाँ एवं अनुवाद : सत्यव्रत) 20.00	19. देखते न देखते/मलय 65.00
	8. मध्यवर्ग का शोकगीत/ हान्स माग्नस एन्त्सेन्सबर्गर 30.00	20. असम्भव की आँच/मलय 100.00
	9. जेल डायरी/हो ची मिन्ह 40.00	21. इच्छा की दूब/मलय 90.00
	10. ओस की बूँदें और लाल गुलाब/ होसे मारिया सिसॉ 25.00	22. देश एक राग है/भगवत रावत ...
	11. इन्तिफ़ादा : फिलस्तीनी कविताएँ/ स. रामकृष्ण पाण्डेय 100.00	23. ईश्वर को मोक्ष/नीलाभ 60.00
	12. लोहू और इस्पात से फूटता गुलाब : फिलस्तीनी कविताएँ (द्विभाषी संकलन) A Rose Breaking Out of Steel and Blood (Palestinian Poems) ...	24. बहनें और अन्य कविताएँ/असद ज़ैदी 50.00
		25. कविता का जीवन/असद ज़ैदी 75.00
		26. सामान की तलाश/असद ज़ैदी 50.00
		27. कोहेकाफ़ पर संगीत-साधना/ शशिप्रकाश 50.00
		28. पतझड़ का स्थापत्य/शशिप्रकाश 75.00
		29. सात भाइयों के बीच चम्पा/ कात्यायनी 120.00
		30. इस पौरुषपूर्ण समय में/कात्यायनी 120.00
		31. जादू नहीं कविता/कात्यायनी 150.00
		32. फुटपाथ पर कुर्सी/कात्यायनी 80.00
		33. राख-अँधेरे की बारिश में/कात्यायनी 15.00
		34. नगर में बर्बर/कविता कृष्णपल्लवी 100.00 (अँधेरे समय की कुछ कविताएँ और कुछ किस्से)

35. यह मुखौटा किसका है/विमल कुमार	50.00	39. तो/शैलेय	75.00
36. यह जो वक्त है/कपिलेश भोज	60.00	40. पानी है तो फूटेगो/ राजेश सकलानी	100.00
37. बहुत नर्म चादर थी जल से बुनी/ नरेश चन्द्रकर	60.00	41. सवालों का कारखाना/सरिता तिवारी (नेपाली कविताएँ)	100.00
38. इस ढलान पर/प्रमोद कुमार	90.00		

नाटक

1. करवट/मक्सिम गोर्की	40.00	5. चेरी की बगिया (दो नाटक)/अ. चेखव	45.00
2. दुश्मन/मक्सिम गोर्की	35.00	6. बलिदान जो व्यर्थ न गया/ व्सेवोलोद विश्नेव्की	30.00
3. तलछट/मक्सिम गोर्की	...	7. क्रेमलिन की घण्टियाँ/ निकोलाई पोगोदिन	30.00
4. तीन बहनें (दो नाटक)/ अन्तोन चेखव	45.00		

संस्मरण

1. लेव तोल्स्तोय : शब्द-चित्र/मक्सिम गोर्की	20.00
---	-------

स्त्री – विमर्श

1. दुर्ग द्वार पर दस्तक (स्त्री प्रश्न पर लेख)/कात्यायनी	130.00
--	--------

ज्वलन्त प्रश्न

1. कुछ जीवन्त कुछ ज्वलन्त/कात्यायनी	90.00
2. षड्यंत्ररत मृतात्माओं के बीच (साम्प्रदायिकता पर लेख)/कात्यायनी	25.00
3. इस रात्रि श्यामला बेला में (लेख और टिप्पणियाँ)/सत्यव्रत	30.00

व्यंग्य

1. कहें मनबहकी खरी-खरी/मनबहकी लाल	25.00
-----------------------------------	-------

नौजवानों के लिए विशेष

1. **जय जीवन!** (लेख, भाषण और पत्र)/निकोलाई ओस्ट्रोव्स्की 50.00

वैचारिकी

1. **माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य/रेमण्ड लोट्टा** 25.00

साहित्य – विमर्श

1. **उपन्यास और जनसमुदाय/रैल्फ़ फॉक्स** 75.00
2. **लेखनकला और रचनाकौशल/गोर्की, फ़ेदिन, मयाकोव्स्की, अ. तोल्सतोय** ...
3. **दर्शन, साहित्य और आलोचना/बेलिंस्की, हर्ज़न, चेर्नोशेव्स्की, दोब्रोल्ड्युबोव** 65.00
4. **सृजन-प्रक्रिया और शिल्प के बारे में/मक्सिम गोर्की** 40.00
5. **मार्क्सवाद और भाषाविज्ञान की समस्याएँ/स्तालिन** 20.00

नयी पीढ़ी के निर्माण के लिए

1. **एक पुस्तक माता-पिता के लिए/अन्तोन मकारेंको** ...
2. **मेरा हृदय बच्चों के लिए/वसीली सुखोम्लीन्स्की** ...

सृजन परिप्रेक्ष्य पुस्तिका शृंखला

1. **एक नये सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन के वैचारिक-सांस्कृतिक कार्यभार कात्यायनी, सत्यम** 25.00

आह्वान पुस्तिका शृंखला

1. **प्रेम, परम्परा और विद्रोह/कात्यायनी** 50.00

—::—



राहुल फाउण्डेशन

नौजवानों के लिए विशेष

- | | | | |
|---|-------|---|-------|
| 1. नौजवानों से दो बातें/
पीटर क्रोपोटकिन | 15.00 | 4. बम का दर्शन और अदालत में
बयान/भगतसिंह | 15.00 |
| 2. क्रान्तिकारी कार्यक्रम का मसविदा/
भगतसिंह | 15.00 | 5. जाति-धर्म के झगड़े छोड़ो, सही
लड़ाई से नाता जोड़ो/भगतसिंह | 15.00 |
| 3. मैं नास्तिक क्यों हूँ और 'ड्रीमलैण्ड'
की भूमिका/भगतसिंह | 15.00 | 6. भगतसिंह ने कहा...(चुने हुए
उद्धरण)/भगतसिंह | 15.00 |

क्रान्तिकारियों के दस्तावेज़

- | | | | |
|--|--------|---------------------------------------|--------|
| 1. भगतसिंह और उनके साथियों के
सम्पूर्ण उपलब्ध दस्तावेज़
स. सत्यम | 350.00 | 2. शहीदेआज़म की जेल नोटबुक
भगतसिंह | 100.00 |
| | | 3. विचारों की सान पर/भगतसिंह | 50.00 |

क्रान्तिकारियों के विचारों और जीवन पर

- | | | | |
|---|--------|--|--------|
| 1. बहरों को सुनाने के लिए
एस. इरफ़ान हबीब | 160.00 | 4. यश की धरोहर/भगवानदास माहौर,
शिव वर्मा, सदाशिवराव मलकापुरकर | 50.00 |
| (भगतसिंह और उनके साथियों की
विचारधारा और कार्यक्रम) | | 5. संस्मृतियाँ/शिव वर्मा | 100.00 |
| 2. क्रान्तिकारी आन्दोलन का वैचारिक
विकास/शिव वर्मा | 25.00 | 6. शहीद सुखदेव : नौधरा से फाँसी तक/
स. डॉ. हरदीप सिंह | 40.00 |
| 3. भगतसिंह और उनके साथियों की
विचारधारा और राजनीति/विपन चन्द्र | 25.00 | | |

महत्त्वपूर्ण और विचारोत्तेजक संकलन

- | | | | |
|---|-------|---|-------|
| 1. उम्मीद एक ज़िन्दा शब्द है
('दायित्वबोध' के महत्त्वपूर्ण
सम्पादकीय लेखों का संकलन) | 75.00 | 2. एनजीओ : एक खतरनाक
साम्राज्यवादी कुचक्र | 80.00 |
| | | 3. डब्ल्यूएसएफ़ : साम्राज्यवाद का
नया ट्रोजन हॉर्स | 50.00 |

ज्वलन्त प्रश्न

- | | | | |
|--|-----|---|--------|
| 1. 'जाति' प्रश्न के समाधान के लिए बुद्ध
काफ़ी नहीं, अम्बेडकर भी काफ़ी नहीं,
मार्क्स ज़रूरी हैं / रंगनायकम्मा | ... | 2. जाति और वर्ग : एक मार्क्सवादी
दृष्टिकोण / रंगनायकम्मा | 100.00 |
|--|-----|---|--------|

दायित्वबोध पुस्तिका शृंखला

- | | | | |
|---|-------|---|-------|
| 1. अनश्वर हैं सर्वहारा संघर्षों
की अग्निशिखाएँ/दीपायन बोस | 30.00 | 3. क्यों माओवाद?/शशिप्रकाश | 20.00 |
| 2. समाजवाद की समस्याएँ, पूँजीवादी
पुनर्स्थापना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक
क्रान्ति/शशिप्रकाश | 30.00 | 4. बर्जुआ वर्ग के ऊपर सर्वतोमुखी
अधिनायकत्व लागू करने के बारे
में/चाड चुन-चियाओ | 5.00 |
| | | 5. भारतीय कृषि में पूँजीवादी
विकास/सुखविन्दर | 35.00 |

आह्वान पुस्तिका शृंखला

- | | | | |
|--|-------|--|--------|
| 1. छात्र-नौजवान नयी शुरुआत
कहाँ से करें? | 20.00 | 4. क्रान्तिकारी छात्र-युवा आन्दोलन | 25.00 |
| 2. आरक्षण : पक्ष, विपक्ष और
तीसरा पक्ष | 20.00 | 5. भ्रष्टाचार और उसके समाधान का सवाल
सोचने के लिए कुछ मुद्दे | 50.00 |
| 3. आतंकवाद के बारे में :
विभ्रम और यथार्थ | 20.00 | 6. मार्क्सवाद-लेनिनवाद और राष्ट्रीय प्रश्न
(एक बहस)/शिवानी, अभिनव | 150.00 |

बिगुल पुस्तिका श्रृंखला

- | | | | |
|--|-------|--|--------|
| 1. कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढाँचा/लेनिन | 20.00 | 11. मजदूर आन्दोलन में नयी शुरुआत के लिए | 20.00 |
| 2. मकड़ा और मक्खी/विल्हेल्म लीब्रेख्ट | 5.00 | 12. मजदूर नायक, क्रान्तिकारी योद्धा | 15.00 |
| 3. ट्रेडयूनियन काम के जनवादी तरीके/सेर्गेई रोस्तोवस्की | ... | 13. चोर, भ्रष्ट और विलासी नेताशाही | ... |
| 4. मई दिवस का इतिहास/अलेक्जैण्डर ट्रैक्टनबर्ग | 10.00 | 14. बोलते आँकड़े, चीखती सच्चाइयाँ | ... |
| 5. पेरिस कम्यून की अमर कहानी | 20.00 | 15. राजधानी के मेहनतकश : एक अध्ययन/अभिनव | 30.00 |
| 6. अक्टूबर क्रान्ति की मशाल | 15.00 | 16. फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?/अभिनव | 120.00 |
| 7. जंगलनामा : एक राजनीतिक समीक्षा/डॉ. दर्शन खेड़ी | 10.00 | 17. नेपाली क्रान्ति : इतिहास, वर्तमान परिस्थिति और आगे के रास्ते से जुड़ी कुछ बातें, कुछ विचार/आलोक रंजन | 55.00 |
| 8. लाभकारी मूल्य, लागत मूल्य, मध्यम किसान और छोटे पैमाने के माल उत्पादन के बारे में मार्क्सवादी दृष्टिकोण : एक बहस | ... | 18. कैसा है यह लोकतंत्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है | 150.00 |
| 9. संशोधनवाद के बारे में | 10.00 | 19. तीन कृषि विधेयक और मजदूर वर्ग का नज़रिया/अभिनव | 40.00 |
| 10. शिकागो के शहीद मजदूर नेताओं की कहानी/हावर्ड फ़ास्ट | 20.00 | | |

मजदूरों का इन्कलाबी मासिक अख़बार



एक प्रति : 5 रुपये

(डाक व्यव सहित)

सम्पादकीय कार्यालय

69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपर मिल रोड

निशातगंज, लखनऊ-226006

फ़ोन : 0522-4108495

ईमेल : bigulakhbar@gmail.com

माक्सवाद

1. धर्म के बारे में/माक्स, एंगेल्स	...	17. साम्राज्यवाद : पूँजीवाद की चरम अवस्था/लेनिन	30.00
2. कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र माक्स-एंगेल्स	50.00	18. राज्य और क्रान्ति/लेनिन	...
3. साहित्य और कला/माक्स-एंगेल्स	150.00	19. सर्वहारा क्रान्ति और गृह काउत्स्की/लेनिन	...
4. फ्रांस में वर्ग-संघर्ष/कार्ल माक्स	40.00	20. दूसरे इण्टरनेशनल का पतन/लेनिन	15.00
5. फ्रांस में गृहयुद्ध/कार्ल माक्स	20.00	21. गाँव के गृहीबों से/लेनिन	50.00
6. लुई बोनापार्ट की अठारहवीं बूमर/कार्ल माक्स	35.00	22. माक्सवाद का विकृत रूप तथा साम्राज्यवादी अर्थवाद/लेनिन	20.00
7. उज़रती श्रम और पूँजी/कार्ल माक्स	15.00	23. कार्ल माक्स और उनकी शिक्षा/लेनिन	...
8. मज़दूरी, दाम और मुनाफ़ा/ कार्ल माक्स	20.00	24. क्या करें?/लेनिन	...
9. गोथा कार्यक्रम की आलोचना/ कार्ल माक्स	40.00	25. "वामपन्थी" कम्युनिज़्म - एक बचकाना मज़/लेनिन	...
10. लुडविग फ़ायरबाख़ और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अन्त/ फ़्रेडरिक एंगेल्स	20.00	26. पार्टी साहित्य और पार्टी संगठन/लेनिन	15.00
11. जर्मनी में क्रान्ति तथा प्रतिक्रान्ति/ फ़्रेडरिक एंगेल्स	30.00	27. जनता के बीच पार्टी का काम/लेनिन	70.00
12. समाजवाद : काल्पनिक तथा वैज्ञानिक/फ़्रेडरिक एंगेल्स	...	28. धर्म के बारे में/लेनिन	...
13. पार्टी कार्य के बारे में/लेनिन	15.00	29. तोल्स्तोय के बारे में/लेनिन	10.00
14. एक क़दम आगे, दो क़दम पीछे/लेनिन	...	30. माक्सवाद की मूल समस्याएँ जी. प्लेखानोव	30.00
15. जनवादी क्रान्ति में सामाजिक-जनवाद के दो रणकौशल/लेनिन	25.00	31. जुझारू भौतिकवाद/प्लेखानोव	35.00
16. समाजवाद और युद्ध/लेनिन	20.00	32. लेनिनवाद के मूल सिद्धान्त/स्तालिन	50.00
		33. सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बोलशेविक) का इतिहास	90.00

34. माओ त्से-तुङ की रचनाएँ : प्रतिनिधि चयन (एक खण्ड में) ...	37. दर्शन विषयक पाँच निबन्ध/ माओ त्से-तुङ 70.00
35. कम्युनिस्ट जीवनशैली और कार्यशैली के बारे में/माओ त्से-तुङ ...	38. कला-साहित्य विषयक एक भाषण और पाँच दस्तावेज़/माओ त्से-तुङ 15.00
36. सोवियत अर्थशास्त्र की आलोचना/ माओ त्से-तुङ ...	39. माओ त्से-तुङ की रचनाओं के उद्धरण 50.00

अन्य मार्क्सवादी साहित्य

नयी

1. दर्शन कोई रहस्य नहीं 50.00 (जब किसानों ने अपने अध्ययन को व्यवहार में उतारा)	7. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद/ डेविड गेस्ट ...
2. राजनीतिक अर्थशास्त्र, मार्क्सवादी अध्ययन पाठ्यक्रम 300.00	8. इतिहास ने जब करवट बदली/ विलियम हिण्टन 25.00
3. खुश्चेव झूठा था/ग़ोवर फ़र 300.00	9. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद/ वी. अदोरात्स्की 50.00
4. राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त (दो खण्डों में) (दि शंघाई टेक्स्टबुक ऑफ़ पोलिटिकल इकोनॉमी) 160.00	10. अक्टूबर क्रान्ति और लेनिन अल्बर्ट रीस विलियम्स 90.00 (महत्त्वपूर्ण नयी सामग्री और अनेक नये दुर्लभ चित्रों से सज्जित परिर्वाद्धित संस्करण)
5. पेरिस कम्यून की शिक्षाएँ (सचित्र) एलेक्ज़ेण्डर ट्रैक्टनबर्ग 10.00	11. सोवियत संघ में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना/मार्टिन निकोलस 50.00
6. कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र/ डी. रियाज़ानोव ... (विस्तृत व्याख्यात्मक टिप्पणियों सहित)	

राहुल साहित्य

1. तुम्हारी क्षय/राहुल सांकृत्यायन 40.00	4. राहुल निबन्धावली/ राहुल सांकृत्यायन 50.00
2. दिमागी गुलामी/राहुल सांकृत्यायन 40.00	5. स्तालिन : एक जीवनी/ राहुल सांकृत्यायन 150.00
3. वैज्ञानिक भौतिकवाद/ राहुल सांकृत्यायन 65.00	

परम्परा का स्मरण

1. चुनी हुई रचनाएँ/ गणेशशांकर विद्यार्थी	100.00	4. लौकिक मार्ग/राधामोहन गोकुलजी	20.00
2. सलाखों के पीछे से/ गणेशशांकर विद्यार्थी	...	5. धर्म का ढकोसला/ राधामोहन गोकुलजी	40.00
3. ईश्वर का बहिष्कार/ राधामोहन गोकुलजी	40.00	6. स्त्रियों की स्वाधीनता राधामोहन गोकुलजी	30.00

जीवनी और संस्मरण

1. कार्ल मार्क्स : जीवन और शिक्षाएँ/ जैल्डा कोट्स	25.00	5. लेनिन कथा/मरीया प्रिलेज़ायेवा	70.00
2. फ्रेडरिक एंगेल्स : जीवन और शिक्षाएँ/जैल्डा कोट्स	80.00	6. लेनिन विषयक कहानियाँ	75.00
3. कार्ल मार्क्स : संस्मरण और लेख	35.00	7. लेनिन के जीवन के चन्द पन्ने/ लीदिया फ़ोतियेवा	...
4. अदम्य बोल्शेविक नेताशा (एक स्त्री मजदूर संगठनकर्ता की संक्षिप्त जीवनी)/ एल. काताशेवा	30.00	8. स्तालिन : एक जीवनी/ राहुल सांकृत्यायन	150.00

विविध

1. फाँसी के तख़्ते से/जूलियस फ़्यूचिक	...
2. पाप और विज्ञान/डायसन कार्टर	100.00
3. सापेक्षकता सिद्धान्त क्या है?/लेव लन्दाऊ, यूरी रूमेर	...

—::—

Rahul Foundation

MARXIST CLASSICS

KARL MARX

1. **A Contribution to the Critique of Political Economy** ...
2. **The Civil War in France** ...
3. **The Eighteenth Brumaire of Louis Bonaparte** 80.00
4. **Critique of the Gotha Programme** 50.00
5. **Preface and Introduction to A Contribution to the Critique of Political Economy** 25.00
6. **The Poverty of Philosophy** 80.00
7. **Wages, Price and Profit** 50.00
8. **Class Struggles in France** 50.00

FREDERICK ENGELS

9. **The Peasant War in Germany** 70.00
10. **Ludwig Feuerbach and the End of Classical German Philosophy** 65.00
11. **On Capital** 80.00
12. **The Origin of the Family, Private Property and the State** 100.00
13. **Socialism: Utopian and Scientific** 60.00
14. **On Marx** 30.00
15. **Principles of Communism** 5.00

MARX and ENGELS

16. **Historical Writings** (Set of 2 Vols.) 700.00
17. **Manifesto of the Communist Party** 50.00
18. **Selected Letters** 75.00

V. I. LENIN

19. **Theory of Agrarian Question** 160.00
20. **The Collapse of the Second International** 25.00
21. **Imperialism, the Highest Stage of Capitalism** 80.00
22. **Materialism and Empirio-Criticism** 150.00
23. **Two Tactics of Social-Democracy in the Democratic Revolution** 55.00
24. **Capitalism and Agriculture** 50.00
25. **A Characterisation of Economic Romanticism** ...
26. **On Marx and Engels** 35.00
27. **“Left-Wing” Communism, An Infantile Disorder** 75.00
28. **Party Work in the Masses** 55.00
29. **The Proletarian Revolution and the Renegade Kautsky** 75.00

30. One Step Forward, Two Steps Back ...	38. On Organisation 15.00
31. The State and Revolution 80.00	39. The Foundations of Leninism 70.00
MARX, ENGELS and LENIN	40. The Essential Stalin ...
32. On the Dictatorship of Proletariat, Questions and Answers 50.00	<i>Major Theoretical Writings 1905–52</i> (Edited and with an Introduction by Bruce Franklin)
33. On the Dictatorship of the Proletariat: Selected Expositions 10.00	LENIN and STALIN
PLEKHANOV	41. On the Party 30.00
34. Fundamental Problems of Marxism ...	MAO TSE-TUNG
J. STALIN	42. Five Essays on Philosophy 80.00
35. Marxism and Problems of Linguistics 25.00	43. A Critique of Soviet Economics 70.00
36. Anarchism or Socialism? 60.00	44. On Literature and Art 80.00
37. Economic Problems of Socialism in the USSR ...	45. Selected Readings from the Works of Mao Tse-tung ...
	46. Quotations from the Writings of Mao Tse-tung ...

OTHER MARXISM

1. Political Economy, Marxist Study Courses (Prepared by the British Communist Party in the 1930s) 375.00	6. Reader's Guide to Marxist Classics/Maurice Cornforth 70.00
2. Fundamentals of Political Economy (The Shanghai Textbook) 150.00	<i>George Thomson</i>
3. Reader in Marxist Philosophy/Howard Selsam & Harry Martel ...	7. From Marx to Mao Tse-tung 120.00
4. Socialism and Ethics/Howard Selsam ...	8. Capitalism and After 100.00
5. What Is Philosophy? (A Marxist Introduction)/Howard Selsam 100.00	9. The Human Essence 80.00
	10. Mao Tse-tung's Immortal Contributions/Bob Avakian ...
	11. A Basic Understanding of the Communist Party (Written during the GPCR in China) 150.00

- | | |
|---|--|
| <p>12. The Lessons of the Paris Commune/Alexander Trachtenberg
(Illustrated) 15.00</p> | <p>13. Subversive Interventions
(An Anthology)
Abhinav Sinha 500.00</p> |
|---|--|

BIOGRAPHIES & REMINISCENCES

- | | |
|--|--|
| <p>1. Reminiscences of Marx and Engels (Collection) ...</p> | <p>3. Joseph Stalin: A Political Biography
by The Marx-Engels-Lenin Institute 80.00</p> |
| <p>2. Karl Marx And Frederick Engels:
An Introduction to their Lives and Work/David Riazanov 150.00</p> | |

PROBLEMS OF SOCIALISM

- | | |
|--|---|
| <p>1. How Capitalism was Restored in the Soviet Union, And What This Means for the World Struggle
Red Papers 7 175.00</p> | <p>3. Nepalese Revolution: History, Present Situation and Some Points, Some Thoughts on the Road Ahead
Alok Ranjan 75.00</p> |
| <p>2. Preface of Class Struggles in the USSR/Charles Bettelheim 30.00</p> | <p>4. Problems of Socialism, Capitalist Restoration and the Great Proletarian Cultural Revolution
Shashi Prakash 40.00</p> |

ON THE CULTURAL REVOLUTION

- | | |
|---|--|
| <p>1. Hundred Day War: The Cultural Revolution At Tsinghua University
William Hinton ...</p> | <p>4. Turning Point in China
William Hinton 50.00</p> |
| <p>2. The Cultural Revolution at Peking University/Victor Nee with Don Layman 30.00</p> | <p>5. Cultural Revolution and Industrial Organization in China
Charles Bettelheim 55.00</p> |
| <p>3. Mao Tse-tung's Last Great Battle
Raymond Lotta 25.00</p> | <p>6. They Made Revolution Within the Revolution / Iris Hunter 50.00</p> |

ON SOCIALIST CONSTRUCTION

1. **Away With All Pests:** An English Surgeon in People's China: 1954–1969
Joshua S. Horn 125.00
2. **Serve The People:** Observations on Medicine in the People's Republic of China / *Victor W. Sidel* and *Ruth Sidel* ...
3. **Philosophy is No Mystery** (Peasants Put Their Study to Work) ...

ON THE CASTE QUESTION

1. **On the Caste Question:
Towards a Marxist Understanding**
Abhinav Sinha 200.00
2. **Caste and Class:
A Marxist Viewpoint** / *Ranganayakamma* 60.00

DAYITVABODH REPRINT SERIES

1. **Immortal are the Flames of Proletarian Struggles** / *Deepayan Bose* 30.00
2. **Problems of Socialism, Capitalist Restoration
and the Great Proletarian Cultural Revolution** / *Shashi Prakash* 40.00
3. **Why Maoism?** / *Shashi Prakash* 25.00

AHWAN REPRINT SERIES

1. **Where Should Students and Youth Make a New Beginning?** 20.00
2. **Reservation: Support, Opposition and Our Position** 20.00
3. **On Terrorism : Illusion and Reality** / *Alok Ranjan* 20.00

“The books that help you most are those which make you think the most. The hardest way of learning is that of easy reading; but a great book that comes from a great thinker is a ship of thought, deep freighted with truth and beauty.”

– Pablo Neruda

BIGUL REPRINT SERIES

1. **Still Ablaze is the Torch of October Revolution** 30.00
2. **Nepalese Revolution History, Present Situation and Some Points, Some Thoughts on the Road Ahead / Alok Ranjan** 75.00

WOMEN QUESTION

1. **The Emancipation of Women / V. I. Lenin** 100.00
2. **Breaking All Tradition's Chains: Revolutionary Communism and Women's Liberation / Mary Lou Greenberg** 50.00

MISCELLANEOUS

1. **Probabilities of the Quantum World / Daniel Danin** ...
2. **An Appeal to the Young / Peter Kropotkin** 20.00

The Anvil

A Journal of Marxist Theory

Editor: Shashi Prakash

Editorial Office

69 A-1, Baba ka Purwa

Paper Mill Road, Nishatgunj, Lucknow 226 006, India

Phone: 9560130890, Email: editor.anvil@gmail.com

Website: <http://anvilmag.in>

FB: [facebook.com/anvilmag](https://www.facebook.com/anvilmag)



अरविन्द स्मृति न्यास के प्रकाशन

PUBLICATIONS FROM ARVIND MEMORIAL TRUST

- | | |
|--|---|
| 1. इक्कीसवीं सदी में भारत का मजदूर आन्दोलन: निरन्तरता और परिवर्तन, दिशा और सम्भावनाएँ, समस्याएँ और चुनौतियाँ (द्वितीय अरविन्द स्मृति संगोष्ठी के आलेख) 40.00 | 1. Working Class Movement in the Twenty-First Century: Continuity and Change, Orientation and Possibilities, Problems and Challenges (Papers presented in the Second Arvind Memorial Seminar) 40.00 |
| 2. भारत में जनवादी अधिकार आन्दोलन: दिशा, समस्याएँ और चुनौतियाँ (तृतीय अरविन्द स्मृति संगोष्ठी के आलेख) 80.00 | 2. Democratic Rights Movement in India: Orientation, Problems and Challenges (Papers presented in the Third Arvind Memorial Seminar) 80.00 |
| 3. जाति प्रश्न और मार्क्सवाद (चतुर्थ अरविन्द स्मृति संगोष्ठी के आलेख) 150.00 | 3. Caste Question and Marxism (Papers presented in the Fourth Arvind Memorial Seminar) 200.00 |

जनचेतना इन पुस्तकों की भी मुख्य वितरक है

- | | |
|--|--|
| 1. बच्चों के लिए अर्थशास्त्र (मार्क्स की 'पूँजी' पर आधारित पाठ)/रंगनायकम्मा 120.00 | |
| 2. घरेलू काम और बाहरी काम/रंगनायकम्मा 40.00 | |
| 3. For the Solution of the 'Caste' Question, Buddha is not enough, Ambedkar is not enough either, Marx is a must/Ranganayakamma 100.00 | |
| 4. Economics for Children [Lessons based on Marx's 'Capital']/Ranganayakamma 150.00 | |
| 5. Household Work and Outside Work 60.00 | |



अनुराग ट्रस्ट

1. बच्चों के लेनिन	35.00	19. मुसीबत का साथी/सेर्गेई मिखाल्कोव	20.00
2. Stories About Lenin	35.00	20. नन्हे आर्थर का सूरज/ हद्यक ग्युलनज़रयान, गेलीना लेबेदेवा	20.00
3. सच से बड़ा सच/रवीन्द्रनाथ ठाकुर	25.00	21. आकाश में मौज-मस्ती/ चिनुआ अचेबे	20.00
4. औज़ारों की कहानियाँ	20.00	22. ज़िन्दगी से प्यार (दो रोमांचक कहानियाँ)/ज़ैक लण्डन	40.00
5. गुड़ की डली /कात्यायनी	20.00	23. एक छोटे लड़के और एक छोटी लड़की की कहानी/मक्सिम गोर्की	20.00
6. फूल कुण्डलाकार क्यों होते हैं/सनी	20.00	24. बहादुर/अमरकान्त	15.00
7. धरती और आकाश/अ. वोल्कोव	...	25. बुनू की परीक्षा (सचित्र रंगीन)/ शस्या हर्ष	...
8. कज़ाकी/प्रेमचन्द	35.00	26. दान्को का जलता हुआ हृदय/ मक्सिम गोर्की	10.00
9. नीला प्याला/अरकादी गैदार	40.00	27. नन्हा राजकुमार/ आतुआन द सैंतेक्ज़ुपेरी	40.00
10. गड़रिये की कहानियाँ/ क्यूम तंगरीकुलीयेव	35.00	28. दादा आर्खिप और ल्योंका/ मक्सिम गोर्की	30.00
11. चींटी और अन्तरिक्ष यात्री/ अ. मित्यायेव	35.00	29. सेमागा कैसे पकड़ा गया/ मक्सिम गोर्की	15.00
12. अन्धविश्वासी शेकी टेल/ सेर्गेई मिखाल्कोव	20.00	30. बाज़ का गीत/मक्सिम गोर्की	15.00
13. चलता-फिरता हैट/ एन. नोसोव, होल्कर पुक्क	20.00	31. वांका/अन्तोन चेख्व	15.00
14. चालाक लोमड़ी (लोककथा)	20.00	32. तोता/रवीन्द्रनाथ टैगोर	15.00
15. दियांका-टॉमचिक	20.00	33. पोस्टमास्टर/रवीन्द्रनाथ टैगोर	...
16. गधा और ऊदबिलाव/मक्सिम गोर्की, सेर्गेई मिखाल्कोव	20.00	34. काबुलीवाला/रवीन्द्रनाथ टैगोर	20.00
17. गुफा मानवों की कहानियाँ/ मेरी मार्स	20.00		
18. हम सूरज को देख सकते हैं/ मिकोला गिल, दायर स्तावकोविच	20.00		

35. अपना-अपना भाग्य/जैनेन्द्र	15.00	59. पराये घोंसले में/फ़योदोर दोस्तोयेव्स्की	20.00
36. दिमाग़ कैसे काम करता है/किशोर	25.00	60. कोहकाफ़ का बन्दी/तोल्सतोय	30.00
37. रामलीला/प्रेमचन्द	15.00	61. मनमानी के मज़े/सेर्गेई मिखाल्कोव	30.00
38. दो बैलों की कथा/प्रेमचन्द	25.00	62. सदानन्द की छोटी दुनिया/ सत्यजीत राय	15.00
39. ईदगाह/प्रेमचन्द	...	63. छत पर फँस गया बिल्ला/ विताउते जिलिन्सकाइते	35.00
40. लॉटरी/प्रेमचन्द	20.00	64. गोलू के कारनामे/रामबाबू	25.00
41. गुल्ली-डण्डा/प्रेमचन्द	...	65. दो साहसिक कहानियाँ/ होल्गर पुक्क	15.00
42. बड़े भाई साहब/प्रेमचन्द	20.00	66. आम ज़िन्दगी की मजेदार कहानियाँ/होल्गर पुक्क	20.00
43. मोटेराम शास्त्री/प्रेमचन्द	...	67. कंगूरे वाले मकान का रहस्यमय मामला/होल्गर पुक्क	20.00
44. हार की जीत/सुदर्शन	...	68. रोज़मर्रे की कहानियाँ/होल्गर पुक्क	20.00
45. इवान/व्लादीमिर बोगोमोलोव	40.00	69. अजीबोग़रीब किस्से/होल्गर पुक्क	...
46. चमकता लाल सितारा/ली शिन-थ्येन	55.00	70. नये ज़माने की परीकथाएँ/ होल्गर पुक्क	25.00
47. उल्टा दरख़्त/कृष्णचन्दर	35.00	71. किस्सा यह कि एक देहाती ने दो अफ़सरों का कैसे पेट भरा/ मिखाइल सलित्कोव-श्चेद्रिन	15.00
48. हरामी/मिखाइल शोलोख़ोव	25.00	72. पश्चदृष्टि-भविष्यदृष्टि (लेख संकलन) / कमला पाण्डेय	30.00
49. दोन किहोते /सर्वान्तेस (नाट्य रूपान्तर - नीलेश रघुवंशी)	...	73. यादों के घेरे में अतीत (संस्मरण) / कमला पाण्डेय	100.00
50. आश्चर्यलोक में एलिस /लुइस कैरोल (नाट्य रूपान्तर - नीलेश रघुवंशी)	30.00	74. हमारे आसपास का अँधेरा (कहानियाँ) / कमला पाण्डेय	60.00
51. झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई/वृन्दावनलाल वर्मा (नाट्य रूपान्तर - नीलेश रघुवंशी)	35.00	75. कालमन्थन (उपन्यास) / कमला पाण्डेय	60.00
52. नन्हे गुदड़ीलाल के साहसिक कारनामे/सुन यओच्युन	...		
53. लाखी/अन्तोन चेख़व	25.00		
54. बेङ्गिन चरागाह/इवान तुर्गेनेव	12.00		
55. हिरनौटा/दमीत्री मामिन सिबिर्याक	25.00		
56. घर की ललक/निकोलाई तेलेशोव	10.00		
57. बस एक याद/लेओनीद अन्द्रेयेव	20.00		
58. मदारी/अलेक्सान्द्र कुप्रिन	35.00		

दो महत्वपूर्ण पत्रिकाएँ दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध और विमर्श का मंच

सम्पादक: कात्यायनी / सत्यम

एक प्रति : 100 रुपये, आजीवन: 5000 रुपये

वार्षिक (4 अंक) : 400 रुपये (100 रु. रजि. बुकपोस्ट व्यय अतिरिक्त)

नान्दीपाठ

मीडिया, संस्कृति और समाज पर केन्द्रित

सम्पादक: कात्यायनी / सत्यम

एक प्रति : 40 रुपये आजीवन: 3000 रुपये

वार्षिक (4 अंक) : 160 रुपये (100 रु. रजि. बुक पोस्ट व्यय अतिरिक्त)

सम्पादकीय कार्यालय :

69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006

फोन: 9936650658, 8853093555

वेबसाइट : <http://dishasandhaan.in> ईमेल: dishasandhaan@gmail.com

वेबसाइट : <http://naandipath.in> ईमेल: naandipath@gmail.com



मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान

सम्पादकीय कार्यालय

बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-110094

ईमेल : ahwan@ahwanmag.com, ahwan.editor@gmail.com

वेबसाइट : ahwanmag.com

फेसबुक : facebook.com/muktikamiahwan

एक प्रति : 20 रुपये • वार्षिक : 160 रुपये (डाकव्यय सहित)

हमारे पास आपको मिलेंगे

- विश्व क्लासिक्स
- स्तरीय प्रगतिशील साहित्य
- भगतसिंह और उनके साथियों का सम्पूर्ण उपलब्ध साहित्य
- मक्सिम गोर्की की पुस्तकों का सबसे बड़ा संग्रह
- भारतीय इतिहास के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण क्रान्तिकारी दस्तावेज़
- मार्क्सवादी साहित्य
- जीवन और समाज की समझ तथा विचारोत्तेजना देने वाला साहित्य
- दिमाग़ की खिड़कियाँ खोलने और कल्पना की उड़ानों को पंख देने वाला बाल-साहित्य
- प्रगतिशील क्रान्तिकारी पत्र-पत्रिकाएँ
- सुन्दर, सुरुचिपूर्ण, प्रेरक पोस्टर और कार्ड
- क्रान्तिकारी गीतों के कैसेट
- साहित्यिक व क्रान्तिकारी उद्धरणों-चित्रों वाली टीशर्ट, कैलेण्डर, बुकमार्क, डायरी आदि...

ऐसा साहित्य जो सपने देखने और भविष्य-निर्माण के लिए प्रेरित करता है!
(हिन्दी, अंग्रेज़ी, पंजाबी और मराठी में)

किताबें नहीं,
हम आने वाले कल के सपने लेकर आये हैं
किताबें नहीं,
हम असली इन्सान की तरह
जीने का संकल्प लेकर आये हैं

परिकल्पना प्रकाशन, राहुल फाउण्डेशन, अनुराग ट्रस्ट, अरविन्द स्मृति न्यास और ऐरण प्रकाशन की पुस्तकों की 'जनचेतना' मुख्य वितरक है। ये प्रकाशन पाँच स्रोतों - सरकार, राजनीतिक पार्टियों, कॉरपोरेट घरानों, बहुराष्ट्रीय निगमों और देशी-विदेशी फण्डिंग एजेंसियों से किसी भी प्रकार का अनुदान या वित्तीय सहायता लिये बिना जनता से जुटाये गये संसाधनों के आधार पर आज के दौर के लिए ज़रूरी व महत्त्वपूर्ण साहित्य बेहद सस्ती दरों पर उपलब्ध कराने के लिए प्रतिबद्ध हैं।

हमसे पुस्तकें मँगाने के लिए इन बातों का ध्यान रखें

- प्रत्येक पत्र तथा आदेश-पत्र पर अपना पूरा नाम-पता (पिनकोड सहित) और फोन नम्बर साफ़-साफ़ लिखें।
- मनीऑर्डर के पीछे सन्देश वाले स्थान पर अपना पूरा नाम-पता (पिनकोड सहित) साफ़-साफ़ ज़रूर लिखें।
- चेक/ड्राफ़्ट 'जनचेतना पुस्तक प्रतिष्ठान समिति' (JANCHETNA PUSTAK PRATISHTHAN SAMITI) के नाम से लखनऊ में देय भेजें। बैंक खाते की जानकारी :
खाता सं. 0762002109003796
पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज, लखनऊ
IFSC: PUNB0076200
- पुस्तकों पर डाक-व्यय तथा रेल या ट्रांसपोर्ट का भाड़ा अलग से देय होगा।
- पुस्तक विक्रेताओं तथा वितरकों द्वारा पुस्तकें मँगाने की शर्तों के लिए हमसे पत्र, ईमेल अथवा फोन से सम्पर्क करें।

जनचेतना पुस्तक प्रतिष्ठान समिति द्वारा संचालित